इकाई क्र. 1 – शिक्षा के सामाजिक आधार

पठन सामग्री क्र.1

निर्देश–सामाजिक विकास (पुराने पाठ्यक्रम 'विकासोन्मुख समाज में शिक्षा' से अध्ययन करें)

पठन सामग्री क्र. 2

राष्ट्रवाद[1]

परिचय

इस अध्याय में हम राष्ट्र और राष्ट्रवाद से संबंधित विचारों की जानकारी हासिल करेंगे और उन पर चर्चा करेंगे। हमारे लिए यहाँ यह समझने का अधिक महत्त्व नहीं है कि राष्ट्रवाद का उदय क्यों हुआ और इससे जुड़े कार्य क्या हैं। बल्कि हमारे लिए राष्ट्रवाद के बारे में सावधानीपूर्वक सोचना और इसके साथ इसमें निहित अधिकारों और आकांक्षाओं की परख करना महत्त्वपूर्ण होगा। इस अध्याय के अध्ययन–मनन से हम–

- ❖ राष्ट्र और राष्ट्रवाद व राष्ट्रीयता की अवधारणाओं को समझना
- ❖ राष्ट्रवाद की शक्ति और सीमाओं को स्वीकार करना और
- ❖ लोकतंत्र एवं राष्ट्रवाद के बीच संबंध सुनिश्चित करने की जरूरत को स्वीकार करने में समर्थ हो सकेंगे।

राष्ट्रवाद का परिचय

राष्ट्रवाद शब्द के प्रति आम समझ क्या है? अगर मोटे तौर पर जनता की राय लें तो हम इस सिलसिले में देशभक्ति, राष्ट्रीय ध्वज, देश के लिए बलिदान जैसी बातें सुनेंगे। दिल्ली में गणतंत्र दिवस की परेड भारतीय राष्ट्रवाद का बेजोड़ प्रतीक है। यह प्रतीक सत्ता और शक्ति के साथ विविधता की भावना को भी प्रदर्शित करता है। कई लोग इस विविधता को भारतीय राष्ट्र से जोड़ते हैं। लेकिन अगर हम गहराई में जाने की कोशिश करें तो पाएँगे कि राष्ट्रवाद की सुस्पष्ट और सर्वमान्य परिभाषा करना आसान नहीं है। इसका यह मतलब नहीं है कि हमें अपना प्रयास छोड़ देना चाहिए। राष्ट्रवाद का अध्ययन करना इसलिए जरूरी है क्योंकि वैश्विक मामलों में यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

पिछली दो शताब्दियों के दौरान राष्ट्रवाद एक ऐसे सम्मोहक राजनीतिक सिद्धांत के रूप में उभरा है जिसने इतिहास रचने में योगदान किया है। इसने उत्कट Vast निष्ठाओं के साथ–साथ गहरे विद्वेषों को भी प्रेरित किया है। इसने जनता को जोड़ा है तो विभाजित भी किया है। इसने अत्याचारी शासन से मुक्ति दिलाने में मदद की तो इसके साथ यह विरोध, कटुता और युद्धों का कारण भी रहा है। साम्राज्यों और राष्ट्रों के ध्वस्त होने का यह भी एक कारण रहा है। राष्ट्रवादी संघर्षों ने राष्ट्रों और साम्राज्यों की सीमाओं के निर्धारण–पुनर्निर्धारण में योगदान किया है। आज भी दुनिया का एक बड़ा भाग विभिन्न राष्ट्र–राज्यों में बँटा हुआ है। हालाँकि राष्ट्रों की सीमाओं के पुनर्संयोजन की प्रक्रिया अभी खत्म नहीं हुई है और मौजूदा राष्ट्रों के अंदर भी अलगाववादी संघर्ष आम बात है।

---

1 राजनैतिक सिद्धांत, अध्याय 7, कक्षा 11 वीं , एन.सी.ईआर.टी., नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित।

राष्ट्रवाद कई चरणों से गुजर चुका है। उदाहरण के लिए, उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोप में इसने कई छोटी–छोटी रियासतों के एकीकरण से वृहत्तर राष्ट्र–राज्यों की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया। आज के जर्मनी और इटली का गठन एकीकरण और सुदृढ़ीकरण की इसी प्रक्रिया के जरिए हुआ था। लातिनी अमेरिका में बड़ी संख्या में नए राज्य भी स्थापित किए गए थे। राज्य की सीमाओं के सुदृढ़ीकरण के साथ स्थानीय निष्ठाएँ और बोलियाँ भी उत्तरोत्तर राष्ट्रीय निष्ठाओं एवं सर्वमान्य जनभाषाओं के रूप में विकसित हुईं। नए राष्ट्रों के लोगों ने एक नई राजनीतिक पहचान अर्जित की, जो राष्ट्र–राज्य की सदस्यता पर आधारित थी। पिछली शताब्दी में हमने अपने देश को सुदृढ़ीकरण की ऐसी ही प्रक्रिया से गुजरते देखा है।

लेकिन राष्ट्रवाद बड़े–बड़े साम्राज्यों के पतन में हिस्सेदार भी रहा है। यूरोप में बीसवीं शताब्दी के आरंभ में ऑस्ट्रियाई–हंगेरियाई और रूसी साम्राज्य तथा इनके साथ एशिया और अफ्रीका में ब्रिटिश, फ्रांसीसी, डच और पुर्तगाली साम्राज्य के विघटन के मूल में राष्ट्रवाद ही था। भारत तथा अन्य पूर्व उपनिवेशों के औपनिवेशिक शासन से स्वतंत्र होने के संघर्ष भी राष्ट्रवादी संघर्ष थे। ये संघर्ष विदेशी नियंत्रण से स्वतंत्र राष्ट्र–राज्य स्थापित करने की आकांक्षा से प्रेरित थे।

राष्ट्रों की सीमाओं के पुनर्निर्धारण की प्रक्रिया अभी जारी है। 1960 के दशक से ही, सीधे तौर पर सुस्थिर राष्ट्र–राज्य भी कुछ समूह या अंचलों द्वारा उठाई गई राष्ट्रवादी माँगों का सामना करते रहे हैं। इन माँगों में पृथक राज्य की माँग भी शामिल है। आज दुनिया के अनेक भागों में हम ऐसे राष्ट्रवादी संघर्षों को देख सकते हैं जो मौजूदा राष्ट्रों के अस्तित्व के लिए खतरे पैदा कर रहे हैं। ऐसे पृथकतावादी आंदोलन अन्य जगहों के साथ–साथ कनाडा के क्यूबेकवासियों, उत्तरी स्पेन के बास्कवासियों, तुर्की और इराक के कुर्दों तथा श्रीलंका के तमिलों द्वारा भी चलाए जा रहे हैं। भारत के कुछ समूह भी राष्ट्रवाद की भाषा बोलते हैं। आज अरबी राष्ट्रवाद में तमाम अरबी देशों को एक अखिल अरब संघ एकताबद्ध करने की उम्मीद पाल सकता है। लेकिन बास्क या कुर्द जैसे पृथकतावादी आंदोलन तो मौजूदा राज्यों के विखंडन के लिए ही संघर्षरत हैं।

हमारे बीच इस सवाल पर सहमति हो सकती है कि दुनिया में राष्ट्रवाद आज भी प्रभावी शक्ति है। लेकिन राष्ट्र या राष्ट्रवाद जैसे शब्दों की परिभाषा के संबंध में किसी सहमति पर पहुँचना बहुत कठिन है। आखिर राष्ट्र क्या है? लोग राष्ट्रों का निर्माण क्यों करते हैं और राष्ट्र क्या करने की तीव्र इच्छा जगाते हैं? लोग अपने राष्ट्र की खातिर त्याग करने और प्राण तक न्यौछावर करने के लिए क्यों तैयार रहते हैं? देशभक्ति के दावे राज्यत्व (राजकीय शक्ति) के दावों से क्यों और कैसे जुड़ जाते हैं? क्या राष्ट्रों को पृथक रहने या राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का अधिकार प्राप्त है? क्या पृथक राज्यत्व को स्वीकार किए बगैर राष्ट्रवाद के दावे को तुष्ट किया जा सकता है? इस अध्याय में हम इनमें से कुछ मुद्दों की पड़ताल करेंगे।

भूमण्डलीकरण के इस दौर में दुनिया सिकुड़ रही है। हम एक विश्वग्राम में रह रहे हैं। राष्ट्र अब अप्रासंगिक हो चले हैं।

ऐसा नहीं है। राष्ट्रवाद अब भी प्रासंगिक है। आप इसे तब देख सकते हो जब भारतीय क्रिकेट टीम बाहर खेलने जाती है या तब जब हम बाहर बसे हुए भारतीयों को बालीवुड की फिल्में देखते हुए पाते हैं।

राष्ट्र और राष्ट्रवाद

राष्ट्र जनता का कोई आकस्मिक समूह नहीं है। लेकिन यह मानव समाज में पाए जाने वाले अन्य समूहों अथवा समुदायों से अलग है। यह परिवार से भी अलग है। परिवार तो प्रत्यक्ष संबंधों पर आधारित होता है जिसका प्रत्येक सदस्य दूसरे सदस्यों के व्यक्तित्व और चरित्र के बारे में व्यक्तिगत जानकारी रखता है। यह जनजातीय, जातीय और अन्य सगोत्रीय समूहों से भी अलग है। इन समूहों में विवाह और वंश परंपरा सदस्यों को आपस में जोड़ती हैं। इसीलिए यदि हम सभी सदस्यों को व्यक्तिगत रूप से नहीं भी जानते हों तो भी जरूरत पड़ने पर हम उन सूत्रों को ढूँढ निकाल सकते हैं जो हमें आपस में जोड़ते हैं। लेकिन राष्ट्र के सदस्य के रूप में हम अपने राष्ट्र के अधिकतर सदस्यों को सीधे तौर पर न कभी जान पाते हैं और न ही उनके साथ वंशानुगत नाता जोड़ने की जरूरत पड़ती है। फिर भी राष्ट्रों का अस्तित्व है, लोग उनमें रहते हैं और उनका आदर करते हैं।

आओ कुछ करके सीखें

अपनी भाषा में देशभक्ति के किसी गीत की खोज करो। इस गीत में राष्ट्र को किस तरह दिखाया गया है। अपनी भाषा में देशभक्ति की किसी फिल्म की खोज करो और उसे देखो। इस फिल्म में देशभक्ति को किस तरह दिखाया गया है और इसकी जटिलताओं को किस तरह हल किया है।

आमतौर से यह माना जाता है कि राष्ट्रों का निर्माण ऐसे समूह द्वारा किया जाता है जो कुल या भाषा अथवा धर्म या फिर जातीयता जैसी कुछेक निश्चित पहचान का सहभागी होता है। लेकिन ऐसे निश्चित विशिष्ट गुण वास्तव में हैं ही नहीं जो सभी राष्ट्रों में समान रूप से मौजूद हों। कई राष्ट्रों की अपनी कोई एक सामान्य भाषा नहीं है। कनाडा का उदाहरण सामने है। कनाडा में अंग्रेजी और फ्रांसीसी भाषाभाषी लोग साथ रहते हैं। भारत में भी अनेक भाषाएँ हैं जो विभिन्न क्षेत्रों में और भिन्न–भिन्न समुदायों द्वारा बोली जाती हैं। बहुत से राष्ट्रों में उनको जोड़ने वाला कोई सामान्य धर्म भी नहीं है। नस्ल या कुल जैसी अन्य विशिष्टताओं के लिए भी यही कहा जा सकता है।

तब वह क्या है, जो राष्ट्र का निर्माण करता है? राष्ट्र बहुत हद तक एक 'काल्पनिक' समुदाय होता है, जो अपने सदस्यों के सामूहिक विश्वास, आकांक्षाओं और कल्पनाओं के सहारे एक सूत्र में बंधा होता है। यह कुछ खास मान्यताओं पर आधारित होता है जिन्हें लोग उस समग्र समुदाय के लिए गढ़ते हैं, जिससे वे अपनी पहचान कायम करते हैं। आइए, हम राष्ट्र के बारे में लोगों की कुछ मान्यताओं को पहचानने और समझने की कोशिश करें।

साझे विश्वास

पहला, राष्ट्र विश्वास के ज़रिए बनता है। राष्ट्र पहाड़, नदी या भवनों की तरह नहीं होते, जिन्हें हम देख सकते हैं और जिनका स्पर्श महसूस कर सकते हैं। वे ऐसी चीजें भी नहीं हैं जिनका लोगों के विश्वासों से स्वतंत्र अस्तित्व हो। किसी समाज के लोगों को राष्ट्र की संज्ञा देना उन के शारीरिक विशेषताओं या आचरण पर टिप्पणी करना नहीं है। यह समूह के भविष्य के लिए सामूहिक पहचान और दृष्टि का प्रमाण है, जो स्वतंत्र राजनीतिक अस्तित्व का आकांक्षी है। इस मायने में राष्ट्र की तुलना किसी टीम से की जा सकती है। जब हम टीम की बात करते हैं तो हमारा मतलब लोगों के ऐसे समूह से है, जो एक साथ काम करते या खेलते हों और इससे भी ज्यादा जरूरी है कि वे स्वयं को एकीकृत

समूह मानते हों। अगर वे अपने बारे में इस तरह नहीं सोचते तो एक टीम की उनकी हैसियत जाती रहेगी और वे खेल खेलने या काम करने वाले महज अलग–अलग व्यक्ति रह जाएँगे। एक राष्ट्र का अस्तित्व तभी कायम रहता है जब उसके सदस्यों को यह विश्वास हो कि वे एक–दूसरे के साथ हैं।

इतिहास

दूसरा, जो लोग अपने को एक राष्ट्र मानते हैं उनके भीतर अपने बारे में बहुधा स्थायी ऐतिहासिक पहचान की भावना होती है। यानी राष्ट्र खुद को इस रूप में देखते हैं जैसे वे बीते अतीत के साथ–साथ आगत भविष्य को समेटे हुए हों। वे देश की स्थायी पहचान का खाका प्रस्तुत करने के लिए साझी स्मृतियों, किवदंतियों और ऐतिहासिक अभिलेखों की रचना के जरिये अपने लिए इतिहासबोध निर्मित करते हैं। इसी प्रकार भारत के राष्ट्रवादियों ने यह दावा करने के लिए कि एक सभ्यता के बतौर भारत

का लंबा और अटूट इतिहास रहा है और यह सभ्यतामूलक निरंतरता और एकता भारतीय राष्ट्र की बुनियाद है, देश की प्राचीन सभ्यता और सांस्कृतिक विरासत तथा अन्य उपलब्धियों का साक्ष्य प्रस्तुत किया। उदाहरणस्वरूप नेहरू ने अपनी किताब 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' में लिखा है– ''हालाँकि बाहरी रूप में लोगों में विविधता और अनगिनत विभिन्नताएँ थीं, लेकिन हर जगह एकात्मकता की वह जबर्दस्त छाप थी जिसने हमें युगों तक साथ जोड़े रखा, चाहे हमें जो भी राजनीतिक भविष्य या दुर्भाग्य झेलना पड़ा हो।''

भूक्षेत्र

तीसरा, बहुत सारे राष्ट्रों की पहचान एक खास भौगोलिक क्षेत्र से जुड़ी हुई है। किसी खास भूक्षेत्र पर लंबे समय तक साथ–साथ रहना और उससे जुड़ी साझे अतीत की यादें लोगों को एक सामूहिक पहचान का बोध देती हैं। ये उन्हें एक होने का अहसास भी देती है। इसीलिए यह आश्चर्यजनक नहीं है कि जो लोग स्वयं को एक राष्ट्र के रूप में देखते हैं एक गृहभूमि की बात करते हैं। ये लोग जिस भूक्षेत्र पर अपना अधिकार जमाते हैं, जिस जगह रहते हैं, उस पर अपना दावा पेश करते हैं और उसे बहुत महत्त्व देते हैं। राष्ट्र अपनी–अपनी गृहभूमि का विभिन्न तरीकों से बखान करते हैं। जैसे, कोई इसे मातृभूमि या पितृभूमि कहता है तो कोई पवित्र भूमि। उदाहरण के लिए, यहूदी लोगों ने अपने इतिहास में ज्यादातर समय दुनिया के विभिन्न हिस्सों में बिखरे–फैले रहने के बावजूद, हमेशा दावा किया कि उनका मूल गृह–स्थल फिलीस्तीन, उनका 'स्वर्ग', है। भारतीय राष्ट्र की पहचान भारतीय उपमहाद्वीप की नदियों, पर्वतों और अंचलों से है। चूँकि एक ही भूक्षेत्र पर एक से अधिक समूह का दावा हो सकता है, लिहाजा गृहभूमि की आकांक्षा दुनिया भर में संघर्ष का एक बड़ा कारण रही है।

साझे राजनीतिक आदर्श

चौथा, हालाँकि अपना भूक्षेत्र और साझी ऐतिहासिक पहचान लोगों में एक होने का बोध पैदा करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं लेकिन भविष्य के बारे में सामूहिक दृष्टिकोण और अपना स्वतंत्र राजनीतिक अस्तित्व बनाने की सामूहिक चाहत ही वह मूल बात है, जो राष्ट्र को बाकी समूहों से अलग करती हैं। राष्ट्र के सदस्यों की इस बारे में एक साझा दृष्टि होती है कि वे किस तरह का राज्य बनाना चाहते हैं। बाकी बातों के अलावा वे लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता और उदारवाद जैसे मूल्यों और सिद्धांतों को स्वीकार करते हैं। असल में ये ही वे शर्तें हैं जिसके आधर पर वे साथ–साथ आना और रहना चाहते हैं। दूसरे शब्दों में यह विचार राष्ट्र के रूप में उनकी राजनीतिक पहचान को बताते हैं।

लोकतंत्र में कुछ राजनीतिक मूल्यों और आदर्शों के लिए साझी प्रतिबद्धता ही किसी राजनीतिक समुदाय या राष्ट्र का सर्वाधिक वांछित आधार होता है। इसके अंतर्गत राजनीतिक समुदाय के सदस्य कुछ दायित्वों से बंधे होते हैं। ये दायित्व सभी लोगों के नागरिकों के रूप में अधिकारों को पहचान लेने से पैदा होते हैं। अगर राष्ट्र के नागरिक अपने सह नागरिकों के प्रति अपनी जिम्मेदारियों को जान और मान लेते हैं तो इससे राष्ट्र मजबूत ही होता है। हम यहाँ तक कह सकते हैं आपसी जिम्मेदारियों के इस परिप्रेक्ष्य को मान लेना राष्ट्र के प्रति वफादारी की सबसे कड़ी परीक्षा है।

साझी राजनीतिक पहचान

बहुत से लोगों का मानना है कि हम जैसा राज्य या समाज बनाना चाहते हैं उसके बारे में साझी राजनीतिक दृष्टि व्यक्तियों को एक राष्ट्र के रूप में बांधने के लिए पर्याप्त नहीं होती। इसके स्थान पर वह एक समान भाषा या जातीय वंश परंपरा जैसी साझी सांस्कृतिक पहचान चाहते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है

कि एक ही भाषा बोलना आपसी संवाद को काफी आसान बना देता है। समान धर्म होने पर बहुत सारे विश्वास और सामाजिक रीति–रिवाज साझे हो जाते हैं। एक जैसे त्यौहार मनाना, एक जैसे मौकों पर छुट्टियाँ चाहना और एक जैसे प्रतीकों को धारण करना लोगों को करीब ला सकता है, लेकिन साथ ही यह उन मूल्यों के लिए खतरा भी उत्पन्न कर सकता है जिन्हें हम लोकतंत्र में महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि दुनिया के सभी बड़े धर्म अंदरूनी तौर से विविधता से भरे हुए हैं। वे अपने समुदाय के अंदर चलने वाले संवाद के कारण ही बने और बढ़े हैं। परिणामस्वरूप धर्म के अंदर बहुत से पंथ बन जाते हैं और धार्मिक ग्रंथों और नियमों की उनकी व्याख्याएँ काफी अलग–अलग होती हैं। अगर हम इन विभिन्नताओं की अवहेलना करें और एक समान धर्म के आधार पर एक पहचान स्थापित कर दें तो आशंका है कि हम बहुत ही वर्चस्ववादी और दमनकारी समाज का निर्माण कर दें। दूसरा कारण यह है कि अधिकतर समाज सांस्कृतिक रूप से विविधता से भरे हैं। एक ही भूक्षेत्र में विभिन्न धर्म और भाषाओं के लोग साथ–साथ रहते हैं। किसी राज्य की सदस्यता की शर्त के रूप में किसी खास धार्मिक या भाषायी पहचान को आरोपित कर देने से कुछ समूह निश्चित रूप से शामिल होने से रह जाएँगे। इससे शामिल नहीं किए गए समूह की धार्मिक स्वतंत्रता बाधित होगी या राष्ट्रीय भाषा नहीं बोलने वाले समूहों की हानि होगी। दोनों स्थितियों में 'समान बर्ताव और सबके लिए स्वतंत्रता' के उस आदर्श में भारी कटौती होगी, जिसे हम लोकतंत्र में अमूल्य मानते हैं। इन्हीं कारणों से यह बेहतर होगा कि राष्ट्र की कल्पना राजनीतिक शब्दावली में की जाए, न कि सांस्कृतिक पदों में। इसका मतलब यह है कि लोकतंत्र में किसी खास धर्म, नस्ल या भाषा से संबद्धता की जगह एक मूल्य समूह के प्रति निष्ठा की जरूरत होती है। इस मूल्य–समूह को देश के संविधान में भी दर्ज किया जा सकता है।

ऊपर कुछ स्थितियों की पहचान की गई है जिनके जरिए राष्ट्र अपनी सामूहिक पहचान को व्यक्त करते हैं। हमने यह भी देखा कि क्यों लोकतांत्रिक राज्य इस पहचान को साझे राजनीतिक आदर्शों के आधार पर गढ़ते हैं। लेकिन एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न अनुत्तरित रह गया है कि आखिर लोग खुद को राष्ट्र के रूप में क्यों निरूपित करते हैं? विभिन्न राष्ट्रों की कुछ आकांक्षाएँ क्या हैं? आगे के दो खंडों में हम इस प्रश्नों पर विचार करने की कोशिश करेंगे।

राष्ट्रीय आत्म–निर्णय

बाकी सामाजिक समूहों से अलग राष्ट्र अपना शासन अपने आप करने और अपने भविष्य को तय करने का अधिकार चाहते हैं। दूसरे शब्दों में वे आत्म–निर्णय का अधिकार माँगते हैं। आत्म–निर्णय के अपने दावे में राष्ट्र अंतर्राष्ट्रीय समुदाय से माँग करता है कि उसके पृथक राजनीतिक इकाई या राज्य के दर्जे को मान्यता और स्वीकार्यता दी जाए। अक्सर ऐसी माँग उन लोगों की ओर से आती है जो एक लंबे समय से किसी निश्चित भू–भाग पर साथ–साथ रहते आए हों और जिनमें साझी पहचान का बोध

हो। कुछ मामलों में आत्म–निर्णय के ऐसे दावे एक स्वतंत्र राज्य बनाने की उस इच्छा से भी जुड़े होते हैं। इन दावों का संबंध किसी समूह की संस्कृति के संरक्षण से होता है।

बास्क में आत्म–निर्णय की माँग

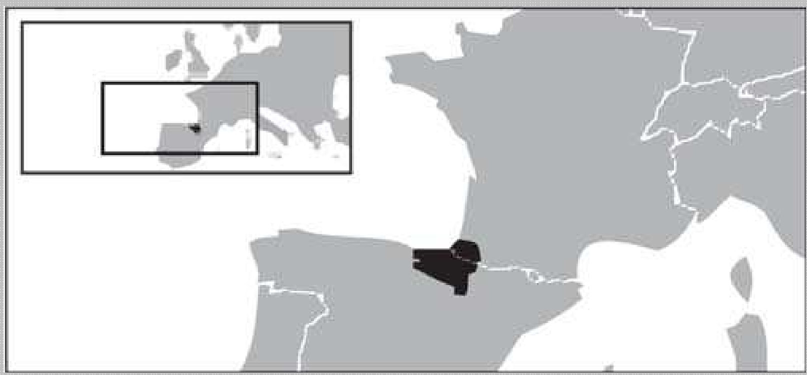

राष्ट्रीय आत्म–निर्णय की माँग दुनिया के विभिन्न भागों में उठ रही है। आइए, ऐसे एक मामले पर नजर डालें। बास्क स्पेन का एक पहाड़ी और समृद्ध क्षेत्र है। इस क्षेत्र को स्पेनी सरकार ने स्पेन राज्यसंघ के अंतर्गत 'स्वायत्त' क्षेत्र का दर्जा दे रखा है, लेकिन बास्क राष्ट्रवादी आंदोलन के नेतागण इस स्वायत्तता से संतुष्ट नहीं हैं। वे चाहते हैं कि बास्क स्पेन से अलग होकर एक स्वतंत्र देश बन जाये। इस आंदोलन के समर्थकों ने अपनी माँग पर जोर डालने के लिए संवैधानिक और हाल तक हिंसक तरीकों का इस्तेमाल किया है।

बास्क राष्ट्रवादियों का कहना है कि उनकी संस्कृति स्पेनी संस्कृति से बहुत भिन्न है। उनकी अपनी भाषा है, जो स्पेनी भाषा से बिल्कुल नहीं मिलती है। हालाँकि आज बास्क के मात्र एक–तिहाई लोग उस भाषा को समझ पाते हैं। बास्क क्षेत्र की पहाड़ी भू–संरचना उसे शेष स्पेन से भौगोलिक तौर पर अलग करती है। रोमन काल से अब तक बास्क क्षेत्र ने स्पेनी शासकों के समक्ष अपनी स्वायत्तता का कभी समर्पण नहीं किया। उसकी न्यायिक, प्रशासनिक एवं वित्तीय प्रणालियाँ उसकी अपनी विशिष्ट व्यवस्था के जरिये संचालित होती थीं। आधुनिक बास्क राष्ट्रवादी आंदोलन की शुरुआत तब हुई जब उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में स्पेनी शासकों ने उसकी विशिष्ट राजनीतिक–प्रशासनिक व्यवस्था को समाप्त करने की कोशिश की। बीसवीं सदी में स्पेनी तानाशाह फ्रैंको ने इस स्वायत्तता में और कटौती कर दी। उसने बास्क भाषा को सार्वजनिक स्थानों, यहाँ तक कि घर में भी बोलने पर पाबंदी लगा दी थी। ये दमनकारी कदम अब वापस लिये जा चुके हैं। लेकिन बास्क आंदोलनकारियों का स्पेनी शासन के प्रति संदेह और क्षेत्र में बाहरी लोगों के प्रवेश का भय बरकरार है। उनके विरोधियों का कहना है कि बास्क अलगाववादी एक ऐसे मुद्दे का राजनीतिक फायदा उठाने की कोशिश कर रहे हैं जिसका समाधान हो चुका है।

क्या आपके विचार में बास्क राष्ट्रवादियों की अलग राष्ट्र की माँग जायज है? क्या बास्क एक राष्ट्र है? इस सवाल का उत्तर देने के पहले आप और किन बातों की जानकारी चाहेंगे?

क्या आप दुनिया के दूसरे भागों के ऐसे उदाहरणों के बारे में विचार कर सकते हैं? क्या आप अपने देश के ऐसे क्षेत्रों और समूहों के बारे में विचार कर सकते हैं जहाँ, इस तरह की माँग की जा रही है?

स्रोतः www.wikipedia.org

दूसरी तरह के बहुत से दावे उन्नीसवीं सदी के यूरोप में सामने आए उस समय 'एक संस्कृति–एक राज्य' की मान्यता ने जोर पकड़ा। परिणामस्वरूप पहले विश्वयुद्ध के बाद राज्यों की पुनर्व्यवस्था में 'एक संस्कृति–एक राज्य' के विचार को आजमाया गया। वर्साय की संधि से बहुत–से छोटे और नव स्वतंत्र राज्यों का गठन हुआ लेकिन उस समय उठायी जा रही आत्म–निर्णय की सभी माँगों को संतुष्ट करना वास्तव में असंभव था। इसके अलावा 'एक संस्कृति–एक राज्य' की माँगों को संतुष्ट करने से राज्यों की सीमाओं में बदलाव हुए। इससे सीमाओं के एक ओर से दूसरी ओर बहुत बड़ी जनसंख्या का विस्थापन हुआ। इसके परिणामस्वरूप लाखों लोग अपने घरों से उजड़ गए और उस जगह से उन्हें बाहर धकेल दिया गया जहाँ पीढ़ियों से उनका घर था। बहुत सारे लोग सांप्रदायिक हिंसा के भी शिकार बने। अलग–अलग सांस्कृतिक समुदायों को अलग–अलग राष्ट्र–राज्य मिले– इसे ध्यान में रखकर सीमाओं को बदला गया। इस कोशिश के कारण मानव जाति को भारी कीमत चुकानी पड़ी। इस प्रयास के बावजूद यह सुनिश्चित करना संभव नहीं हो सका कि नवगठित राज्यों में केवल एक ही नस्ल के लोग रहें। वास्तव में अधिकतर राज्यों की सीमाओं के अंदर एक से अधिक नस्ल और संस्कृति के लोग रहते थे। ये छोटे–छोटे समुदाय राज्य के अंदर अल्पसंख्यक थे और अक्सर नुकसानदेह स्थितियों में रहते थे। इस विकास का सकारात्मक पहलू यह था कि उन बहुत सारे राष्ट्रवादी समूहों को राजनीतिक मान्यता प्रदान की गयी जो स्वयं को एक अलग राष्ट्र के रूप में देखते थे और अपने भविष्य को तय करने तथा अपना शासन स्वयं चलाना चाहते थे। लेकिन राज्यों के भीतर अल्पसंख्यक समुदायों की समस्या ज्यों की त्यों बनी रही।

जब एशिया एवं अफ्रीका औपनिवेशिक प्रभुत्व के खिलाफ संघर्ष कर रहे थे, तब राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों ने राष्ट्रीय आत्म–निर्णय के अधिकार की भी घोषणा की थी। राष्ट्रीय आंदोलनों का मानना था कि राजनीतिक स्वाधीनता राष्ट्रीय समूहों को सम्मान एवं मान्यता प्रदान करेगी और साथ ही वहाँ के लोगों के सामूहिक हितों की रक्षा भी करेगी। अधिकांश राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन राष्ट्र के लिए न्याय, अधिकार और समृद्धि हासिल करने के लक्ष्य से प्रेरित थे। हालाँकि यहाँ भी प्रत्येक सांस्कृतिक समूह जिनमें से कुछ पृथक राष्ट्र होने का दावा करते थे–के लिए राजनीतिक स्वाधीनता तथा राज्यसत्ता सुनिश्चित करना लगभग असंभव साबित हुआ। इस क्षेत्र के अनेक देश आबादी के देशांतरण, सीमाओं पर युद्ध और हिंसा की चपेट में आते रहे। इस प्रकार, हम उन राष्ट्र–राज्यों को विरोधाभासी स्थिति में पाते हैं जिन्होंने संघर्षों की बदौलत स्वाधीनता प्राप्त की, लेकिन अब वे अपने भू–क्षेत्रों में राष्ट्रीय आत्म–निर्णय के अधिकार की माँग करने वाले अल्पसंख्यक समूहों का विरोध कर रहे हैं।

वस्तुतः आज दुनिया की सारी राज्यसत्ताएँ इस दुविधा में फँसी हैं कि आत्म–निर्णय के आंदोलनों से कैसे निपटा जाए और इसने राष्ट्रीय आत्म–निर्णय के अधिकार पर सवाल खड़े कर दिये हैं। बहुत–से लोग यह महसूस करने लगे हैं कि समाधान नए राज्यों के गठन में नहीं वरन् वर्तमान राज्यों को अधिक लोकतांत्रिक और समतामूलक बनाने में है। समाधान यह सुनिश्चित करने में है कि अलग–अलग सांस्कृतिक और नस्लीय पहचानों के लोग देश में समान नागरिक और साथियों की तरह सह–अस्तित्वपूर्वक रह सकें। यह न केवल आत्म–निर्णय के नए दावों के उभार से पैदा होने वाली समस्याओं के समाधान के लिए वरन् मजबूत और एकताबद्ध राज्य बनाने के लिए जरूरी होगा। जो राष्ट्र–राज्य अपने शासन में अल्पसंख्यक समूहों के अधिकारों और सांस्कृतिक पहचान की कद्र नहीं करता उसके लिए अपने सदस्यों की निष्ठा प्राप्त करना मुश्किल होता है।

राष्ट्रवाद और बहुलवाद

'एक संस्कृति–एक राज्य' के विचार को त्यागते ही यह जरूरी हो जाता है कि ऐसे तरीकों के बारे में सोचा जाए जिसमें विभिन्न संस्कृतियाँ और समुदाय एक ही देश में फल–फूल सकें। इस लक्ष्य को पाने के लिए ही अनेक लोकतांत्रिक देशों ने सांस्कृतिक रूप से अल्पसंख्यक समुदायों की पहचान को स्वीकार करने और संरक्षित करने के उपायों को शुरू किया है। भारतीय संविधान में धार्मिक, भाषायी और सांस्कृतिक अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के लिए विस्तृत प्रावधान हैं।

विभिन्न देशों में समूहों को जो अधिकार प्रदान किये गये हैं, उनमें शामिल हैं– अल्पसंख्यक समूहों एवं उनके सदस्यों की भाषा, संस्कृति एवं धर्म के लिए संवैधानिक संरक्षण के अधिकार। कुछ मामलों में इन समूहों को विधायी संस्थाओं और अन्य राजकीय संस्थाओं में प्रतिनिधित्व का अधिकार भी होता है। इन अधिकारों को इस आधार पर न्यायोचित ठहराया जा सकता है कि ये अधिकार इन समूहों के सदस्यों के लिए कानून द्वारा समान व्यवहार एवं सुरक्षा के साथ ही समूह की सांस्कृतिक पहचान के लिए भी सुरक्षा का प्रावधान करते हैं। इसके अलावा, इन समूहों को राष्ट्रीय समुदाय के एक अंग के बतौर भी मान्यता देनी होती है। इसका मतलब यह कि राष्ट्रीय पहचान को समावेशी रीति से परिभाषित करना होगा जो राष्ट्र–राज्य के तमाम सदस्यों की महत्ता और अद्वितीय योगदान को मान्यता दे सके।

हालाँकि यह उम्मीद की जाती है कि समूहों को मान्यता और संरक्षण प्रदान करने से उनकी आकांक्षाएँ संतुष्ट होंगी, फिर भी, हो सकता है कि कुछ समूह पृथक राज्य की माँग पर अडिग रहें। यह विरोधाभासी भी प्रतीत हो सकता है कि जहाँ दुनिया में भूमंडलीकरण का दौर जारी है वहीं राष्ट्रीय आकांक्षाएँ अभी भी बहुत सारे समूह और समुदायों को उद्वेलित कर रही हैं। ऐसी माँगों से लोकतांत्रिक ढंग से निपटने के लिए यह जरूरी है कि संबंधित देश अत्यंत उदारता एवं दक्षता का परिचय दें।

कुल मिलाकर, राष्ट्रीय आत्म–निर्णय के अधिकार को आमतौर पर इस रूप में समझा जाता था कि इसमें राष्ट्रीयताओं के लिए स्वतंत्र राज्य का अधिकार भी सम्मिलित है। लेकिन यह असंभव है कि प्रत्येक राष्ट्रीय समूह को स्वतंत्र राज्य प्रदान किया जाए। साथ ही, यह संभवतः अवांछनीय भी होगा। यह ऐसे राज्यों के गठन की ओर ले जा सकता है जो आर्थिक और राजनीतिक क्षमता की दृष्टि से बेहद छोटे हों और इससे अल्पसंख्यक समूहों की समस्याएँ इस अधिकार की अब यह पुनर्व्याख्या की जाती है – इसका मतलब है राज्य के भीतर किसी राष्ट्रीयता के लिए कुछ लोकतांत्रिक अधिकारों की स्वीकृति। हम ऐसी दुनिया में रह रहे हैं जो समूहों की पहचान को मान्यता देने के महत्त्व के प्रति काफी सचेत है। आज हम ऐसे बहुत से संघर्षों के साक्षी हैं जो समूह की पहचान की मान्यता के लिए चल रहे हैं तथा राष्ट्रवाद की भाषा का इस्तेमाल कर रहे हैं। इस बात की जरूरत है कि हम राष्ट्रीय पहचान के उनके दावों की सत्यता को स्वीकार करें लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि हम राष्ट्रवाद के असहिष्णु और एकजातीय स्वरूपों के साथ कोई सहानुभूति बरतें।

> आओ कुछ
> करके सीखे
>
> भारत और भारत से बाहर आत्म–निर्णय के अधिकार की माँग कर रहे विभिन्न समूहों से संबंधित समाचार पत्र–पत्रिकाओं की कतरनों को इकट्ठा करो। निम्न मामलों पर अपनी राय बनाओ।
>
> - इन माँगों के पीछे या कारण हैं ?
> - इनके संघर्ष की प्रकृति क्या है ?
> - क्या उनकी माँग जायज है ?
> - आप क्या सोचते हैं ? संभव समाधान क्या हो सकता है ?

राष्ट्रवाद पर रवींद्रनाथ ठाकुर की समालोचना

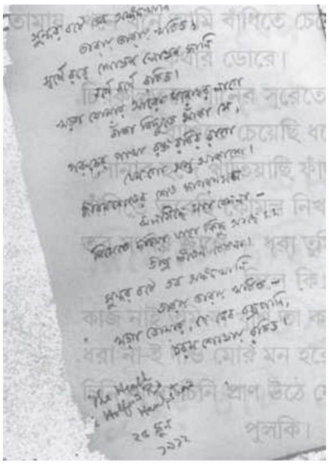

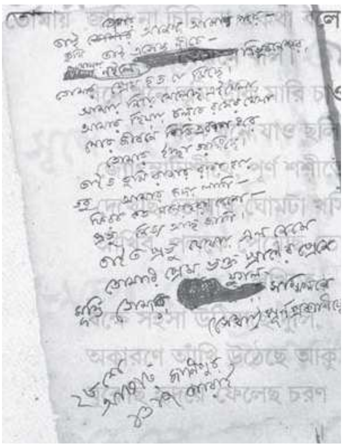

राष्ट्रवाद हमारा अंतिम आध्यात्मिक मंजिल नहीं हो सकता। मेरी शरणस्थली तो मानवता है। मैं हीरों की कीमत पर शीशा नहीं खरीदूँगा और जब तक मैं जीवित हूँ देशभक्ति को मानवता पर कदापि विजयी नहीं होने दूँगा। यह रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा था। वे औपनिवेशिक शासन के विरोधी थे और भारत की स्वाधीनता के अधिकार का दावा करते थे। वे महसूस करते थे कि उपनिवेशों के ब्रितानी प्रशासन में 'मानवीय संबंधों की गरिमा बरकरार रखने की गुंजाइश नहीं है। यह एक ऐसा विचार है जिसे ब्रितानी सभ्यता में भी स्थान मिला है। टैगोर पश्चिमी साम्राज्यवाद का विरोध करने और पश्चिमी सभ्यता को खारिज करने के बीच फर्क करते थे। भारतीयों को अपनी संस्कृति और विरासत में गहरी आस्था होनी ही चाहिए लेकिन उन्हें बाहरी दुनिया से मुक्त भाव से सीखने और लाभान्वित होने का प्रतिरोध नहीं करना चाहिए।

टैगोर जिसे 'देशभक्ति' कहते थे, उसकी समालोचना उनके लेखन का स्थायी विषय था। वे देश के स्वाधीनता आंदोलन में मौजूद संकीर्ण राष्ट्रवाद के कटु आलोचक थे। उन्हें भय था कि तथाकथित भारतीय परंपरा के पक्ष में पश्चिम की खारिज़ी का विचार यहीं तक सीमित रहने वाला नहीं है। यह अपने देश में मौजूद ईसाई, यहूदी, पारसी और इस्लाम समेत तमाम विदेशी प्रभावों के खिलाफ आसानी से आक्रामक भी हो सकता है।

प्रश्नावली

1. राष्ट्र किस प्रकार से बाकी सामूहिक संबद्धताओं से अलग है?
2. राष्ट्रीय आत्म–निर्णय के अधिकार से आप क्या समझते हैं? किस प्रकार यह विचार राष्ट्र–राज्यों के निर्माण और उनको मिल रही चुनौती में परिणत होता है?
3. हम देख चुके हैं कि राष्ट्रवाद लोगों को जोड़ भी सकता है और तोड़ भी सकता है। उन्हें मुक्त कर सकता है और उनमें कटुता और संघर्ष भी पैदा कर सकता है। उदाहरणों के साथ उत्तर दीजिए।
4. वंश, भाषा, धर्म या नस्ल में से कोई भी पूरे विश्व में राष्ट्रवाद के लिए साझा कारण होने का दावा नहीं कर सकता। टिप्पणी कीजिए।
5. राष्ट्रवादी भावनाओं को प्रेरित करने वाले कारकों पर सोदाहरण रोशनी डालिए।
6. संघर्षरत राष्ट्रवादी आकांक्षाओं के साथ बर्ताव करने में तानाशाही की अपेक्षा लोकतंत्र अधिक समर्थ होता है। कैसे ?
7. आपकी राय में राष्ट्रवाद की सीमाएँ क्या हैं?

आधुनिक विश्व और शालेय शिक्षा

शालेय शिक्षा का उद्गम आधुनिक काल में हुआ जिसका उद्देश्य पूरी आबादी को कुछ सामान्य बातों में शिक्षित करना था। पूरी आबादी के लिए एक सामान्य शिक्षा क्यों हो, उसमें क्या सामान्य बातें हों, उसे कौन तय करे, उसे लागू कैसे करे, यह सब विचार व वाद–विवाद के मुद्दे हैं। शालेय शिक्षा के स्वरुप व जरूरत को समझने के लिए हमें पहले आधुनिक समाज, अर्थ व्यवस्था और राजनैतिक व्यवस्थाओं को समझना होगा जिनके संदर्भ में शाला शिक्षण का उद्भव हुआ है।

मोटे तौर पर कहा जाये तो आधुनिक युग के कई लक्षण हैं, और सब लोग अपने–अपने हिसाब से उनकी सूचियां बनाएंगे। यहां हम तीन ऐसे लक्षणों की चर्चा करेंगे, जिसे हम शिक्षा के संदर्भ में महत्वपूर्ण मानते हैं। ये तीन हैं–औद्योगीकरण, राष्ट्रवादी राज्य और लोकतंत्र।

इन तीन शब्दों से आप क्या समझते हैं और वे आधुनिक शाला को कैसे प्रभावित करते होंगे, इस पर विचार करें।

आधुनिक औद्योगीकरण– यह शब्द एक ऐसी उत्पादन प्रणाली की ओर इशारा करता है जिसमें बड़े पैमाने पर एक सी चीजों का उत्पादन होता है– जिसमें बड़ी संख्या में मजदूर दूर–दराज से लाये गये कच्चे माल को कीमती मशीनों की मदद से बड़े–बड़े कारखानों में बनाते हैं। पिछले कुछ दशकों में इस व्यवस्था में भी कुछ परिवर्तन आये हैं जैसे, एक बडे कारखाने में माल का कुछ हिस्सा बनता है तो बाकी हिस्से किसी अन्य जगहों में। ये चीजें दुनिया भर में बिकने जाती हैं। क्या उत्पादन करना है और किस मात्रा में करना है, आदि निर्णय वे लोग लेते हैं जो इन उद्योगों में लाभ कमाने के उद्वेश्य से अपनी पूंजी लगाते हैं। औद्योगीकरण बहुत गहरे रुप से हमारे जीवन यापन पर प्रभाव डालता है।

राष्ट्रवादी राज्य– पुराने समय में राजघरानों के राज्य या साम्राज्य होते थे जो उस राजवंश की ताकत के अनुसार बड़े या छोटे होते थे। इसके विपरीत आधुनिक राज्य एक क्षेत्र के निवासियों (नागरिकों) के साझे उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए बने हैं। राष्ट्र किन्हीं खास पहचानों के आधार पर बनते हैं जैसे साझे विचार, संस्कृति, भाषा या धर्म। ये राष्ट्रवादी राज्य, पुराने राजघरानों के खिलाफ नागरिकों के संघर्ष से (जैसे फ्रांस या इंगलैंड) या फिर दूसरे राज्यों की शासन के खिलाफ संघर्ष से (जैसे अमरीका या भारत) बने हैं। आमतौर पर ये राज्य अपने नागरिकों के बीच कम से कम कुछ मायनों में समरुपता लाने का प्रयास करते हैं ताकि वह राष्ट्र–राज्य स्थिर बना रहे।

लोकतंत्र – इसमें दो महत्वपूर्ण बातें निहित हैं– पहला यह कि राज्य का कामकाज किसी राजा या नेता या सेनापति की मनमर्जी से नहीं चलेगा बल्कि सभी लोगों की इच्छानुसार चलेगा। लोगों की इच्छा क्या है कैसे पता करें– इसके लिए अलग–अलग राज्यों में अलग–अलग व्यवस्थाएँ है। इसके लिए संसदीय चुनाव, मीडिया, संसद आदि में खुले वाद–विवाद आदि व्यवस्थाएं अपने देश में बनाई गई हैं। लोकतंत्र का दूसरा अर्थ है नागरिकों की स्वतंत्रता। एक व्यापक दायरे के अन्दर हर नागरिक स्वतंत्र है–अपना जीवन जीने को, अपना स्वतंत्र मत बनाने व रखने को, अपनी पंसद की चीजें खरीदने को, अपने पसंद के काम

करने को आदि। कोई समूह या शासन उन्हें अपनी इच्छा के विरूद्ध अपने विचार बदलने के लिए मजबूर नहीं कर सकता। इसी स्वतंत्रता और साझे उद्देश्यों की जरूरतों को पूरा करने के लिए सभी नागरिकों से अपेक्षा होती है कि वे सार्वजनिक जीवन में सही जानकारी व समझ के साथ भाग लें– नीतियों को बनाने व उन्हें क्रियान्वयन करने में भाग लें।

आने वाली पीढ़ी की तैयारी कैसे करें इस बात को ये तीनों बातें प्रभावित करती हैं। आधुनिक औद्योगिक उत्पादन प्रणाली एक खास तरह के शिक्षित, कुशल व अनुशासित श्रमिकों की मांग करती है जो बदलते तकनीकों को समझकर अपना सके। ऐसे ग्राहकों की मांग करती है जो नई–नई चीजों को आजमाए और खरीदे। ऐसे निवेशकों की मांग करती है जो सोच समझकर पूंजी निवेश करे। ऐसे वैज्ञानिक, अर्थशास्त्रियों, मैनेजरों आदि के हुजूम की मांग करती है जो लगातार नए आविष्कार करता रहे उत्पादन व विपणन के नए तरीके खोजता रहे।

राष्ट्रवादी राज्यों की भी अपनी जरूरते हैं: सारे नागरिक एक सी भाषा बोलें, एक सी संस्कृति अपनाएं, उनके विचारों में एकात्मकता हो। दरअसल, लगभग सारे राष्ट्रवादी राज्यों ने किसी न किसी प्रकार की सार्वजनिक शिक्षण प्रणाली को स्थापित किया और सार्वभौमिक शिक्षा का प्रयास किया।

लोकतंत्र की मजबूती के लिए जरूरी है कि हर व्यक्ति की व्यक्तिगत रुचि व क्षमताओं का विकास हो, हर व्यक्ति अपने अधिकारों की रक्षा के लिए तैयार रहे और समझ–बूझ के साथ सार्वजनिक जीवन में भाग ले। जाहिर है कि इन तीनों तरह की मांगों के बीच गहरा आपसी संबंध है और कहीं कहीं विरोधाभास भी।

आधुनिक विश्व में कृषि और शिक्षा

पूरे विश्व में खेती के तरीकों व उसपर निर्भर समाजों में भारी विभिन्नता रही है। कहीं पहाड़ी व जंगल के इलाकों में आदिवासी समुदाय अस्थाई कृषि के साथ शिकार व फल–कंद संग्रह करके जीवनयापन करते तो कहीं पहाड़ों व जंगलों में ही बहुत बड़े पैमाने में बागानी खेती होती है जिसमें चाय, रबर जैसी फसलें अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए उगायी जाती हैं या फिर किसान पहाड़ी ढलानों पर सीढ़ीनुमा खेत बनाकर अपने लिए अनाज व चारा उगाते हैं। दूसरी तरफ मैंदानों व पठारों पर भी बहुत ही भिन्न तरह की खेती होती है। भारत जैसे देशों में ज्यादातर खेती छोटे या मध्यम दर्जे के किसान करते हैं। जबकि अमेरिका या यूरोप जैसे देशों में बड़ी–बड़ी कंपनियां कई वर्ग किलोमीटर वाले फार्मों में खेती करती हैं। यहाँ हम मुख्य रूप से आधुनिक समय की कुछ सामान्य बातों पर चर्चा करेंगे।

18वीं शताब्दी के पहले पूरी दुनिया में ज्यादातर लोग खेती पर ही अपना जीवन–यापन करते थे और गाँवों में ही रहते थे। लेकिन जैसे–जैसे यूरोप व अमेरिका में व्यापार व औद्योगीकरण बढ़ा इस स्थिति में काफी परिवर्तन आता गया। पहले तो खेती में उत्पादकता बढ़ाने के लिए कई कदम उठाये गये जिनके चलते लगातार खेती के उन्नत तरीके खोजे गये। इसके फलस्वरूप अब कम लोग खेतों में काम करके पहले से कई गुना ज्यादा उत्पादन कर सकते थे। इस बीच शहरों में उद्योग भी बढ़ रहे थे, धीरे–धीरे लोग खेती व गाँव छोड़कर शहरों के कारखानों आदि में काम करने चले गये। गाँव में जमीन कुछ लोगों के हाथों में आती गयी जो बड़ी–बड़ी जोतों में मशीनों व मजदूरों से काम करवाते थे और अपनी पूरी उपज को बाहर के बाजारों में बेच देते थे। आपके मन में सवाल होगा कि किसानों ने अपने खेतों को कैसे छोड़ा।

वास्तव में कई जगहों में बड़े जमींदारों ने उन्हें जबरदस्ती बेदखल कर दिया। कई और जगह किसानों ने पाया कि आधुनिक खेती के तरीके छोटी जोतों के लिए लाभप्रद नहीं है, और वे भारी घाटा होने के कारण अपने खेतों को बड़े जोत वालों को बेचने पर विवश हो गये।

आधुनिक खेती में ऐसी क्या बातें थीं– जरा देखें–

आधुनिक खेती के कुछ प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं– फसल में एकरूपता, मिट्टी की सघन जुताई, कृत्रिम खादों का उपयोग, सिंचाई, कीटनाशक दवाओं का भारी उपयोग, विशिष्ट बीजों का उपयोग।

पुराने समय में हर किसान अपने परिवार की तमाम जरूरतों को पूरा करने के लिए अपने खेतों में तरह–तरह की फसलें बोते थे। छोटे–छोटे टुकड़ों में तरह–तरह की फसलें अलग–अलग समय पर उगती थीं। हरेक फसल को अलग–अलग समय पर पानी देना, खाद देना, निंदाई गुड़ाई करना, आदि होता था। लेकिन आधुनिक खेती में मुख्य रूप से एक फसल वह भी एक ही विशेष किस्म के बीज की फसल एक लंबे चौड़े इलाके में उगायी जाती है। जिस क्षेत्र में जिस फसल को उगाने की सबसे अधिक सुविधा है उसे उस इलाके के सारे खेतों में उगाते हैं। इस कारण उनकी उत्पादकता बढ़ाने में भी आसानी होती है। व्यापार में भी।

एक ही तरह की फसल और वह भी अधिक मात्रा में उत्पादन करने के लिए जरूरी है कि मिट्टी की जुताई ऐसे हो कि मिट्टी से सारे उर्वरक तत्व आसानी से पौधों में चढ़े, मिट्टी में जड़ आसानी से फैले, पानी आसानी से बहे। इसके लिए तरह–तरह के फालों व टैक्टरों का उपयोग किया जाता है। इनकी मदद से कम समय व खर्च में एक समान खेत तैयार हो सकते हैं।

अगर उत्पादन अधिक करना है तो मिट्टी की उर्वर शक्ति कम होती जायेगी। इसकी भरपाई के लिए लगातार कृत्रिम खादों का उपयोग किया जाता है, जो मुख्य रूप से पेट्रोलियम पदार्थों से बनायी जाती हैं।

अगर पूरे क्षेत्र में एक सी फसल उगाना है तो यह भी सुनिश्चित करना होगा कि सब जगह पर्याप्त नमी हो–केवल प्राकृतिक वर्षा पर निर्भर नहीं हो सकते हैं। तो भारी मात्रा में कृत्रिम सिंचाई की व्यवस्था करनी होती है– जिसके तहत भूजल का दोहन बढ़ता है या बड़े जलाशयों में वर्षा के पानी का संचयन करके नहरों के माध्यम में खेतों तक पहुँचाना होता है।

जब एक बड़े क्षेत्र में एक ही फसल उगाते हैं तो यह पूरी फसल खास तरह की बीमारी या कीड़ों की शिकार हो सकती हैं। इसे नियंत्रित करने के लिए विशेष कीटनाशकों का उपयोग जरूरी है।

आधुनिक खेती में ऐसे बीजों के चयन पर जोर है जो अधिक उत्पादन दे, और एक खास गुण की फसल पैदा करे। ऐसे बीज बने तो तमाम बीमारियों से बच पाए। ऐसे बीजों को चयन द्वारा तथा सूक्ष्म जीवाणुविज्ञान के माध्यम से बीजों के गुणसूत्रों को बदलकर भी तैयार किया जाता है। यह काम विशेष प्रयोगशालाओं में तथा विशेष बीज–फार्मों में कंपनियों द्वारा किया जाता है।

उपरोक्त बातों से यह तो स्पष्ट हो गया होगा कि आधुनिक खेती में आधुनिक विज्ञान का अत्यधिक उपयोग है। चाहे वह मशीन के निर्माण में हो, या खाद, दवा व बीजों या बांधों के निर्माण में हो। दूसरा यह कि इनमें लगातार बदलाव आते रहता है– नित नए–नए तरीके खोजे जाते हैं तीसरा यह कि ये सारी चीजों को किसान बाजार से खरीदकर उपयोग करता है। यानी किसान आज केवल अपने घरेलू साधन के आधार पर खेती नहीं कर सकता है। उसे हर कड़ी पर बाजार से सामान खरीदना पड़ता है और उसके बदले अपनी फसल को बेचकर पैसे कमाना पड़ता है।

किसान हमेशा इस प्रयास में रहता है कि वह खेती में लागत कम करे ताकि कम दाम पर बेच पाये। इसके लिए वह विवश होता है कि वह मजदूरों व जानवरों की जगह मशीनों से काम ले। इस कारण खेती में लगातार रोजगार कम होते जाता है और ग्रामीण लोगों को दूसरे काम धंधे तलाशना पड़ते हैं। अकसर ऐसी भी परिस्थितियां निर्मित होती हैं जब किसान लागत और आमदनी के बीच की खाई को पाट नहीं पाते और अपनी जमीन को ही बेचने पर विवश हो जाते हैं।

आज खेती में बड़ी बहुराष्ट्रीय कंपनियों का बोलबाला है– खाद, दवा, कीटनाशक आदि वे ही बनाती व बेचती हैं। अकसर वे अपने मुनाफा बढ़ाने के लिए कई तरीके अपनाती हैं जो किसानों के हित में नहीं होते हैं। आज हर देश में किसानों ने बड़े–बड़े संगठन बनाये हैं ताकि वे ऐसे तरीकों का विरोध करें व उन्हें बदलवाएं।

आधुनिक खेती के चलते किसानों को कई–नई बातें सीखना जरूरी हो गया है। रासायनिक खाद, कीटनाशक, बीज के किस्म आदि को समझने के लिए उन्हें कुछ बुनियादी विज्ञान और गणित समझना होगा। चूंकि उनकी लागत और उत्पाद दोनों की कीमत अंतर्राष्ट्रीय बाजारों से तय होती है, उन्हें कम से कम दुनिया के बाजारों की हालत समझना जरूरी है। इसके साथ–साथ किसान खेती में लागत लगाने के लिए बैंकों व अन्य वित्तीय संस्थाओं पर निर्भर होने लगते हैं। अतः उन्हें वित्तीय व्यवस्थाओं (बैंकों में पैसे जमा करना, निकालना, लोन लेना, पटाना, ब्याज की दर, आदि) को गहराई से समझना पड़ता है। अगले कुछ दशकों में किसानों को अपने हितों की रक्षा करने के लिए देश व्यापी व अंतर्राष्ट्रीय संगठन भी बनाने होंगे जिसके लिए उन्हें पूरे देश में संवाद की भाषा व तरीकों को जानना होगा।

आधुनिक खेती किसानों से मांग करती है कि वे पढ़ना लिखना, बुनियादी गणित, विज्ञान, अर्थशास्त्र को सीखें व समझें। इसके अलावा ग्रामीण लोगों को इस बात के लिए अपने आपकों तैयार करना होगा कि उन्हें खेती के अलावा अन्य काम धन्धे पर निर्भर होना होगा और उसके लिए कुछ बुनियादी शिक्षा हासिल करनी ही होगी। इन कारणों से बुनियादी शिक्षा हर ग्रामीण के लिए अत्यावश्यक हो गयी है।

खेती के इन आधुनिक तरीकों की यह उपलब्धी रही है कि पिछली दो शताब्दियों में हुए जनसंख्या विस्फोट के बावजूद बढ़ी हुई खाद्यान्न की जरूरत को पूरा करने में सफल रही और साथ ही औद्योगिक क्रांति के लिए जरूरी खेतिहर कच्चे माल की भी आपूर्ति की। साथ–साथ इसके कारण अधिकांश जनसंख्या खेती को त्यागकर दूसरे काम धंधे कर पायी। लेकिन पुराने समय में खेती महज अन्न उत्पादन का एक साधन ही नहीं बल्कि एक जीवन शैली रही है जो किसानों की गृहस्थी पर आधारित थी। लेकिन यह जीवन का तरीका आज लुप्त होता जा रहा है।

आज सभी जानते हैं कि खेती के ये आधुनिक तरीके, मिट्टी को खराब कर रहे हैं, हमारी जमीन, हवा व पानी में कीटनाशकों व खादों के जहर को घोल रहे हैं। कई तरह की सामग्री व बीज हमारे खेत व स्वास्थ्य के लिए खतरनाक हैं। आज बहुत से लोग यह मानने लगे हैं कि इस तरह खेती करने से लंबे समय में खतरनाक परिणाम होंगे और इस कारण हमें इस तरह की खेती के विकल्प खोजने होंगे। यह विकल्प खोजने के लिए भी किसानों को आधुनिक शिक्षा हासिल करनी होगी और साथ ही अपने पारंपरिक व पुश्तैनी ज्ञान को भी बचाकर रखना होगा।

औद्योगीकरण और आधुनिक उत्पादन प्रणालियाँ

आप जानते हैं कि यूरोपीय देशों में 17वीं–18वीं–19वीं शताब्दियों के दौरान तकनीकी आविष्कारों व निर्माण की प्रक्रियाएँ सघन हुई थीं। सामाजिक बदलावों में भी तेजी आई थी, कारखानों के द्वारा उत्पादन की प्रणाली अर्थव्यवस्था पर हावी होती गई थीं। इन सब के चलते पुरानी अर्थव्यवस्थाओं में भारी बदलाव आये।

वैज्ञानिक तकनीकों व मशीनों का अधिक से अधिक उपयोग आधुनिक औद्योगीकरण की सबसे बड़ी विशेषता मानी जाती है। इनके चलते ऐसे तमाम काम जो बहुत समय से हाथ से कर रहे होते थे, जिन्हें करने में मनुष्य या पशु की बहुत मेहनत व उर्जा लगती थी, वैज्ञानिक तकनीकों व मशीनों का अधिक से अधिक उपयोग आधुनिक औद्योगीकरण की सबसे बड़ी विशेषता मानी जाती है। इनके चलते ऐसे तमाम काम जो बहुत समय ले कर होते थे, जिन्हें करने में मनुष्य या पशु की बहुत मेहनत व ऊर्जा लगती थी, परेशानी होती थी, या जो किए ही नहीं जा सकते थे, अब किए जा सके और बहुत तेजी व आसानी के साथ किए जा सके। पानी की शक्ति का उपयोग हुआ, कोयले की शक्ति का उपयोग हुआ, धातुओं को इस हद तक तपाया, गलाया जा सका जैसा कि पहले संभव नहीं था, भारी सामानों को दूर–दूर तक पहुंचाया जा सका। इन सब बातों का परिणाम यह भी हुआ कि तकनीकी परिवर्तन इस दर से हुए कि उत्पादकता कई गुणा बढ़ सकी। अर्थव्यवस्था में बढ़ोत्तरी की दर स्थिर हो चली–उत्पादन के बढ़ने के साथ–साथ प्रति व्यक्ति के हिसाब से लोगों की वास्तविक आमदनी भी बढ़ती रही–गाँवों से आबादी का शहरों में स्थानांतरण होता रहा। यह भी उतना ही सत्य है कि बच्चों के श्रम का उद्योगों में बेहिसाब शोषण किया गया, कारीगरों की पारंपरिक कुशलताओं का अवसार होने लगा और नए औद्योगिक शहरों में रहने के हालात दयनीय और कई मायनों में अमानवीय रहे।

इतिहास के इस महत्वपूर्ण दौर में आने वाले परिवर्तनों को पहचानने की कोशिश करिए। पहले उत्पादन उपयोग के लिए किया जाता था– पर अब उत्पादकर्ता बाजार के लिए उत्पादन करने लगा, अपने उपयोग के लिए नहीं।

पहले श्रम किसी को भी खुले रूप से उपलब्ध नहीं था– कि कोई भी पैसे दे कर खरीद ले। लोग दूसरों के गुलाम या आश्रित किसान के रूप में अपने मालिकों से बंधे थे और किसी को भी अपना श्रम बेचने के लिए स्वतंत्र नहीं थे। पर अब वे निर्धारित लोगों से बंधे नहीं रहे और किसी को भी घंटे या काम के हिसाब से अपना श्रम बेच सकते थे। अधिकतर लेन–देन प्रमुख रूप से पैसों में होने लगा जबकि पहल वस्तु विनिमय भी काफी महत्व रखा करता था।

उत्पादन की सभी बातों का निर्णय निजी तौर पर पूंजी के मालिक के हाथ में हो गया – और पूंजी लगाने वाले लोगों के बीच सतत प्रतिस्पर्धा बनी रहने लगी। लोगों के बीच होड़ में एक ही ध्येय होता–दूसरे को पीछे करके ज्यादा माल बेच कर, या वहीं माल कम कीमत में बेच कर या मिलता जुलता माल ज्यादा लुभावना बना कर अपना मुनाफा बढ़ाना। इस प्रतिस्पर्धा के चलते पूंजी लगाने वाला हर व्यक्ति बेहतर तकनीकों, मशीनों, अधिक से अधिक सस्ते मजदूरों, अधिक से अधिक सस्ते कच्चे माल की फिराक में रहता था– फिर ये जहां से भी, जैसे भी प्राप्त हो जाएँ।

पूंजीवाद शुरू से ही विश्व की अर्थ व्यवस्था का मसला रहा, एक राष्ट्र–राज्य का नहीं। पूंजीवाद कभी भी यह इजाजत नहीं देता कि राष्ट्रीय सीमाएं उसकी महत्वाकांक्षाओं को सीमित करें। इस विश्व स्तरीय अर्थव्यवस्था में एक समान राजनैतिक व्यवस्था का होना जरूरी नहीं है। बल्कि इसके अन्तर्गत कई राजनैतिक इकाइयाँ और सांस्कृतिक व्यवस्थाएँ मौजूद रह सकती हैं। इस अर्थ व्यवस्था का जरूरी पहलू अगर कुछ है तो यह कि इसमें उत्पादन बाजार में बेचने के उद्देश्य से होता है ताकि अधिक से अधिक लाभ कमाने के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकें।

इस अर्थव्यवस्था के तीन चरण देखे जाते हैं, और उनमें से आखिरी चरण में ही औद्योगिक उत्पादन प्रमुख होता है। पहले चरण में, जो 16वीं से 18वीं शताब्दी के बीच घटित होता है, उत्पादन कृषि प्रधान रहा था। दूसरा चरण 1650 से शुरू होता है जिसमें व्यापारिक प्रतिस्पर्धा प्रमुख होती है और इंग्लैण्ड नीदरलैण्ड और फ्रांस को पीछे छोड़ कर अग्रणी स्थिति हासिल कर लेता है। तीसरा चरण 18वीं शताब्दी के मध्य से शताब्दी के मध्य से शुरू होता है और अब औद्योगिक उत्पादन इसका आधार बनता है। साथ ही साथ यूरोप की विश्व अर्थव्यवस्था का भौगोलिक फैलाव भी हो रहा होता है और वह समूचे विश्व में अपना आधिपत्य बना लेती है।

संपत्ति होना इतिहास में कोई नई बात नहीं थी और न ही लोगों का धनवान बनने की कोशिश करते रहने में कुछ नया था। बड़े स्तर के व्यापारिक लेन देन पहले भी होते थे पर अब श्रम का लाभ के लिए तर्क संगत उपयोग करने की कोशिश की जाने लगी क्योंकि श्रम पुरानी व्यवस्थाओं से मुक्त कर दिया गया। पूंजीवाद के तहत नया यह था कि लोगों में आर्थिक लेन देन से लाभ कमाने का एक नियमित, स्थाई, सतत रूझान व आग्रह अपने अनुरूप व्यवस्थाएँ बनाने लगा। ऐसा करने के लिए एक नए प्रकार के व्यवसायी का उद्भव जरूरी हो गया। ऐसा उद्यमी व्यक्ति जो मेहनती, चुस्त व क्रियाशील हो, कुल–कुटुम्ब के कर्त्तव्यों, रिवाजों, परंपराओं, निषेधों आदि से मुक्त हो, जो पारलौकिक रूचियों की बजाय इस लोक में कुछ अलग करने, बनाने की उत्कंठा से प्रेरित हो, व्यावहारिक व अनुशासित हो, दूरगामी नजर रखता हो, नए–नए अवसरों को खोजने को लालायित हो।

17वी शताब्दी से विकसित होने वाली यह पूंजीवादी संस्कृति उस समय की प्रतिष्ठित कुलीन व दरबारी संस्कृति से बुनियादी रूप से व सचेत रूप से फर्क थी। वह तार्किकता को महत्व देती थी, आस्था व विश्वासों को नहीं, शुरू से ही साक्षरता पर आधारित थी जबकि कुलीन वर्ग में कई रौबदार निरक्षरों का मिल जाना अचरज की बात नहीं थी। खून पसीने की कमाई के संस्कार पर खड़ी थी जबकि कुलीन वर्ग में विश्राम व परिष्कार का आदर्श विद्यमान था और जिसमें संपन्नता का प्रदर्शन वांछनीय था जो पूंजीवादी संस्कृति में तब अच्छा नहीं समझा जाता था। पूंजीवादी संस्कृति में व्यक्तिवाद की धारणा मजबूत बनी और निहायत जरूरी भी। उसका दर्शन व्यक्ति की अपनी उपलब्धि, अधिकार और चेतना पर जोर देता था।

बहरहाल, नई व्यवस्था की समस्याओं पर सोचना भी महत्वपूर्ण है। यह सवाल उठाया गया है कि क्या पूंजीवाद एक न एक दिन संस्कृति को ही खत्म नहीं कर देगा – क्योंकि यह मानव के सामूहिक उत्थान को गौण बना देता है, भीतरी मानसिक अवस्था के स्थान पर बाहरी वस्तुओं पर अधिकार को केन्द्रीय बना देता है। कई लोग इसे समानता और लोकतंत्र का विरोधाभास भी मानते हैं, क्योंकि इस व्यवस्था से लोगों के बीच आर्थिक असमानता बनती रहती है और यह उन्हें समान रूप से लोकतंत्र में भाग लेने से रोकती है। इससे सामाजिक समरसता भी टूटती रहती है।

औद्योगीकरण की एक और सीमा है पर्यावरण : औद्योगीकरण एक तरह से प्रकृति के अंधाधुंध दोहन पर आधारित है और यह अनिश्चित काल और मात्रा में नहीं चल सकता है। पानी, हवा, जंगल, ऊर्जा के स्रोत आदि सीमित मात्रा में ही उपलब्ध हैं। साथ ही इस दोहन व प्रदूषण से पर्यावरण का संतुलन जो बिगड़ जाता है, उससे भी उत्पादन एक ऊपरी सीमा से टकरा जाता है।

आधुनिक औद्योगिक उत्पादन और शिक्षा

आइए अब औद्योगीकरण के शिक्षा के साथ जुड़े संबंध पर गौर करें। इतिहास के दौर को देखने पर हम पाते हैं कि पूंजीवादी औद्योगीकरण के प्रभाव से मध्यम वर्ग का जबरदस्त विस्तार हुआ। पूंजी के हिसाब किताब के लिए पेशेवर तंत्र की जरूरत पैदा हुई – लिपिक, अकाउन्टेन्ट, प्रबंधक, निरीक्षक, रिपोर्टर–आदि। इन्हीं की मदद से बाजार में होने वाली बदलावों का तुरंत ज्यादा से ज्यादा फायदा उठाने की स्थिति में रहा जा सकता था। इसीलिए शायद किसी मध्ययुगीन यूरोपीय शहर में पूंजीवाद के विकास का पहला–पहला संकेत वहां स्थापित होने वाले प्रारंभिक स्कूल से मिल जाता था, जिसमें मुख्य रूप से पढ़ना, लिखना व जोड़–घटाना आदि ही सिखाने पर जोर होता था। नए व्यावसायिक तंत्र का सारा काम ही कागज के नियंत्रण से चला करता था। स्टाक एक्सचेंज वह नई संस्था थी जो बड़े स्तर के व्यावसायिक लेन–देन का केंन्द्र बन के उभर चुकी थी।

मध्यम वर्ग के इस विस्तार के पीछे तकनीकी विकास का ही हाथ माना जा सकता है। इसके चलते भौतिक रूप से उत्पादन के काम के लिए लगने वाले मजदूरों की संख्या कम हो रही थी और श्रमिक वर्ग के बहुतेरे लोगों को प्रशासनिक किस्म के कामों में लगाया जाने लगा था इसी समय राजकीय तंत्र का भी जबरदस्त फैलाव होने लगा। इन सब बातों का शिक्षा के लिए क्या निहितार्थ था, विचार करें।

उत्पादन की जरूरत :

अगर कारखानों में नियमानुसार अनुशासित काम होना है तो लोगों में उस तरह की मानसिकता की तैयारी करानी होती है (नियम से समय से आना, बिना सवाल किये दिये काम को लगातार करते रहना, सैकड़ों मजदूरो के साथ काम करना, अधिकारियों व मैनेजरों व फोरमैंनों की श्रृंखला को स्वीकार करना........)।

उत्पादन की एक और जरूरत है पढ़ा लिखा और कुशल कामगार जो छपे निर्देशों का पालन करे, तथा उत्पादन के मापदण्डों का पालन कर पाये। पिछले कुछ दशकों से यह देखा गया है कि कठिन मेहनत वाले कामों के लिए तो मशीनें बन गई हैं। सतत एक से काम के लिए भी मशीनें बन गई हैं। अतः अब बहुत कम श्रमिकों की जरूरत उत्पादन में रह गई है। लेकिन अब ऐसे कामगारों की जरूरत है जो उत्पादन से संबंधित जानकारियों का विश्लेषण करके निर्णय लें कि अब क्या करना है। इसे आजकल सूचना विश्लेषण और प्रबंधन कहते हैं।

उत्पादन ऐसे भी कुछ लोगों की मांग करता है जो लगातार नई राह खोजें और सृजनशील हों।

बाजार की जरूरत :

हमने देखा था कि उद्योगों में उत्पादन बहुत बड़े पैमाने पर होता है जिन्हें बेचने के लिए पूरे देश क्या पूरी दुनिया की आवश्यकता है। हम जानते हैं कि किसी भी चीज़ की मांग लोगों की संस्कृति, भावना, सोच, रूचि आदि पर निर्भर है। अतः शिक्षा ऐसी नई रुचियां पैदा करने व रुचियों में समरूपता लाने का एक माध्यम बन जाती है। शिक्षा हमें इस बात के लिए भी तैयार कर देती है कि हम नये–नये संचार माध्यमों से नये–नये उत्पादनों के बारे में जाने व सीखें व उनका उपयोग करने लगें। जैसे दांत मंजन कैसे करना, किस तरह के कपड़े पहनना, किस तरह की दवाओं का उपयोग करना आदि। आधुनिक उद्योगों के लिए बाजार निर्माण में स्कूली शिक्षा की बहुत अहम भूमिका है।

उपरोक्त बातों को देखते हुए क्या आप आधुनिक शिक्षा के उन तत्वों को पहचान सकते हैं जो औद्योगिक उत्पादन की जरूरतों से जुड़ें हुए हैं ?

पठन सामग्री क्र. 4

वैश्वीकरण और शिक्षा

सन् 1500 के बाद धीरे–धीरे पूरी दुनिया व्यापार, युद्ध, साम्राज्य, संचार आदि सूत्रों से बंधने लगी। कोई भी क्षेत्र या देश या समूह चाहे वह कितने ही सुदूर अंचल का हो, इससे अछूता नहीं रह सका। इसी प्रक्रिया का एक चरम है वैश्वीकरण का वर्तमान दौर।

वैश्वीकरण का क्या तात्पर्य है?

वैश्वीकरण को हम दो तरह से समझ सकते हैः–

1. एक आर्थिक व राजनैतिक प्रक्रिया जिसके तहत उत्पादन और वितरण का अंतर्राष्ट्रीयकरण होता है। अर्थात देशों के बीच उत्पादन, पूंजी, श्रम, विचारों व संस्कृति के आवागमन या लेन–देन में जो बाधाएँ थीं या हैं, उनका खात्मा। ताकि पूरे विश्व में इन सब बातों का बे–रोकटोक लेन–देन हो सके।
2. वैश्वीकरण को आगे बढ़ाने के लिए सुझाई गईं नीतियाँ जिन्हें हम उदारीकरण की नीतियाँ भी कहते हैं।

वैश्वीकरण की प्रक्रियाएँ

1980 व 1990 के दशकों में महत्वपूर्ण तकनीकी क्रांतियाँ हुईं जिनमें सबसे महत्वपूर्ण रही परिवहन, सूचना व संचार की क्रांति। इनके चलते सामान को एक जगह से दूसरे जगह लाना ले जाना आसान और सस्ता हो गया और सूचनाओं को पाना, प्रेषित करना व उनका विश्लेषण करना त्वरित हो गया। आज किसी भी सूचना को दुनिया के एक कोने से दूसरे कोने तक या जितने भी कोनों तक तत्काल या तुरंत भेजा जा सकता है।

इसके साथ–साथ औद्योगिक उत्पादन कार्य और काफी हद तक कृषि उत्पादन भी लगभग पूरी तरह मशीनों की मदद से हो रहा है। जिसके कारण उत्पादन या परिवहन में मानवीय श्रम का महत्व नगण्य हो गया है। तो मनुष्यों के पास क्या काम बचा? मनुष्य के पास अब मुख्य रूप से ज्ञान या सोच–विचार आधारित काम रह गया है। समस्याओं को पहचानना, उनका निदान खोजना और उन्हें क्रियान्वित करना – यह मनुष्यों का सबसे बड़ा काम बन गया है। इसके लिए ज़रूरी सूचनाओं को एकत्रित करना, उनका विश्लेषण करना और संप्रेषित करना – यह सब इलेक्ट्रॉनिकी के मदद से किया जा रहा है। ज्ञान आधारित दूसरे तरह का काम है नए विचार, नई चीज़ें, नई योजनाएँ तैयार करना – यानी सृजनात्मकता का काम। पिछले 50–60 वर्षों में उत्पादन कार्य में सीधे मशीनों के उपयोग से मानवीय श्रम की ज़रूरत न्यूनतम रह गई है। अतः इसी दौरान तृतीयक कार्य – जिन्हें सेवाएँ भी कहते हैं, महत्वपूर्ण हो गया। शिक्षा, स्वास्थ्य, पर्यटन, एंटरटेंनमेंट, फुटकर व्यापार, प्रशासन, मीडिया, आज महत्वपूर्ण होते जा रहे हैं। इन सेवाओं में ज्यादा लोग अपनी जीविका पा रहे हैं। इनमें भी भारी मानवीय श्रम की जगह मशीनों का उपयोग होता है और मनुष्यों का काम मुख्यतः वैचारिक – सृजनात्मक व विश्लेषणात्मक होता जा रहा है।

तकनीकी व अन्य विकासों के चलते उत्पादन का विखण्डन या विकेन्द्रीकरण भी हो रहा है। पहले के समय में एक विशाल कारखाने में हज़ारों मज़दूर मिलकर एक चीज़ (कपड़ा, मोटरगाडी आदि) के सभी हिस्से बनाकर उन्हें जोड़कर तैयार करते थे। कहीं–कहीं कुछ कलपुर्ज़े आस–पास के कारखानों में बन जाते थे। लेकिन आज इस तरह के कारखाने विरले ही रह गए हैं। आज उत्पादन कई टुकड़ों में हो रहा है।

उत्पाद के कई हिस्से विभिन्न देशों के छोटे कारखानों में से तैयार होकर आते हैं और किसी एक देश में इन्हें जोड़कर उत्पाद को पूरा किया जाता है, और बेचा जाता है।

इन सब के कारण आज उत्पादन विशाल कारखानों की जगह दुनिया भर में फैले छोटे–छोटे कारखानों में हो रहा है। इन छोटे कारखानों में स्वचालित मशीनों से काम होता है और उनमें बहुत कम मज़दूरों की ज़रूरत होती है।

सूचना तकनीकी आज बहुत महत्वपूर्ण होती जा रही है। इसकी मदद से ये सारी स्वचालित मशीनें चलती हैं, दूर–दराज में फैले छोटे कारखाने एक दूसरे के संपर्क में तथा कंपनी के मालिकों के संपर्क में रहते हैं। सूचना तकनीकी की मदद से कहाँ क्या किस मात्रा में उत्पादन करना है व बेचना है, इस बात का निर्णय लिया जाता है, विविध समस्याओं का हल निकाला जाता है। जैसा हमने ऊपर देखा सूचनाओं को फौरन एक जगह से दूसरे जगह भेजा जा सकता है। उदाहरण के लिए न्यूयार्क (अमरीका) के किसी अस्पताल का रोजाना खर्च का लेखा–जोखा भारत के हरियाणा राज्य के गुडगांव में रखा जाता है। यानी यह सूचना उद्योग भी तकनीकी विकास के चलते कुटीर उद्योग की तरह काम कर सकता है।

बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ

ये वो कंपनियाँ हैं जो बनी तो किसी एक देश में और वहां उनका मूल पंजीकरण भी हुआ है लेकिन उनका कारोबार पूरी दुनिया में फैला है। उनके अंशधारक (शेयरहोल्डर) पूरे दुनिया में फैले हैं, उनके कारखाने दुनिया के विविध देशों में लगे हैं, उनके कामगार व उच्च मैनेजर कई देशों के रहने वाले हैं। उनका माल दुनिया भर में बिकता है और उनकी संपत्ति पूरी दुनिया में है। ऐसे में वे किसी एक देश के प्रति निष्ठावान नहीं हो सकते हैं, न किसी एक देश पर निर्भर हैं। उनका कारोबार कई छोटे व मध्यम देशों की अर्थव्यवस्था से जुडा है। यूं तो 30000 से अधिक ऐसी कंपनियां हैं मगर इनमें से कुछ 50भीमकाय कंपनियाँ व बैंक हैं जो लगभग सभी छोटी–बड़ी कंपनियों में पूंजी निवेश द्वारा उन पर नियंत्रण रखते हैं। कई अर्थशास्त्रियों का मानना है कि इस बात के बावजूद कि वे किसी एक देश पर निर्भर नहीं हैं, आमतौर पर यह पाया जाता है कि इन कंपनियों की वित्तीय स्थिति उनके मूल देश की नीतियों व राजनैतिक दबदबे से काफी प्रभावित होती है।

हाल के तकनीकी क्रांतियों का भरपूर फायदा बहुराष्ट्रीय कंपनियां तथा पूंजी निवेश करने वाले बैंक आदि उठा रहे हैं। वे ऐसे देशों में अपना पूंजी निवेश करते हैं जहाँ शासकीय नीतियाँ लचीली हों और कंपनियों पर पाबंदी कम हो, जहाँ शासन अर्थव्यवस्था में हस्तक्षेप कम–से–कम करे और शासकीय खर्च कम–से–कम हो (यानी कर कम–से–कम हो), जहाँ श्रम कुशल सस्ता हो और मगर असंगठित हों, जहाँ बुनियादी सुविधायें जैसे सड़क, बिजली व यातायात व्यवस्थित हों...। पूंजी निवेश दो तरीके से होता है, पहला, उद्योग लगाकर और दूसरा शेयर बाजार आदि में निवेश करके जिसमें सट्टेबाजी की गुंजाईश होती है।

सभी सरकारें जानती हैं कि अगर उनके देश से पूंजी निकल जाये तो उनकी अर्थव्यवस्था कमज़ोर हो जाएगी, कारखाने बंद हो जाएँगे, नई तकनीक नहीं मिल पाएगी, विकास के लिए पूंजी की कमी पड़ जाएगी और लोग बेरोज़गार हो जाएँगे। इसलिए हर देश के शासक इसी प्रयास में रहते हैं कि किसी–न–किसी तरीके से इन परिस्थितियों को निर्मित करें ताकि पूंजी निवेश हो और किसी प्रकार से निवेश का विरोध न हो पाए। अन्यथा यह पूंजी किसी अन्य देश में जा सकती है। कई लोगों का मानना है कि 16वीं शताब्दी से बनना शुरू हुए राष्ट्र–राज्य भी अब इस अर्थव्यवस्था के सामने कमज़ोर पड़ रहे हैं और वे अपने अधिकारों को ताक में रखकर पूंजी निवेश को बढ़ाने पर मजबूर हैं।

वैश्वीकरण की नीतियाँ

जैसे हमने पहले देखा, वैश्वीकरण के लिए ज़रूरत है कि देशों के बीच बाधाएँ नहीं हों और देश के अंदर शासन का हस्तक्षेप और खर्च कम–से–कम हो। इनके महत्व को समझने के लिए हमें 1990 से पहले की अर्थव्यवस्थाओं के प्रमुख बिन्दुओं को समझना होगा। उन दिनों राष्ट्र–राज्य दूसरे देशों से सामान के आयात को कम करने तथा अपना निर्यात बढ़ाने की नीति अपनाते थे ताकि उनके अपने उद्योगों का माल अपने देश में बिके और उनसे किसी और देश के उद्योग स्पर्धा न कर सकें। वे ऐसी भी नीतियाँ बनाते थे कि दूसरे देशों से खाद्यान्नों का आयात नहीं हो ताकि अपने देश के किसानों को अनाज की अच्छी कीमत मिलती रहे। वे ऐसी नीतियां भी अपनाते थे जिससे अपने देश के उद्योगपतियों, व्यापारियों व किसानों को शासन के तरफ से विविध अनुदान व छूट का लाभ मिले जो दूसरे देश के किसानों–उद्योगपतियों आदि को नहीं मिलता। ये देश खुद कई सारे उद्योग चलाते थे जो उनकी नज़र में राष्ट्र के लिए ज़रूरी थे। इन सब के साथ–साथ राष्ट्र–राज्य अपने नागरिकों को कई तरह की सेवाएं उपलब्ध करवाने में खर्च करते थे, जैसे सड़क, बिजली, शिक्षा, अस्पताल, टीवी, रेडियो आदि।

वैश्वीकरण ने इन राष्ट्र–राज्यों को मजबूर किया कि वे इन नीतियों को क्रमशः त्याग दें और एक बे–रोकटोक अर्थव्यवस्था निर्मित करें। इनमें से सबसे महत्वपूर्ण नीतियाँ थीं – आयात पर करों को बहुत ही कम करना और किसी सामान के आयात पर पाबंदी न लगाना। दूसरा, शासकीय खर्च को न्यूनतम करना, और तीसरा पूंजी निवेश संबंधी तथा श्रमिकों के वेतन व नौकरी की सुरक्षा संबंधी कानूनों को बदलना।

इस तरह के नीतिगत बदलावों के कारण गरीब तबके के लोगों को नुकसान होगा, यह देखते हुए कई अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं ने शुरुआती दौर में भारत जैसे विकासशील देशों को वित्तीय सहायता व उधार दिया। उनकी अपेक्षा थी कि इसकी मदद से सरकारें अपने गरीब लोगों के बीच शिक्षा को फैलाएँगे जिसके मदद से लोगों की कार्यकुशलता बढ़ेगी और वे वैश्वीकरण से लाभ उठा पायेंगे। इसी नीति के तहत भारत में भी 1992 से लगभग 10 साल जिला शिक्षा परियोजना जैसी योजनाएँ चलीं जो शिक्षा को हर बच्चे तक पहुँचाने के प्रयास थे। इस तरह के कार्यक्रम किस हद तक सफल हुए और उनका परिणाम क्या हुआ, हम बाद में देखेंगे।

जाहिर है कि ये नीतियाँ राष्ट्र–राज्यों के बुनियादी सिद्धांत – राष्ट्र की संप्रभुता, अपने हित में कानून बनाने के अधिकार को चोट पहुँचाता है, लेकिन आज कोई भी देश नहीं है जो इन नीतियों को नकार सकें क्योंकि सभी देश पूंजी निवेश के महत्व को जानते हैं।

विद्वानों के बीच यह बहस का विषय बना हुआ है कि क्या इस तरह के बदलावों के चलते राष्ट्र–राज्यों का कोई विषय है या नहीं। क्या राष्ट्र–राज्य इनके चलते महत्वहीन होकर खत्म हो जाएँगे। ज्यादातर विद्वान यह मानते हैं कि राष्ट्र राज्यों की भूमिका में भारी परिवर्तन तो आएगा और वे अपने कई अधिकार अंतर्राष्ट्रीय संगठनों को सौंप देंगे। लेकिन साथ ही ये राज्य नई भूमिकाओं को निभाएँगे जिनमें सबसे प्रमुख होगा उनमें रहने वाले लोगों की शिक्षा, स्वास्थ और कानून व्यवस्थाएँ। यह माना जाता है कि वैश्वीकृत अर्थव्यवस्था में राष्ट्रों के पास सबसे महत्वपूर्ण उनकी श्रम शक्ति है – वे कितने स्वस्थ, कुशल, सृजनशील आदि हैं इस पर निर्भर होगा कि उनका देश इन नए हालातों का फायदा उठा पाएगा या नहीं।

वैश्वीकरण की सीमाएँ या दूसरा पक्ष

एक तरफ जहाँ वैश्वीकरण हो रहा है, वहीं दूसरी ओर हम देखते हैं कि उत्पादन का एक काफी बड़ा हिस्सा और लोगों का जीविका अर्जन अनौपचारिक घरेलू काम धंधों से हो रहा है। वैश्वीकरण के चलते जो पुराने उद्योग धंधे बंद हो रहे हैं उनके कामगार व उनके परिवार अपने जीविका चलाने के लिए इस तरह के काम करने पर मजबूर हो रहे हैं। दूसरा वैश्वीकरण के तहत काफी बड़ा उत्पादन का हिस्सा जैसे रेडीमेड कपड़ा उद्योग आज मुख्य रूप से घरेलू उत्पादन पर निर्भर है। इसमें कम–से–कम पूंजी की लागत में हर घर के लोग, खासकर महिलाएं व बच्चे काम कर रहे हैं और उन्हें अपने श्रम का बहुत ही कम मूल्य मिलता है। लेकिन इनके द्वारा बनाया गया सामान दुनिया के बड़े माने गए बाज़ारों में बिकने जाता है। इसी तरह ये लोग बहुत बड़े पैमाने पर फुटकर बिक्री, घरेलू सेवा आदि का काम कर रहे हैं।

अतः वैश्वीकरण से हमें सिर्फ यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि सब लोगों को बहुराष्ट्रीय कंपनियों में काम मिल जाएगा या सब लोगों को सूचना क्रांति के तहत बौद्धिक श्रम ही करना पड़ रहा है या फिर यह कि बेरोज़गारी या बेकारी खत्म हो जाएगी। इसका उल्टा ही हुआ है – बहुत बडे पैमाने पर लोग पुराने कारखानों या कंपनियों से बेदखल हुए हैं और विवश होकर वे घरेलू या अनौपचारिक कामकाज़ में लगे हैं।

शिक्षा पर प्रभाव

इन सारी बातों का शिक्षा पर गहरा असर पड़ेगा यह तो निश्चत है। वैश्वीकरण का असर पूरे विश्व के शिक्षा पर कई मायनों में देखने को मिलता है। पहला तो यह है कि शासन अपने खर्च की कटौती के दबाव के कारण शिक्षा में ज़रूरत से कम धन खर्च कर पा रहा है। इस कारण पूरे विश्व में बड़े पैमाने पर शिक्षा का निजीकरण हो रहा है। यानी पालक खुद अपने खर्च से निजी शालाओं या महाविद्यालयों या विश्वविद्यालयों में अपने बच्चों को पढ़ा रहे हैं। लेकिन यह मौका केवल उन लोगों को मिल पाता है जो धनी हैं व साधन संपन्न हैं। इसका एक मतलब यह है कि सारे बच्चे एक तरह की शालाओं में न पढ़कर अपने पालकों के आर्थिक हैसियत के अनुरूप शिक्षा प्राप्त करते हैं। इससे शिक्षा के माध्यम से समान नागरिकों को तैयार करने की राष्ट्रवादी राज्यों की योजना बुरी तरह प्रभावित हो रही है।

वैश्वीकरण नीतियों के तहत यह माना गया है कि शालेय शिक्षा को बेहतर बनाने के लिए उनके विकेन्द्रीकृत संचालन की ज़रूरत है। शिक्षा विभागों द्वारा केन्द्रीय प्रबंधन व संचालन महंगा पड़ता है और इससे शालेय स्तर पर जवाबदेही कमज़ोर रह जाती है। अतः यह सुझाया जाता रहा है कि पंचायत, नगरपालिका व पालक समितियों को शाला संचालन करना चाहिए। चूंकि पालकों व स्थानीय लोगों के बच्चे इन शालाओं में पढ़ते हैं, इसलिए वे स्थानीय स्तर पर नज़र रखेंगे और शिक्षकों की जवाबदेही को सुनिश्चित करेंगे। इससे शालाओं की कार्यकुशलता बढ़ेगी। यह भी सुझाया जा रहा है कि अगर शालाओं को चलाने के लिए कुछ संसाधन स्थानीय स्तर पर ही जुटाए जाते हैं तो इससे भी शिक्षा की गुणवत्ता को बढ़ाया जा सकता है क्योंकि पालक अपने पैसों से फिजूल खर्ची होने नहीं देंगे और उसका सदुपयोग हो यही प्रयास करेंगे।

कई विद्वानों का मानना है कि इन नीतियों के बुनियाद में शासकीय खर्च को कम करना तथा समाज में शासन के हस्तक्षेप को कम करना ही है। इनके पीछे शैक्षणिक सुधार की सोच नहीं है बल्कि वित्तीय सुधार की ही सोच है। इसका एक नतीजा यह देखा गया है कि जिन क्षेत्रों में या तबकों में साधनहीनता है वहाँ के बच्चों को कमजोर शिक्षा मिल रही है। जो क्षेत्र साधन संपन्न हैं और जो लोग धनवान हैं और प्रभावशाली हैं उनके बच्चों को बेहतर शिक्षा मिल रहा है।

शासन के वित्तीय भार को कम करने की जुगत का शिक्षकों के वेतन पर बुरा प्रभाव पड़ते हुए भी देखा गया है। सामान्य शिक्षकों की जगह कम वेतन वाले व अप्रशिक्षित शिक्षकों की नियुक्ति हो रही है जिसके चलते शिक्षा की गुणवत्ता पर बुरा असर हो रहा है। यह माना जाता है कि शिक्षा मूलतः शिक्षकों की समझ, प्रतिबद्धता व निष्ठा पर निर्भर है। अगर शिक्षक अपने जीविका के लिए दूसरे कामों (खेती, दुकानदारी, ट्यूशन आदि) पर निर्भर हैं तो वह शिक्षण पर पर्याप्त ध्यान नहीं दे पाएँगे। इसी तरह शिक्षा में क्या सुधार होना चाहिए, शिक्षकों के सामने क्या समस्यायें आ रही हैं, आदि मुद्दों पर विचार–विमर्श करके कार्यक्रम बनाना और उसके लिए संसाधन लगाना शासन का ही काम हो सकता है और अगर इसमें कटौती की जाती है तो शिक्षा की गुणवत्ता पर बुरा प्रभाव ही पड़ेगा।

वैश्वीकरण का दूसरा प्रभाव यह है कि लगातार शिक्षित और उच्च शिक्षा प्राप्त कामगारों की जरूरत बढ़ रही है। इसके कारण सरकारें प्राथमिक व उच्च माध्यमिक शिक्षा को बढ़ाने तथा बालिका शिक्षा पर जोर देने लगे हैं। वे जानते हैं कि उनके देश में पूंजी निवेश को सुनिश्चित करने के लिए शिक्षित कामगारों की सख्त जरूरत है। पूरी दुनिया में भाषाई कुशलता, गणितीय सोच, वैज्ञानिक तर्क, कम्प्यूटर प्रोग्रामिंग आदि उच्च क्षमताओं की मांग बढ़ी है और यह देखने को मिल रहा है कि ऐसे कार्यों मैं दक्ष लोगों को अन्य कामगारों से काफी अधिक आमदनी मिल पाती है। आँकडे यह बताते हैं कि कोई भी व्यक्ति जो अपनी उच्च शिक्षा में धन निवेश करता है उसे प्रति रुपया अन्य व्यक्तियों की तुलना में अधिक आय मिलती है। इस कारण विश्वभर में प्राथमिक शिक्षा तथा विज्ञान व गणित शिक्षा को अधिक महत्व दिया जा रहा है और साथ ही अंग्रेज़ी शिक्षा को भी। इस कारण इन विषयों की उच्च शिक्षा के लिए होड़ बढ़ रही है। इस शिक्षा को वे ही छात्र हासिल कर पाते हैं जो पहले से संपन्न हैं और आमतौर पर अधिक फीस वाले निजी शालाओं में पढ़े हैं। इस तरह शिक्षा में असमानता पाटने की क्षमता होने के बावजूद असमानता ही बढ़ रही है।

वैश्वीकरण का तीसरा प्रभाव है विभिन्न शिक्षा व्यवस्थाओं के बीच तुलना और यह प्रयास कि सारे देशों की शिक्षा अंतर्राष्ट्रीय मापदण्डों के अनुरूप चलें। आज के दौर में यह माना जा रहा है कि शिक्षा संबंधी आँकडों से हम शिक्षा की गुणवत्ता की जाँच कर सकते हैं और इसके आधार पर उपचारात्मक कदम उठा सकते हैं। इस कारण दुनियाभर में शिक्षा संबंधी जानकारी व आँकड़ें एकत्रित करने पर अत्यधिक जोर दिया जा रहा है और यह भी प्रयास है कि ये आंकड़ें अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर तुलनीय हो। इसके तहत छात्रों की उपलब्धि का आंकलन काफी महत्वपूर्ण होता जा रहा है। इनके आधार पर यह देखा जाता है कि शिक्षा में कितनी लागत आ रही है और इससे क्या उपलब्धि हासिल हो रही है। यह पूरे राष्ट्रीय शिक्षा तंत्र के नीतियों के लिए और साथ–साथ शाला स्तर पर सुधार के लिए उपयोगी माना जा रहा है। इस बात को लेकर जरूर बहस चल रही है कि इस तरह के आँकड़ें किस हद तक शैक्षिक गुणवत्ता का आंकलन कर सकते हैं और इन आंकड़ों की विश्वस्नीयता कैसे सुनिश्चित करें और क्या ऐसे आंकड़े इकट्ठा करने से छात्रों की उपलब्धि स्तर में कोई सुधार आता है।

❁❁❁❄❁❁❁

इकाई क. 2 – आधुनिक विश्व और शाला का स्वरूप

पठन सामग्री क्र. 5

लोकतंत्र क्या ? लोकतंत्र क्यों ?

लोकतंत्र क्या है? इसकी विशेषताएँ क्या है? इस पठन सामग्री में हम बहुत सरल परिभाषा से शुरूआत करेंगे फिर हम बारी–बारी से इन बिंदुओं का व्यावहारिक अर्थ जानेंगे। यहाँ हमारा उद्देश्य किसी भी सरकार के लोकतांत्रिक होने की न्यूनतम विशेषताओं को चिन्हित करना है। यह अध्याय पढ़ लेने के बाद हम लोकतांत्रिक और गैर–लोकतांत्रिक शासन में अंतर कर सकते हैं। अध्याय के अंत में हम इस न्यूनतम लक्ष्य से आगे बढ़कर लोकतंत्र की वृहत्तर परिभाषा पर आएँगे।

समकालीन दुनिया में लोकतंत्र ही सबसे लोकप्रिय शासन पद्धति है। पर ऐसा क्यों है ? कौन–सी चीज़ इसे दूसरी व्यवस्थाओं से बेहतर बनाती है? क्या यही शासन की सर्वोत्तम व्यवस्था है?

लोकतंत्र क्या है ?

जिन शासन व्यवस्थाओं को या जिन देशों को हम लोकतांत्रिक कहते हैं क्या उन सभी देशों की सरकारों के बारे में कुछ विशेषताएँ याद कर सकते हैं? यदि हाँ तो उन सरकारों के बारे में कुछ सामान्य विशेषताएँ लिखें :

लोकतांत्रिक सरकारें

गैर–लोकतांत्रिक सरकारें

परिभाषा की ज़रूरत क्यों?

आगे बढ़ने से पहले, आइए सबसे पहले एक मेधावी छात्रा मेरी की आपत्ति पर गौर किया जाए। वह लोकतंत्र को परिभाषित करने के इस तरीके को पसंद नहीं करती और कुछ बुनियादी सवाल पूछना चाहती है। उसकी अध्यापिका लिंगदोह ने उसके सवालों का जवाब देना शुरू किया तो कक्षा की अन्य छात्राएँ भी इस चर्चा में भाग लेने लगीं।

मेरी : मैडम, मुझे यह तरीका ठीक नहीं लगता। एक अध्याय तो किस्सों और लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं की चर्चा में लगा दिया और अब आकर हम लोकतंत्र का मतलब जानने की कोशिश कर रहे हैं। मेरे कहने का मतलब है कि इस काम को ही हमें पहले करना था और पहले अध्याय वाली पढ़ाई अब। क्या ऐसा ठीक नहीं होता ?

लिंगदोह मैडम : तुम्हारी बातों में दम है। पर क्या हम अपने सामान्य जीवन में भी ऐसा ही नहीं करते? क्या हम कलम, बरसात या प्रेम जैसे शब्दों का उपयोग करने के पहले इनकी परिभाषा स्पष्ट करना जरूरी मानते हैं? जरा सोचो, क्या हमारे पास इन शब्दों की बहुत स्पष्ट और सर्वमान्य परिभाषा है? शब्दों का उपयोग करके ही हम उनका अर्थ जानते हैं।

मेरी : फिर परिभाषा की ज़रूरत ही क्यों है?

लिंगदोह मैडम : हमें परिभाषा की ज़रूरत तभी पड़ती है जब हमें किसी शब्द का उपयोग करने में परेशानी होती है। हमें बारिश की परिभाषा की ज़रूरत तभी होती है जब हमें बूँदा–बाँदी और बादल फटने जैसी स्थिति और सामान्य बरसात में फर्क करना हो। लोकतंत्र पर भी यही बात लागू होती है। हमें इसके लिए भी स्पष्ट परिभाषा की जरूरत है क्योंकि लोग इस शब्द का प्रयोग अलग–अलग अर्थों के लिए करते हैं, बहुत अलग–अलग तरह की सरकारें भी खुद को लोकतांत्रिक ही कहती हैं।

रिबियांग : लेकिन हमें परिभाषा बनाने की ज़रूरत ही क्या है ? एक दिन आपने हमें अब्राहम लिंकन का एक वाक्य सुनाया था : ''जनता का जनता के लिए जनता द्वारा चलने वाली शासन व्यवस्था ही लोकतंत्र है।'' मेघालय में हम स्वयं पर राज करते रहे हैं। इसे सभी लोग मानते भी हैं । हमें इसमें बदलाव करने की क्या ज़रूरत है?

लिंगदोह मैडम : मैं यह नहीं कहती कि इसमें बदलाव करने की ज़रूरत है। मुझे भी यह परिभाषा बहुत सुंदर लगती है। जब तक हम इस मसले पर खुद से विचार न करें तब तक यह तय करना मुश्किल होगा कि लोकतंत्र की यही सर्वोत्तम परिभाषा है। हमें किसी चीज को सिर्फ़ इसी आधार पर स्वीकार नहीं कर लेना चाहिए कि किसी बहुत नामी–गिरामी आदमी ने उसके लिए कुछ बहुत अच्छा कहा है या सभी लोग उसे सही मानते हैं।

योलांदा : मैडम, क्या मैं कुछ कह सकती हूँ ? हमें कोई परिभाषा तलाशने की ज़रूरत नहीं है। मैंने कहीं पढ़ा है कि 'डेमोक्रेसी' यूनानी शब्द 'डेमोक्रेशिया' से बना है। यूनानी में 'डेमोस' का अर्थ होता है 'लोग' और 'क्रेशिया' का अर्थ होता है 'शासन'। इस प्रकार डेमोक्रेसी अर्थात् लोकतंत्र का अर्थ है लोगों का शासन। यही सही अर्थ है। फिर परिभाषा की क्या जरूरत है?

लिंगदोह मैडम : इस सवाल पर विचार करने का यह भी बहुत उपयोगी तरीका है। पर मैं इतना कहूँगी कि सिर्फ शब्द की उत्पत्ति से उसकी परिभाषा निकालने का तरीका हरदम उपयोगी नहीं रहता। शब्द का अर्थ हमेशा अपने मूल से जुड़ा या बंधा नहीं रहता। समय और प्रयोग के साथ–साथ उसका अर्थ बदलता भी रहता हैं अब कंप्यूटर शब्द को ही लो। यह कंप्यूटिंग अर्थात् गणना शब्द से बना है। मुश्किल गणनाओं को सरलता से करने के लिए बने यंत्र को ही कम्प्यूटर कहा जाता था। दरअसल ये बहुत शक्तिशाली कैलकुलेटर थे। पर आज शायद ही कोई इस अर्थ में कंप्यूटर शब्द का प्रयोग करता है। अब तो कंप्यूटर का उपयोग लिखने, पढ़ने डिजाइन बनाने, संगीत बनाने–सुनने और फिल्म देखने में होता है। शब्द वही रहते हैं पर समय बीतने के साथ उनका अर्थ बदल सकता है ऐसी स्थिति में सिर्फ शब्दों के मूल अर्थ पर ही भरोसा करना बहुत उपयोगी नहीं होता।

मेरी : मैडम, आपके कहने का मतलब यह है कि इस विषय पर खुद सोचने का कोई शॉर्टकट नहीं है। हमें इसके अर्थ पर गौर करना ही होगा और इसकी परिभाषा गढ़नी होगी।

लिंगदोह मैडम : एकदम सही। इसलिए आओ अब यह काम कर ही डालें।

मैने तो यह भी सुना है कि लोकतंत्र एक ऐसी व्यवस्था है जहाँ लोक पर तंत्र हावी रहता है। इसके बारे में क्या राय है ?

खुद करें, खुद सीखें

आइए लिंगदोह मैडम की बात को गंभीरता से लें और कलम, बारिश और प्रेम जैसे सदा प्रयोग होने वाले साधारण शब्दों की ठीक–ठीक परिभाषा लिखने की कोशिश करें। जैसे, क्या कलम की कोई ऐसी स्पष्ट परिभाषा है जो उसे पेंसिल, ब्रुश, हाईलाइटर या मार्कर से अलग बताती हो?

इस प्रयोग से आपने क्या सीखा ?

लोकतंत्र का अर्थ समझने में इस अनुभव ने हमें क्या–क्या सिखाया ?

एक सरल परिभाषा

आइए, खुद को लोकतांत्रिक बताने का दावा करने वाली सरकारों के बीच की समानताओं और असमानताओं से जुड़ी बातों पर चर्चा कर उन पर गौर करें। हम एक सरल परिभाषा से शुरूआत कर सकते हैं। **लोकतंत्र शासन का एक ऐसा रूप है जिसमें शासकों का चुनाव लोग करते हैं।**

यह एक उपयोगी शुरूआत है। यह परिभाषा बहुत स्पष्ट ढंग से लोकतांत्रिक और गैर–लोकतांत्रिक शासन व्यवस्थाओं में अंतर कर देती है। म्यांमार के सैनिक शासकों का चुनाव लोगों ने नहीं किया है। जिन लोगों का सेना पर नियंत्रण था वे देश के शासक बन गए। शासक के फैसलों में लोगों की कोई भागीदारी नहीं है। पिनोशे जैसे तानाशाहों का चुनाव लोग नहीं करते। यही बात राजशाहियों पर भी लागू होती है। नेपाल के राजा और सऊदी अरब के शाह लोगों द्वारा शासक नहीं चुने गए हैं बल्कि राजपरिवार में जन्म लेने के कारण उन्होंने यह हक पाया है।

कार्टून बूझें–

इराक में अमेरिका और अन्य विदेशी शक्तियों की उपस्थिति में हुए चुनाव के समय यह कार्टून बना था। यह कार्टून क्या कहता है ? इसमें डेमोक्रेसी को इस तरह क्यों लिखा गया है ?

लेकिन यह सरल परिभाषा पूर्ण या पर्याप्त नहीं है। इससे हमें यह समझ में आता है कि लोकतंत्र का मतलब लोगों का शासन है। पर इस परिभाषा का प्रयोग यदि हमने बिना सोचे–समझे किया तो फिर उन सभी सरकारों को लोकतांत्रिक कहना पड़ेगा जो चुनाव करवाती हैं और फिर हम सही नतीजे पर नहीं पहुँच पाएँगे। समकालीन दुनिया की हर सरकार, चाहे वह लोकतांत्रिक हो या न हो, खुद को लोकतांत्रिक कहना, कहलाना चाहती है। इसलिए हमें असली लोकतंत्र और दिखावटी लोकतंत्र वाली सरकारों के बीच सावधानीपूर्वक फ़र्क करना होगा। यह काम हम तभी कर पाएँगे जब हम इस परिभाषा के एक–एक शब्द को सावधानी से समझें और लोकतांत्रिक सरकार की विशेषताओं को जानें।

लोकतंत्र की विशेषताएँ

हमने इस सरल परिभाषा के साथ शुरूआत की है कि लोकतंत्र शासन का एक रूप है जिसमें जनता शासकों का चुनाव करती है। इससे अनेक सवाल उठ खड़े होते हैं :

इस परिभाषा के अनुसार शासक कौन हैं? किसी सरकार को लोकतांत्रिक कहे जाने के लिए उसके किन अधिकारियों का चुना हुआ होना आवश्यक है। लोकतंत्र में वे कौन–से फैसले हैं जो बिना चुने हुए अधिकारी भी ले सकते हैं ?

किस तरह के चुनाव को लोकतांत्रिक चुनाव कहते हैं? किसी चुनाव को लोकतांत्रिक कहने के लिए किन शर्तों को पूरा किया जाना जरूरी है?

कौन लोग शासकों का चुनाव कर सकते हैं या खुद शासक चुने जा सकते हैं? क्या इसमें प्रत्येक नागरिक का बराबरी की हैसियत से भाग लेना जरूरी है? क्या कोई लोकतांत्रिक व्यवस्था अपने कुछ नागरिकों को इस अधिकार से वंचित कर सकती है?

सरकार के किस स्वरूप को लोकतांत्रिक कहेंगे? क्या चुने हुए शासक लोकतंत्र में अपनी मर्जी से सब कुछ कर सकते हैं या लोकतांत्रिक सरकार के लिए कुछ लक्ष्मणरेखाओं में बंधकर काम करना जरूरी है? क्या लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था को नागरिकों के कुछ अधिकारों का आदर करना चाहिए ?

आइए, कुछ उदाहरणों के साथ इन सब पर बारी–बारी से विचार करें।

प्रमुख फैसले निर्वाचित नेताओं के हाथ

पाकिस्तान में जनरल परवेज मुशर्रफ़ ने अक्टूबर 1999 में सैनिक तख्तापलट की अगुवाई की। उन्होंनें लोकतांत्रिक ढंग से चुनी हुई सरकार को उखाड़ फेंका और खुद को देश का 'मुख्य कार्यकारी घोषित किया। बाद में उन्होंने खुद को राष्ट्रपति घोषित किया और 2002 में एक जनमत संग्रह कराके अपना कार्यकाल पाँच साल के लिए बढ़वा लिया। अगस्त 2002 में उन्होंने 'लीगल फ्रेमवर्क ऑर्डर' के ज़रिए पाकिस्तान के संविधान को बदल डाला। इस ऑर्डर के अनुसार राष्ट्रपति, राष्ट्रीय और प्रांतीय असेंबलियों को भंग कर सकता था।

कार्टून बूझें

सीरिया पश्चिम एशिया का एक छोटा सा देश है। शासक बाथ पार्टी और उसकी कुछ सहयोगी पार्टियों को ही देश में राजनैतिक गतिविधियों की अनुमति है

इस कानून के पास हो जाने के बाद राष्ट्रीय और प्रांतीय असेंबलियों के लिए चुनाव कराए गए। इस प्रकार पाकिस्तान में चुनाव भी हुए, चुने हुए प्रतिनिधियों को कुछ अधिकार भी मिले लेकिन सर्वोच्च सत्ता सेना के अधिकारियों और जनरल मुशर्रफ के पास बना रहा।

स्पष्ट है कि जनरल मुशर्रफ के शासन वाले पाकिस्तान को लोकतंत्र न कहने के अनेक ठोस कारण हैं। लेकिन यहाँ सिर्फ एक कारण पर ही चर्चा करते हैं। क्या हम कह सकते हैं कि पाकिस्तान के लोगों ने अपने शासकों का चुनाव किया ? पर ऐसा नहीं कह सकते। लोगों ने राष्ट्रीय और प्रांतीय असेंबलियों के लिए अपने प्रतिनिधियों का चुनाव किया। लेकिन चुने हुए प्रतिनिधि वास्तविक शासक नहीं थे। वे अंतिम फैसला नहीं कर सकते थे। अंतिम फैसला सेना के अधिकारियों और जनरल मुशर्रफ के हाथ में था जो जनता द्वारा नहीं चुने गए थे। ऐसा तानाशाही और राजशाही वाली अनेक शासन व्यवस्थाओं में होता है। वहाँ औपचारिक रूप से चुनी हुई संसद और सरकार तो होती है पर असली सत्ता उन लोगों के हाथ में होती है जिन्हें जनता नहीं चुनती। क्या इसे लोगों का शासन कहा जा सकता है ?

स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनावी मुकाबला

चीन की संसद के लिए प्रति पाँच वर्ष बाद नियमित रूप से चुनाव होते हैं इस संसद को देश का राष्ट्रपति नियुक्त करने का अधिकार है। इसमें पूरे चीन के करीब 3000 सदस्य आते हैं। चुनाव लड़ने से पहले सभी उम्मीदवारों को चीनी कम्युनिस्ट पार्टी से मंजूरी लेनी होती है। 2002–03 में हुए चुनावों में सिर्फ कम्यूनिस्ट पार्टी और उससे संबद्ध कुछ छोटी पार्टियों के सदस्यों को ही चुनाव लड़ने की अनुमति मिली। सरकार सदा कम्युनिस्ट पार्टी की ही बनती है। क्या यह लोकतांत्रिक व्यवस्था है?

1930 में आजाद होने के बाद से मैक्सिकों में हर छः वर्ष बाद राष्ट्रपति चुनने के लिए चुनाव कराए जाते हैं। देश में कभी भी फौजी शासन या तानाशाही नहीं आई। लेकिन सन् 2000 तक हर चुनाव में एक पार्टी को ही जीत मिलती थी। विपक्षी दल चुनाव में हिस्सा लेते थे पर कभी भी जीत हासिल नहीं होती थी। सरकारी दफ्तरों में काम करने वाले सभी लोगों के लिए पार्टी की बैठकों में जाना अनिवार्य था। सरकारी स्कूलों के अध्यापक अपने छात्र–छात्राओं के माँ–बाप से सम्बंधित पार्टी के लिए वोट देने को कहते थे। मीडिया भी जब–तब विपक्षी दलों की आलोचना करने के अलावा उनकी गतिविधियों को नजरअंदाज ही करती थी। कई बार एकदम अंतिम क्षणों में मतदान केंद्रों को एक जगह से हटाकर दूसरी जगह कर दिया जाता था जिससे अनेक लोग वोट ही नहीं डाल पाते थे।

क्या हम ऊपर वर्णित चुनावों को लोगों द्वारा अपना शासक चुनने का उदाहरण मान सकते हैं? इन उदाहरणों को पढ़ने के बाद तो यही लगता है कि हम ऐसा नहीं कह सकते। यहाँ काफी सारी समस्याएँ है। चीन के चुनावों में लोगों के सामने कोई वास्तविक और गंभीर विकल्प ही नहीं होता। लोगों को शासक दल या उसके द्वारा स्वीकृत उम्मीदवारों को ही वोट देना होता है। क्या हम इसे मनपसंद चुनाव कह सकते हैं? मैक्सिकों के मामले में ऐसा लगता है कि कहने को विकल्प होते हुए भी असल में वहाँ की जनता के पास कोई दूसरा विकल्प न था। किसी भी तरह वहाँ शासक दल को पराजित नहीं किया जा सकता था, लोगों के चाहने पर भी नहीं। वहाँ हुए चुनाव निष्पक्ष नहीं थे।

इस प्रकार अब हम लोकतंत्र की अपनी समझ में एक अन्य विशेषता या गुण को जोड सकते हैं लोकतंत्र के लिए सिर्फ चुनाव कराना ही पर्याप्त नहीं होता। चुनाव में एक से ज्यादा असली राजनैतिक विकल्पों के बीच चुनने की स्थिति भी होनी चाहिए। लोगों के पास यह विकल्प रहना चाहिए कि वे चाहें तो शासक दल को गद्‌दी से उतार दें। इस प्रकार, लोकतंत्र निष्पक्ष और स्वतंत्र चुनावों पर आधारित होना चाहिए ताकि सत्ता में बैठे लोगों के लिए जीत–हार के समान अवसर हों।

एक व्यक्ति–एक वोट–एक मोल

लोकतंत्र के लिए होने वाला संघर्ष सार्वभौम वयस्क मताधिकार के साथ जुड़ा हुआ होता है। अब इस सिद्धांत को लगभग पूरी दुनिया में मान लिया गया है। पर किसी व्यक्ति को मतदान के समान अधिकार से वंचित करने के उदाहरण भी कम नहीं है।

- सऊदी अरब में औरतों को वोट देने का अधिकार नहीं हैं।
- एस्टोनिया ने अपने यहाँ नागरिकता के नियम कुछ इस तरह से बनाए हैं कि रूसी अल्पसंख्यक समाज के लोगों को मतदान का अधिकार हासिल करने में मुश्किल होती है।
- फिजी की चुनाव प्रणाली में वहाँ के मूल वासियों के वोट का महत्व भारतीय मूल के फिजी नागरिक के वोट से ज्यादा है।

लोकतंत्र राजनैतिक समानता के बुनियादी सिद्धांत पर आधारित है। इस प्रकार हम लोकतंत्र की तीसरी विशेषता को जान लेते हैं : लोकतंत्र में हर वयस्क नागरिक का एक वोट होना चाहिए और हर वोट का एक समान मूल्य होना चाहिए।

शासकों के लिए बार–बार जनादेश पाना लोकतंत्र की एक जरूरत है पर इतना ही पर्याप्त नहीं है। लोकप्रिय नेता भी अलोकतांत्रिक हो सकते हैं। लोकप्रिय नेता भी तानाशाह हो सकते हैं। अगर हम लोकतंत्र को परखना चाहते हैं तो चुनावों पर नजर डालना जरूरी है। पर उतना ही जरूरी है कि चुनाव के पहले और बाद की स्थितियों पर भी नजर डाली जाए। चुनाव के पहले सत्ता पक्ष के विरोधी समूहों के कामकाज समेत सभी तरह की राजनैतिक गतिविधियों के लिए पर्याप्त गुंजाइश रहनी चाहिए। इसके लिए जरूरी है कि सरकार नागरिकों के कुछ बुनियादी अधिकारों का आदर करें। उनकों सोचने की, अपनी राय को बनाने की, सार्वजनिक रुप से अपने विचार व्यक्त करने की, संगठन बनाने की, विरोध करने और अन्य राजनैतिक गतिविधियाँ करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। कानून की नजर में सभी लोगों की समानता होनी चाहिए। इन अधिकारों की रक्षा स्वतंत्र न्यायपालिका को करनी चाहिए जिसके आदेशों का पालन सब लोग करते हों।

इसी प्रकार कुछ दूसरी शर्तें हैं जो चुनाव के बाद सरकार चलाने के तौर–तरीकों पर लागू होती है। एक लोकतांत्रिक सरकार सिर्फ इस कारण से मनमानी नहीं कर सकती कि उसने चुनाव जीता है। उसे भी कुछ बुनियादी तौर–तरीकों का पालन करना होता है। खास तौर से उसे अल्पमत वाले समूहों को दी गई कुछ गारंटियों का आदर करना होता है। हर प्रमुख फैसला लंबे विचार–विमर्श के बाद लेना होता है। हर पदाधिकारी को उस पद के साथ जुड़े अधिकार और जिम्मेदारियाँ संविधान द्वारा दी जाती हैं। ये सभी न सिर्फ जनता के प्रति उत्तरदायी हैं बल्कि अन्य स्वतंत्र अधिकारियों के प्रति भी उनकी जवाबदेही होती है।

इस प्रकार हम लोकतंत्र की चौथी और अंतिम विशेषता को रेखांकित कर सकते हैं : एक लोकतांत्रिक सरकार संवैधानिक कानूनों और नागरिक अधिकारों द्वारा खींची लक्ष्मण रेखाओं के भीतर ही काम करती है।

परिभाषाओं का सारांश

- आइए, अब तक हुई चर्चा को समेटें। हमने लोकतंत्र की इस सरल सी परिभाषा से बात शुरू की थी कि लोकतंत्र सरकार का एक ऐसा रूप है जिसमें शासकों का चुनाव लोग करते हैं। हमने पाया कि जब तक हम इसके कुछ प्रमुख शब्दों के बारे में और स्पष्ट न हो जाएँ, यह परिभाषा पर्याप्त नहीं है। अनेक उदाहरणों के जरिए हमने शासन के एक तरीके के रूप में लोकतंत्र की चार विशेषताओं को रेखांकित किया। इनके अनुसार लोकतंत्र शासन का एक ऐसा रूप है जिसमें :
- लोगों द्वारा चुने गए शासक ही सारे प्रमुख फैसले करते हैं ;
- चुनाव लोगों के लिए निष्पक्ष अवसर और इतने विकल्प उपलब्ध कराता है कि वे चाहें तो मौजूदा शासकों को बदल सकते हैं ;
- यह विकल्प और अवसर सभी लोगों को समान रूप से उपलब्ध हों; और
- इस चुनाव से बनी सरकार संविधान द्वारा तय बुनियादी कानूनों और नागरिक अधिकारों के दायरे को मानते हुए काम करती है।

लोकतंत्र ही क्यों ?

मैडम लिंगदोह की कक्षा में एक बहस शुरू हुई थी। उन्होंने इस अध्याय को यहाँ तक पढ़ाने के बाद छात्रों से पूछा कि क्या उन्हें लोकतंत्र ही शासन का सबसे अच्छा स्वरूप लगता है। इस सवाल पर सबने कोई न कोई टिप्पणी की।

लोकतंत्र के गुणों पर चर्चा

योलांदा : हम लोकतांत्रिक देश में रहते हैं। हमने पिछले अध्याय में पढ़ा कि दुनिया भर में सभी जगह लोग लोकतंत्र चाहते हैं । जिन देशों में पहले लोकतांत्रिक शासन प्रणाली नहीं थी वहाँ भी अब इसे अपनाया जा रहा है। सभी महान लोगों ने लोकतंत्र के बारे में अच्छी–अच्छी बातें कही हैं। क्या इतने से ही यह स्पष्ट नहीं हो जाता कि लोकतंत्र सबसे अच्छा है? क्या अब भी इस पर बहस करने की ज़रूरत है ?

तांगकिनी : लेकिन लिंगदोह मैडम ने तो कहा था कि हमें किसी चीज को सिर्फ इसलिए नहीं मान लेना चाहिए कि बाकी सभी ने उसे मान लिया हैं । क्या ऐसा नहीं हो सकता कि बाकी सभी लोग गलत रास्ते पर जा रहे हों?

जेनी : हाँ, यह गलत रास्ता ही है। लोकतंत्र ने हमारे देश को क्या दे दिया है ? आधी सदी से ज्यादा समय से लोकतंत्र है और तब भी देश में इतनी अधिक गरीबी है।

रिबियांग : लेकिन लोकतंत्र इसमें क्या कर सकता है? क्या हमारे यहाँ लोकतंत्र के कारण गरीबी है या फिर लोकतंत्र होने के बावजूद भी गरीबी है ?

जेनी : जो भी है, इससे क्या फर्क पड़ता है ? मुद्दा यह है कि हम इसे शासन का सर्वश्रेष्ठ रूप नहीं मान सकते। लोकतंत्र का मतलब है अराजकता, अस्थिरता, भ्रष्टाचार और दिखावा। राजनेता आपस में ही लड़ते रहते हैं। देश की परवाह किसे हैं?

पाइमोन : तो फिर इसकी जगह कौन–सी प्रणाली होनी चाहिए? क्या अंग्रेजी शासन वापस लाया जाए? या बाहर से किसी राजा को देश पर शासन के लिए बुलाया जाए?

रोज़ : पता नहीं। पर मुझे लगता है कि देश को एक मजबूत नेता की जरूरत है–ऐसे नेता की जिसे चुनाव की, संसद की परवाह न हो। एक ही नेता के पास सारे अधिकार हों। देश के हित में जो कुछ जरूरी हो वह सब करने में उसे सक्षम होना चाहिए। सिर्फ इसी से देश से गरीबी और भ्रष्टाचार खत्म होंगे।

कोई पीछे से चिल्लाया : इसी को तानाशाही कहते हैं।

दोई : अगर वह व्यक्ति सत्ता का उपयोग सिर्फ अपने लिए और अपने परिवार के लिए करने लगे तो क्या होगा? अगर वह खुद भ्रष्ट हो तब?

रोज़ : मैं सिर्फ ईमानदार, संजीदा और मजबूत नेता की बात कर रही हूँ।

दोई : यह ठीक नहीं है। तुम वास्तविक लोकतंत्र की तुलना आदर्श तानाशाही के साथ कर रही हो। हमें आदर्श की तुलना आदर्श के साथ और वास्तविक की तुलना वास्तविक से करनी चाहिए। जरा तानाशाहों के वास्तविक जीवन के बारे में पढ़ों। वे सबसे ज्यादा भ्रष्ट, स्वार्थी और क्रूर होते हैं। होता सिर्फ यह है कि हमें उनके बारे में जानकारियाँ उपलब्ध नहीं हो पातीं। और, सबसे बड़ी गड़बड़ तो यह है कि आप उन्हें सत्ता से हटा भी नहीं सकते।

मैडम लिंगदोह इस चर्चा को पूरी दिलचस्पी से सुन रही थीं। अब उन्होंने हस्तक्षेप किया : ''तुम सब लोग इतने मगन होकर इस बहस में लगे थे यह देखकर मुझे खुशी हुई। मुझे नहीं मालूम कौन सही है, कौन गलत है। यह तो आप लोग सुलझाएँ। पर मुझे लगा कि आप खुले दिमाग से बातें कर रहे थे। अगर किसी ने आपको रोकने की कोशिश की होती या आपको अपनी बात कहने के लिए सजा दी होती तो निश्चित रूप से आपको बहुत बुरा लगता। क्या आप ऐसा उस देश में कर सकते हैं जहाँ लोकतंत्र न हो? क्या यह लोकतंत्र के पक्ष में एक अच्छा तर्क है?''

लोकतंत्र के खिलाफ़ तर्क

इस चर्चा में लोकतंत्र के खिलाफ़ वे अधिकांश तर्क सामने आ गए हैं जिन्हें हम आम तौर पर सुनते हैं ये तर्क कुछ इस प्रकार के होते हैं :

- लोकतंत्र में नेता बदलते रहते हैं। इससे अस्थिरता पैदा होती है।

- लोकतंत्र का मतलब सिर्फ राजनैतिक लड़ाई और सत्ता का खेल है। यहाँ नैतिकता की कोई जगह नहीं होती।
- लोकतांत्रिक व्यवस्था में इतने सारे लोगों से बहस और चर्चा करनी पड़ती है कि हर फैसले में देरी होती है।
- चुने हुए नेताओं को लोगों के हितों का पता ही नहीं होता। इसके चलते खराब फैसले होते हैं।
- लोकतंत्र में चुनावी लड़ाई महत्वपूर्ण और खर्चीली होती है, इसीलिए इसमें भ्रष्टाचार होता है।
- सामान्य लोगों को पता नहीं होता कि उनके लिए क्या चीज अच्छी है और क्या चीज बुरी; इसलिए उन्हें किसी चीज का फैसला नहीं करना चाहिए।

निश्चित रूप से लोकतंत्र सभी समस्याओं को खत्म करने वाली जादू की छड़ी नहीं है। लोकतंत्र ने हमारे देश में या दुनिया के अन्य हिस्सों में भी गरीबी नहीं मिटाई है। सरकार के स्वरूप के तौर पर लोकतंत्र सिर्फ इसी बुनियादी चीज को देखता है कि लोग अपने बारे में खुद फैसले करें। इससे इस बात की गारंटी नहीं हो जाती कि उनके सभी फैसले अच्छे ही होंगे। लोग गलतियाँ भी कर सकते हैं इन फैसलों में लोगों को भागीदार बनाने से फैसलों में देरी होती है। यह भी सही है कि लोकतंत्र में जल्दी–जल्दी नेतृत्व परिवर्तन होता है। कई बार बड़े फैसलों और सरकार की कार्यकुशलता पर भी इसका बुरा असर होता है।

इन तर्कों से यह लगता है कि हम लोकतंत्र का जो रूप देखते हैं वह सरकार का आदर्श स्वरूप नहीं हो सकता है। पर वास्तविक जीवन में हमारे सामने यह सवाल नहीं होता। वहाँ सवाल यह होता है कि क्या हमारे पास सरकार के स्वरूपों के जो विकल्प उपलब्ध हैं उनमें लोकतंत्र किसी भी दूसरे से बेहतर हैं?

लोकतंत्र के पक्ष में तर्क

चीन में 1958–61 के दौरान पड़ा अकाल विश्व इतिहास का अब तक ज्ञात सबसे भयावह अकाल था। इसमें करीब तीन करोड़ लोग भूख से मरे। उन दिनों भारत की आर्थिक स्थिति चीन से कोई बहुत अच्छी नहीं थी। फिर भी भारत में चीन के समान अकाल और भुखमरी की स्थिति नहीं आई। अर्थशास्त्रियों का मानना है कि ऐसा दोनों देशों की सरकारी नीतियों के अंतर के कारण हुआ। भारत में लोकतांत्रिक व्यवस्था होने से भारत सरकार ने खाद्य सुरक्षा के मामले में जिस तरह से काम किया है वैसा करने की जरूरत चीनी सरकार ने महसूस नहीं की। अर्थशास्त्रियों का यह भी कहना है कि किसी भी स्वतंत्र और लोकतांत्रिक देश में कभी भी बड़ा अकाल और बड़ी संख्या में भुखमरी नहीं हुई है। अगर चीन में भी बहुदलीय चुनावी व्यवस्था होती, विपक्षी दल होता और सरकार की आलोचना कर सकने वाली स्वतंत्र मीडिया होती तो इतने सारे लोग भूख से नहीं मर सकते थे।

यह उदाहरण लोकतंत्र को सर्वश्रेष्ठ शासन पद्धति बताने वाली विशेषताओं में से एक को बहुत स्पष्ट ढंग से सामने लाता है। लोगों की जरूरत के अनुरूप आचरण करने के मामले में लोकतांत्रिक शासन प्रणाली किसी भी अन्य प्रणाली से बेहतर है। गैर–लोकतांत्रिक सरकार लोगों की जरूरतों पर ध्यान दे भी सकती है और नहीं भी, और यह सब सरकार चलाने वालों की मर्जी पर निर्भर करेगा। अगर शासकों को कुछ करने की जरूरत नहीं लगती तो उनको लोगों की इच्छा के अनुरूप काम करने की जरूरत नहीं है। पर लोकतंत्र में यह जरूरी है कि शासन करने वाले, आम लोगों की जरूरतों पर तत्काल ध्यान दें। लोकतांत्रिक शासन पद्धति दूसरों से बेहतर है क्योंकि यह शासन का अधिक जवाबदेही वाला स्वरूप है।

गैर–लोकतांत्रिक सरकारों की तुलना में लोकतांत्रिक सरकारों के बेहतर फैसले करने का एक अन्य कारण भी है। लोकतांत्रिक फैसले में हरदम ज्यादा लोग शामिल होते हैं, चर्चा करके फैसले होते हैं, बैठकें होती हैं। अगर किसी एक मसले पर अनेक लोगों की सोच लगी हो तो उसमें गलतियों की गुंजाइश कम से कम हो जाती है। इसमें कुछ ज्यादा समय जरूर लगता है लेकिन महत्वपूर्ण मसलों पर थोड़ा समय लेकर फैसलें करने के अपने लाभ भी हैं। इससे ज्यादा उग्र या गैर–जिम्मेदार फैसले लेने की संभावना घटती है। इस प्रकार लोकतंत्र बेहतर निर्णय लेने की संभावना बढ़ाता है।

इसी से जुड़ा तीसरा तर्क भी है। लोकतंत्र मतभेदों और टकरावों को संभालने का तरीका उपलब्ध कराता है। किसी भी समाज में लोगों के हितों और विचारों में अंतर होगा ही। भारत की तरह भारी सामाजिक विविधता वाले देश में इस तरह का अंतर और भी ज्यादा होता है। अलग–अलग इलाकों में अलग–अलग समूहों के लोग रहते हैं, विभिन्न भाषाएँ बोलते हैं, उनकी धार्मिक मान्यताएँ अलग–अलग हैं और जातियाँ भी जुदा–जुदा। दुनिया को ये सभी अलग–अलग दृष्टिकोण से देखते हैं और उनकी पसंद में भी अंतर है। एक समूह की पसंद और दूसरे समूह की पसंद में टकराव भी होता है। ऐसे टकराव को कैसे सुलझाएँगे? इसे ताकत के बल पर सुलझाया जा सकता है। जिस समूह के पास ज्यादा ताकत होगी वह दूसरे को दबा देगा और कमजोर समूह को इसे मानना होगा। लेकिन इससे नाराजगी और असंतोष पैदा होगा। ऐसी स्थिति में विभिन्न समूह ज्यादा समय तक साथ नहीं रह सकते। लोकतंत्र इस समस्या का एकमात्र शांतिपूर्ण समाधान उपलब्ध कराता है। लोकतंत्र में कोई भी स्थायी विजेता नहीं होता और कोई स्थायी रूप से पराजित नहीं होता। सो विभिन्न समूह एक–दूसरे के साथ शांतिपूर्ण ढंग से रह सकते हैं। भारत की तरह विविधता वाले देश को लोकतंत्र ही एकजुट बनाए हुए है।

बेहतर सरकार और सामाजिक जीवन पर प्रभाव के हिसाब से ये तीन तर्क लोकतंत्र को काफी मजबूत साबित करते हैं। लेकिन लोकतंत्र के पक्ष में सबसे मजबूत तर्क उससे बनने वाली सरकार के कामकाज से जुड़ा नहीं है। यह तर्क लोकतंत्र और नागरिकों के रिश्ते का है–लोकतंत्र में नागरिकों की जो हैसियत होती है वह किसी और व्यवस्था में नहीं होती। अगर इस व्यवस्था में बेहतर फैसले लेने और उत्तरदायी सरकार चलाने का काम न भी हो तब भी यह दूसरों से बेहतर है। लोकतंत्र नागरिकों का सम्मान बढ़ाता है। लोकतंत्र राजनीतिक समानता के सिद्धांत पर आधारित है, यहाँ सबसे गरीब और अनपढ़ को भी वही दर्जा प्राप्त है जो अमीर और पढ़े–लिखे लोगों को है। लोग किसी शासक की प्रजा न होकर खुद अपने शासक हैं। अगर वे गलतियाँ करते हैं तब भी वे खुद इसके लिए जवाबदेह होते हैं।

लोकतंत्र के पक्ष में आखिरी तर्क यह है कि लोकतांत्रिक व्यवस्था दूसरों से बेहतर है क्योंकि इसमें हमें अपनी गलती ठीक करने का अवसर भी मिलता है। जैसा कि हमने ऊपर देखा है, इस बात की कोई गारंटी नहीं है कि लोकतंत्र में कोई गलती नहीं हो सकती। किसी भी किस्म की सरकार इस बात की गारंटी नहीं दे सकती। इस मामले में लोकतंत्र का लाभ यह है कि इसमें गलतियों को ज्यादा देर तक छुपाए नहीं रखा जा सकता। इन गलतियों पर सार्वजनिक चर्चा की गुंजाइश लोकतंत्र में है। और फिर, इनमें सुधार करने की गुंजाइश भी है। इसका मतलब यह कि या तो शासक समूह अपना फैसला बदले या शासक समूह को ही बदला जा सकता है। गैर–लोकतांत्रिक सरकारों में ऐसा नहीं किया जा सकता।

चलें, अब इस चर्चा को समेटें। लोकतंत्र हमें सब चीज नहीं दे सकता और ना ही यह सभी समस्याओं का समाधान है। लेकिन यह साफ तौर पर उन सभी दूसरी व्यवस्थाओं से बेहतर है जिन्हें हम जानते हैं और दुनिया के लोगों को जिनका अनुभव है। यह अच्छे फेसलों के लिए बेहतर अवसर उपलब्ध कराता है, इसमें लोगों की इच्छाओं का सम्मान किए जाने की ज्यादा संभावना है और इसमें अलग–अलग तरह के लोग ज्यादा बेहतर ढंग से साथ–साथ रह सकते हैं। अगर यह इनमें से कुछ काम करने में असफल रहता है तब भी इसमें गलती सुधारने की संभावना है और इसमें सभी नागरिकों को ज्यादा सम्मान मिलता है। इसी वजह से लोकतंत्र को सबसे अच्छी शासन व्यवस्था माना जाता है।

लोकतंत्र का वृहतर अर्थ

इस अध्याय में हमने लोकतंत्र की एक सीमित और विवरणात्मक शैली में चर्चा की। हमने शासन के एक स्वरूप के तौर पर लोकतंत्र को समझा। लोकतंत्र की इस प्रकार की व्याख्या हमें उन न्यूनतम विशेषताओं या गुणों की पहचान कराती है जो लोकतंत्र की जरूरत है। हमारे समय में लोकतंत्र का सबसे आम रूप है प्रतिनिधित्व वाला लोकतंत्र। हम जिन देशों में लोकतंत्र होने की बात करते हैं वहाँ सभी लोग शासन नहीं चलाते। सभी लोगों की तरफ से बहुमत को फैसले लेने का अधिकार होता है और यह बहुमत भी स्वयं शासन नहीं चलाता। बहुमत का शासन भी चुने हुए प्रतिनिधियों के माध्यम से होता है। यह जरूरी हो जाता है क्योंकि लोकतंत्र शब्द का इस तरह का प्रयोग फैसले लेने के उसके बुनियादी तरीके को उजागर करता है। लोकतांत्रिक फैसले का मतलब होता है, उस फैसले से प्रभावित होने वाले सभी लोगों के साथ विचार–विमर्श के बाद और उनकी स्वीकृति से फैसले लेना यानि जो शक्तिशाली न हो उसका भी किसी फैसले में उतना ही महत्व होना जितना किसी बहुत शक्तिशाली का। यह बात सरकार या परिवार पर भी लागू होती है और किसी अन्य संगठन पर भी। इस प्रकार लोकतंत्र एक ऐसा सिद्धांत है जिसका प्रयोग जीवन के किसी भी क्षेत्र में हो सकता है।

कई बार हम लोकतंत्र शब्द का प्रयोग किसी मौजूदा सरकार के लिए नहीं करके कुछ आदर्शों के लिए करते हैं। इन्हें पाने का प्रयास सभी लोकतांत्रिक शासनों को जरूर करना चाहिए :

- ''इस देश में वास्तविक लोकतंत्र तभी आएगा जब किसी को भी भूखे पेट सोने की जरूरत नहीं रहेगी ।''
- ''लोकतंत्र में प्रत्येक नागरिक को फैसला लेने में समान भूमिका निभानी चाहिए। इसके लिए वोट के समान अधिकार भर की जरूरत नहीं है। हर नागरिक को इसके लिए सूचना की समान उपलब्धता, बुनियादी शिक्षा, बुनियादी संसाधन और पक्की निष्ठा होनी चाहिए।''

इस लेख में हमने लोकतंत्र की व्यापक अवधारणा पर ज्यादा बातें नहीं की है। हमने सिर्फ शासन के एक तरीके के रूप में लोकतंत्र के कुछ बुनियादी संस्थागत स्वरूपों की चर्चा की है। इस समय हमें सिर्फ इतना याद कर लेना जरूरी है कि लोकतंत्र जीवन के अनेक पहलुओं में प्रासंगिक है और लोकतंत्र कई रूप ग्रहण कर सकता है। समानता के आधार पर चर्चा और विचार–विमर्श के बुनियादी सिद्धांत को माना जाए तो लोकतांत्रिक ढंग का फैसला भी कई तरह का हो सकता है। आज की दुनिया में लोकतांत्रिक

शासन व्यवस्था का सबसे आम रूप है लोगों द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों के माध्यम से शासन चलाना। लेकिन जब समुदाय छोटा हो तब लोकतांत्रिक फैसले लेने के दूसरे तरीके भी अपनाए जा सकते हैं। फिर तो सभी लोग साथ बैठकर सीधे वहीं फैसले कर सकते हैं। किसी गांव की ग्रामसभा को इसी तरह काम करना चाहिए। क्या आप लोकतांत्रिक फैसले लेने के कुछ और तरीकों की कल्पना कर सकते हैं?

इसका यह भी मतलब हुआ कि किसी भी देश में आदर्श लोकतंत्र नहीं है। लोकतंत्र की जिन विशेषताओं की चर्चा हमने इस अध्याय में की वे लोकतंत्र की न्यूनतम शर्तें हैं। पर इनसे यह आदर्श लोकतंत्र नहीं बनता। एक आदर्श लोकतंत्र में निर्णय लेने की प्रक्रिया लोकतांत्रिक होनी चाहिए। हर लोकतंत्र को इस आदर्श को पाने का प्रयास करना चाहिए। यह स्थिति एक बार में और एक साथ सभी के लिए हासिल नहीं की जा सकती। इसके लिए लोकतांत्रिक फैसले लेने की प्रक्रिया को बचाए रखने और मजबूत करते जाने की जरूरत होती हैं नागरिक के तौर पर हम जो भी काम करते हैं वह भी हमारे देश के लोकतंत्र को अच्छा या खराब बनाने में मदद करता है। यही लोकतंत्र की ताकत है और यही कमजोरी भी। देश का भविष्य शासकों के कामकाज से भी ज्यादा नागरिकों के कामकाज पर निर्भर करता है।

यही चीज लोकतंत्र को अन्य शासन व्यवस्थाओं से अलग करती है। राजशाही, तानाशाही या एक दल के शासन जैसी अन्य व्यवस्थाओं में सभी नागरिकों को राजनीति में हिस्सेदारी करने की जरूरत नहीं रहती। दरअसल, अधिकांश गैर–लोकतांत्रिक सरकारें चाहती ही नहीं कि लोग राजनीति में हिस्सा लें। लेकिन लोकतांत्रिक व्यवस्था सभी नागरिकों की सक्रिय भागीदारी पर ही निर्भर करती है। इसीलिए लोकतंत्र के बारे में पढ़ाई हो तो लोकतांत्रिक राजनीति पर ही ध्यान केन्द्रित करना चाहिए।

प्रश्नावली

1. यहाँ चार देशों के बारे में कुछ सूचनाएँ हैं। इन सूचनाओं के आधार पर आप इन देशों का वर्गीकरण किस तरह करेंगे? इनके सामने 'लोकतांत्रिक', 'अलोकतांत्रिक' और 'पक्का नहीं' लिखें–
   क. देश क : जो लोग देश के आधिकारिक धर्म को नहीं मानते उन्हें वोट डालने का अधिकार नहीं है।
   ख. देश ख : एक ही पार्टी बीते बीस वर्षों से चुनाव जीतती आ रही है।
   ग. देश ग : पिछले तीन चुनावों में शासक दल को पराजय का मुँह देखना पड़ा।
   घ. देश घ : यहाँ स्वतंत्र चुनाव आयोग नहीं है।

2. यहाँ चार अन्य देशों के बारे में कुछ सूचनाएँ दी गई हैं, इन सूचनाओं के आधार पर इन देशों का वर्गीकरण आप किस तरह करेंगे। इनके आगे 'लोकतांत्रिक' 'अलोकतांत्रिक' और 'पक्का नहीं' लिखें।
   क. देश च : संसद सेना प्रमुख की मंजूरी के बिना सेना के बारे में कोई कानून नहीं बना सकती।
   ख. देश छ : संसद न्यायपालिका के अधिकारों में कटौती का कानून नहीं बना सकती।

ग. देश ज : देश के नेता बिना पड़ोसी देश की अनुमति के किसी और देश से संधि नहीं कर सकते।

घ. देश झ : देश के सारे आर्थिक फैंसले केंद्रीय बैंक के अधिकारी करते हैं जिसे मंत्री भी नहीं बदल सकते।

3. इनमें से कौन–सा तर्क लोकतंत्र के पक्ष में अच्छा नहीं है और क्यों ?

क. लोकतंत्र में लोग खुद को स्वतंत्र और समान मानते हैं।

ख. लोकतांत्रिक व्यवस्थाएँ दूसरों की तुलना में टकरावों को ज्यादा अच्छी तरह सुलझाती हैं।

ग. लोकतांत्रिक सरकारें लोगों के प्रति ज्यादा उत्तरदायी होती हैं।

घ. लोकतांत्रिक देश दूसरों की तुलना में ज्यादा समृद्ध होते हैं।

4. इन सभी कथनों में कुछ चीजें जा लोकतांत्रिक हैं तो कुछ अलोकतांत्रिक। हर कथन में इन चीाजों को अलग–अलग करके लिखें।

क. एक मंत्री ने कहा कि संसद को कुछ कानून पास करने होंगे जिससे विश्व व्यापार संगठन द्वारा तय नियमों की पुष्टि हो सके।

ख. चुनाव आयोग ने एक चुनाव क्षेत्र के सभी मतदान केंद्रों पर दोबारा मतदान का आदेश दिया जहाँ बड़े पैमाने पर मतदान में गड़बड़ की गई थी।

ग. संसद में औरतों का प्रतिनिधित्व कभी भी 10 प्रतिशत तक नहीं पहुँचा है। इसी के कारण महिला संगठनों ने संसद में एक–तिहाई आरक्षण की माँग की है।

5. लोकतंत्र में अकाल और भुखमरी की संभावना कम होती है। यक तर्क देने का इनमें से कौन–सा कारण सही नहीं है?

क. विपक्षी दल भूख और भुखमरी की ओर सरकार का ध्यान दिला सकते हैं।

ख. स्वतंत्र अखबार देश के विभिन्न हिस्सों में अकाल की स्थिति के बारे में खबरें दे सकते हैं।

ग. सरकार को अगले चुनाव में अपनी पराजय का डर होता है।

घ. लोगों को कोई भी तर्क मानने और उस पर आचरण करने की स्वतंत्रता है।

6. किसी जिले में 40 ऐसे गाँव हैं जहाँ सरकार ने पेयजल उपलब्ध कराने का कोई इंतजाम नहीं किया है। इन गाँवों के लोगों ने एक बैठक की और अपनी जरूरतों की ओर सरकार का ध्यान दिलाने के लिए कई तरीकों पर विचार किया। इनमें से कौन–सा तरीका लोकतांत्रिक नहीं है ?

क. अदालत में पानी को अपने जीवन के अधिकार का हिस्सा बताते हुए मुकदमा दायर करना।

ख. अगले चुनाव का बहिष्कार करके सभी पार्टियों को संदेश देना।

ग. सरकारी नीतियों के खिलाफ जन सभाएँ करना।

घ. सरकारी अधिकारियों को पानी के लिए रिश्वत देना।

7. लोकतंत्र के खिलाफ दिए जाने वाले इन तर्कों का जवाब दीजिए :

   क. सेना देश का सबसे अनुशासित और भ्रष्टाचार मुक्त संगठन है। इसलिए सेना को देश का शासन करना चाहिए।

   ख. बहुमत के शासन का मतलब है मूर्खों और अशिक्षितों का राज। हमें तो होशियारों के शासन की जरूरत है, भले ही उनकी संख्या कम क्यों न हो।

   ग. अगर आध्यात्मिक मामलों में मार्गदर्शन के लिए हमें धर्म–गुरूओं की जरूरत होती है तो उन्हीं को राजनैतिक मामलों का काम क्यों नहीं सौंपा जाए। देश पर धर्म–गुरूओं का शासन होना चाहिए।

8. इनमें से किन कथनों को आप लोकतांत्रिक समझते हैं? क्यों ?

   क. बेटी से बाप : मैं शादी के बारे में तुम्हारी राय सुनना नहीं चाहता। हमारे परिवार में बच्चे वहीं शादी करते हैं जहाँ माँ–बाप तय कर देते हैं।

   ख. छात्र से शिक्षक : कक्षा में सवाल पूछकर मेरा ध्यान मत बँटाओं।

   ग. अधिकारियों से कर्मचारी : हमारे काम करने के घंटे कानून के अनुसार कम किए जाने चाहिए।

9. एक देश के बारे में निम्नलिखित तथ्यों पर गौर करें और फैसला करें कि आप इसे लोकतंत्र कहेंगे या नहीं। अपने फैसले के पीछे के तर्क भी बताएँ।

   क. देश के सभी नागरिकों को वोट देने का अधिकार है और चुनाव नियमित रूप से होते है।

   ख. देश ने अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों से ऋण लिया। ऋण के साथ यह एक शर्त जुड़ी थी कि सरकार शिक्षा और स्वास्थ्य पर अपने खर्चों में कमी करेगी।

   ग. लोग सात से ज्यादा भाषाएँ बोलते हैं पर शिक्षा का माध्यम सिर्फ एक भाषा है, जिसे देश के 52 फीसदी लोग बोलते हैं।

   घ. सरकारी नीतियों का विरोध करने के लिए अनेक संगठनों ने संयुक्त रूप से प्रदर्शन करने और देश भर में हड़ताल करने का आव्हान किया है। सरकार ने उनके नेताओं को गिरफ्तार कर लिया है।

   ड. देश के रेडियो और टेलीविजन चैनल सरकारी हैं। सरकारी नीतियों और विरोध के बारे में खबर छापने के लिए अखबारों को सरकार से अनुमति लेनी होती है।

10. अमेरिका के बारे में 2004 में आई एक रिपोर्ट के अनुसार वहाँ के समाज में असमानता बढ़ती जा रही है। आमदनी की असमानता लोकतांत्रिक प्रक्रिया में विभिन्न वर्गों की भागीदारी घटने–बढ़ने के रूप में भी सामने आई। इन समूहों की सरकार के फैसलों पर असर डालने की क्षमता भी इससे प्रभावित हुई है। इस रिपोर्ट की मुख्य बातें थीं :

I. सन् 2004 में एक औसत अश्वेत परिवार की आमदनी 100 डालर थी जबकि गोरे परिवार की आमदनी 162 डालर। औसत गोरे परिवार के पास अश्वेत परिवार से 12 गुना ज्यादा संपत्ति थी।

II. राष्ट्रपति चुनाव में 75,000 डालर से ज्यादा आमदनी वाले परिवारों के प्रत्येक 10 में 9 लोगों ने वोट डाले थे। यही लोग आमदनी के हिसाब से समाज के ऊपरी 20 फीसदी में आते हैं। दूसरी ओर 15,000 डालर से कम आमदनी वाले परिवारों के प्रत्येक 10 में सिर्फ 5 लोगों ने ही वोट डाले। आमदनी के हिसाब से ये लोग सबसे निचले 20 फिसदी हिस्से में आते हैं।

III. राजनैतिक दलों का करीब 95 फीसदी चंदा अमीर परिवारों से ही आता है। इससे उन्हें अपनी राय और चिंताओं से नेताओं को अवगत कराने का अवसर मिलता है। यह सुविधा देश के अधिकांश नागरिकों को उपलब्ध नहीं है।

IV. जब गरीब लोग राजनीति में कम भागीदारी करते हैं तो सरकार भी उनकी चिंताओं पर कम ध्यान देती है – गरीबी दूर करना, रोजगार देना, उनके लिए शिक्षा, स्वास्थ्य और आवास की व्यवस्था करने पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता जितना दिया जाना चाहिए। राजनेता अकसर अमीरों और व्यापारियों की चिंताओं पर ही नियमित रूप से गौर करते हैं

इस रिपोर्ट की सूचनाओं को आधार बनाकर और भारत के उदाहरण देते हुए 'लोकतंत्र और गरीबी' पर एक लेख लिखें।

प्रोजेक्ट कार्य

अधिकांश अखबारों में एक संपादकीय पृष्ठ होता है। इस पन्ने पर अखबार समकालीन घटनाओं पर अपनी राय प्रकाशित करता है। अखबार दूसरे बुद्धिजीवयों और लेखकों के लेख और विचारों को छापता है। इसी पन्ने पर पाठकों की राय और टिप्पणियाँ भी पत्रों के रूप में छपती है। किसी अखबार को एक महीने तक पढ़े और उसके उन संपादकीय टिप्पणियों, लेखों और पाठकों के पत्रों को काटकर जमा करें जिनका रिश्ता लोकतंत्र से हैं। इनको निम्नलिखित श्रेणियों में बाँटकर रखो।

❖ लोकतंत्र का संवैधानिक और कानूनी पहलू

❖ नागरिक अधिकार

❖ चुनावी और पार्टियों की राजनीति

❖ लोकतंत्र की आलोचना

लोकतांत्रिक विद्यालय क्या है ?

प्रस्तुत पठन सामग्री में चर्चा की गई है कि समान अवसर के लोकतांत्रिक मूल्यों के बीच लोकतांत्रिक विद्यालय क्या होते हैं? किसी विद्यालय को लोकतांत्रिक विद्यालय हम कैसे कह सकते हैं या वे कौन–कौन सी स्थितियाँ हैं जो किसी विद्यालय को लोकतांत्रिक विद्यालय बनने से रोकती हैं, आदि। इस सामग्री में इस बात पर भी विचार किया गया है कि लोकतांत्रिक विद्यालय की बात करने में हमें किस–किस प्रकार की सावधानियाँ रखनी होंगी। परस्पर सहयोग और परस्पर प्रतियोगिता में से क्या लोकतांत्रिक विद्यालय के लिए आवश्यक दशाएँ होंगी? विद्यालय में बच्चों को समान अवसर उपलब्ध कराने के आधार पर आधुनिक शालाओं की समालोचना करने में भी सक्षम बनायेगी। इस पठन सामग्री के आधार पर आप विभिन्न शालाओं के बीच तुलना भी कर सकेंगे।

यह पठन सामग्री एकलव्य द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'लोकतांत्रिक विद्यालय' के पृष्ठ क्र. 10–23 से ली गई है। मूल पुस्तक का नाम 'डेमोक्रेटिक स्कूल' है जिसका सम्पादन माइकल डब्ल्यू एपल व जेम्स ए. बीन ने किया है।

इससे पहले कि हम सच्ची जीवन कथाएँ प्रस्तुत करें, हम उनकी प्रस्तुति का संदर्भ बताना चाहते हैं। लोकतांत्रिक विद्यालय क्या है? यदि हम किसी लोकतांत्रिक विद्यालय में जाएँ तो हम वहाँ क्या देखने की उम्मीद कर सकते हैं? समय के साथ कैसे विकसित हुई लोकतांत्रिक विद्यालय की अवधारणा? इसके मूलभूत सिद्धान्त क्या हैं? इन विद्यालयों के अस्तित्व को क्या खतरा है? एक ऐसे समाज में जो लोकतांत्रिक होने का दावा करता है, ये कहानियाँ उल्लेखनीय क्यों और कैसे बन सकीं?

लोकतंत्र की ही तरह लोकतांत्रिक विद्यालय भी हवा में से नहीं आए हैं। ये उन शिक्षाविदों के सतत् प्रयासों का प्रतिफल हैं जिन्होंने लोकतंत्र को जीवन में उतारने के लिए अवसरों और सुविधाओं का निर्माण किया है। अवसर और सुविधाएँ पैदा करने का यह काम दो स्तरों पर चलता है। पहला है विद्यालयीन जीवन में लोकतांत्रिक संरचनाओं और पद्धतियों का निर्माण। दूसरा है ऐसे पाठ्यक्रम की व्यवस्था जिससे छात्रों को लोकतांत्रिक अनुभव प्राप्त हों।

लोकतांत्रिक संरचनाएँ और पद्धतियाँ

यह कहना एक घिसी–पिटी बात है कि लोकतंत्र शासितों की स्वीकृति पर आधारित होता है। लेकिन विद्यालयों के मामले में यह सच है कि वहाँ विद्यालय से सीधे जुड़े सभी लोगों को–छात्रों को भी–निर्णय लेने की प्रक्रिया में भाग लेने का अधिकार होता है। इस कारण, लोकतांत्रिक विद्यालय संचालन और नीति निर्धारण के मामले में व्यापक भागीदारी के लिए ही जाने जाते हैं। विद्यालय के लिए निर्णय लेने वाले समूहों, जैसे– समितियों, परिषदों आदि में न केवल पेशेवर शिक्षाविद होते हैं बल्कि बच्चे, उनके अभिभावक और विद्यालय समुदाय के अन्य सदस्य भी होते हैं। कक्षाओं में अध्यापक और बच्चे मिलकर अपने सरोकारों

से जुड़े हुए मसलों पर बातें करते हैं, योजना बनाते हैं और निर्णय लेते हैं। विद्यालय स्तर और कक्षा स्तर पर बनाई गई यह लोकतांत्रिक योजना लोकतंत्र के नाम पर पहले से लिए गए निर्णयों पर अनुमोदन की मोहर लगवाना नहीं है, बल्कि जीवन को प्रभावित करने वाले मसलों पर निर्णय लेने के लोगों के अधिकार का सम्मान करने की ईमानदार कोशिश है।

फिर भी, हमें भूलना नहीं चाहिए कि स्थानीय निर्णय भी लोकतांत्रिक मूल्यों के अनुरूप ही लिए जाने चाहिए। लोकतंत्र का यह एक अन्तर्विरोध है कि स्थानीय स्तर पर लिए गए लोकप्रिय निर्णय हमेशा लोकतांत्रिक मूल्यों के अनुरूप नहीं होते। यदि सारी बात स्थानीय लोगों की मर्जी पर ही छोड़ दी जाए तो फिर हमें ऐसे विद्यालय भी देखने को मिल सकते हैं जिनमें कानून–सम्मत नस्लवादी भेदभाव चल रहा हो या जिनमें अमीरों के बच्चों के अलावा सबका प्रवेश वर्जित हो। संक्षेप में, लोकतांत्रिक विद्यालयों की सफल क्रियान्विति के लिए कुछ मामलों में राज्य का हस्तक्षेप भी जरूरी है, खासकर वहाँ जहाँ पर स्थानीय निर्णयों से किसी समूह विशेष के लोगों का दमन या अलगाव होता हो। जिन्हें सम्पूर्ण अधिकार अपने हाथ में रखने की इच्छा होती है उन्हें राज्य का यह हस्तक्षेप अच्छा नहीं लगता। लेकिन यह हमें याद दिलाता है कि लोकतांत्रिक मूल्यों और अधिकारों का व्यापक वितरण कागज़ पर लिखे गए सिद्धान्तों से कुछ अधिक होना चाहिए।

हमारा अपना दौर इस बात का सबूत है कि लोकतंत्र की रक्षा के राज्य के उत्तरदायित्व और अनेक हित समूहों के अभिव्यक्ति के अधिकार के बीच एक तनाव की स्थिति बनी रहती है। उदाहरण के लिए, एक लोकतांत्रिक समाज में सार्वजनिक विद्यालयों से यह अपेक्षा की जाती है कि उनमें अनेकानेक विषयों पर विचार–विमर्श और आलोचना की आजादी होगी। लेकिन अनेक विशेष हित समूह, खासकर धार्मिक मूलतत्ववादी, माँग करते हैं कि विद्यालयों में केवल उन्हीं विचारों और विषयों पर बात करने की छूट हो जो उनका समर्थन करते हैं। फिर यह भी है कि वर्तमान राजनीतिक परिदृश्य में स्थानीय समूह राष्ट्रीय पाठ्यक्रम निर्माण के प्रयासों से दुःखी रहते हैं, क्योंकि इसमें विषय सामग्री की परिधि वहीं तक सीमित होती है जहाँ तक उसे राष्ट्रीय स्तर पर किन्हीं विशेष समूहों द्वारा महत्वपूर्ण माना जाता है। लोकतांत्रिक विद्यालयों की एक खासियत है विद्यालय के मामलों में सभी सम्बद्ध पक्षों की व्यापक भागीदारी, लेकिन यह काम इतना सरल नहीं कि सभी को आमंत्रित करने भर से पूरा हो जाए। क्योंकि अपना मत व्यक्त करने का मौका देते ही विशिष्ट समुदायों के हितों और व्यापक सामूहिक हितों के बीच पटरी बैठाने का सवाल उठ खड़ा होता है।

लोकतांत्रिक विद्यालयों से जुड़े हुए लोग स्वयं को सीखने वाले समुदाय का हिस्सा समझते हैं। अपने स्वभाव से ही ये समुदाय एक–दूसरे से भिन्न होते हैं और इस भिन्नता को समस्या नहीं समझा जाता, इसकी कद्र की जाती है। इन समुदायों में अलग–अलग आयु, संस्कृतियों, नस्लों, लिंगों, समाजार्थिक वर्गों, आकांक्षाओं और क्षमताओं के लोग होते हैं। ये विभिन्नताएँ समुदाय को समृद्ध करती हैं और इसके दृष्टिकोण को व्यापक बनाती हैं। किसी भी आयु के व्यक्ति को इन भिन्नताओं के आधार पर अलग करना

या उसे खास किस्म की पहचान या नाम देना, विभाजन और श्रेणी भेद पैदा करता है। ऐसा करना समुदाय की लोकतांत्रिक प्रकृति से भटकाव है और यह उन व्यक्तियों की गरिमा के भी विरुद्ध है जिनके खिलाफ इसका उपयोग होता है।

जहाँ समुदाय विभिन्नता की कद्र करता है, वहीं उसका एक साझा उद्‌देश्य भी होता है। निजीकरण के समर्थक या आर्थिक तर्कसंगति चाहने वाले विद्यालय चलाने के बारे में जो भी कहें, लोकतंत्र कोई स्वार्थ–केन्द्रित सिद्धान्त नहीं है जो दूसरों की कीमत पर अपने हित साधने की छूट देता हो। सामान्य हित लोकतंत्र की केन्द्रीय विशेषता है। इसलिए लोकतांत्रिक विद्यालयों में सीखने वाले समुदाय सहयोग और सहकार पर जोर देते हैं न कि प्रतियोगिता पर। लोग अपना हितलाभ दूसरों में देखते हैं, और इस बात की व्यवस्था की जाती है कि बच्चों को दूसरों की मदद करके समुदाय के जीवन को उन्नत बनाने के लिए प्रोत्साहित किया जाए।

इन सब व्यवस्थाओं में और इनका समर्थन करने वाले नीतिगत निर्णयों में लोकतांत्रिक विद्यालयों के लोग ढाँचागत बराबरी पर लगातार जोर देते हैं। पढ़ने के अवसर या प्रथम प्रवेश की सुविधा लोकतांत्रिक विद्यालयों का एक आवश्यक पहलू है, लेकिन प्रवेश या अवसर ही पर्याप्त नहीं है। एक प्रामाणिक लोकतांत्रिक समुदाय में सभी बच्चों को विद्यालय के सभी कार्यक्रमों में भाग लेने का और उसके मूल्यों को आत्मसात करने का अधिकार रहता है। इसी कारण लोकतांत्रिक विद्यालयों में इस बात का ध्यान रखा जाता है कि बच्चों के समक्ष कोई संस्थागत बाधा न आने पाए। पक्षपातपूर्ण परीक्षण, ट्रैकिंग तथा इस तरह की अन्य व्यवस्थाओं आदि को निर्मूल करने का पूरा प्रयास किया जाता है ताकि नस्ल, लिंग या वर्ग के आधार पर किसी को वंचित न रखा जा सके।

लोकतंत्र के लिए प्रतिबद्ध शिक्षाविद समझते हैं कि विद्यालय में गैर–बराबरी के स्रोत समुदाय में भी पाए जा सकते हैं। कम से कम इतना तो वे समझते ही हैं कि विद्यालय से प्राप्त लोकतांत्रिक अनुभव बाहर की दुनिया में जाते ही धुल भी सकते हैं। अपने आपको एक व्यापक समुदाय का हिस्सा समझते हुए वे वहाँ भी लोकतंत्र फैलाना चाहते हैं, बच्चों के लिए ही नहीं, सबके लिए। संक्षेप में, वे एक वृहत् स्तर पर लोकतंत्र चाहते हैं; विद्यालय उन स्थानों में से सिर्फ एक स्थान है जिन पर उन्होंने अपना ध्यान केन्द्रित कर रखा है। **यह एक महत्वपूर्ण बिन्दु है।** शिक्षा का क्षेत्र असफल विद्यालय सुधारों की गर्दोगुबार से अँटा हुआ है, और इनमें से अनेक चारों ओर की सामाजिक स्थितियों के कारण ही असफल हुए थे। केवल वही सुधार बच्चों, शिक्षाविदों, विद्यालयों तथा विद्यालयों द्वारा सेवित समुदायों के जीवन में कोई स्थायी अन्तर पैदा करने में सफल हो सकते हैं जो इन परिस्थितियों को ध्यान में रखें और उनसे सक्रिय भागीदारी करवा सकें।
खासतौर पर यह अन्तिम बिन्दु ही लोकतांत्रिक विद्यालयों को अन्य ''प्रगतिशील'' विद्यालयों से अलग करता है, मसलन सिर्फ मानवतावादी विद्यालयों या बाल केन्द्रित विद्यालयों से। लोकतांत्रिक विद्यालयों में ये तत्व भी शामिल हैं, लेकिन उनकी नजर विद्यालय का वातावरण सुधारने या बच्चों में आत्सम्मान की भावना पैदा करने से कहीं आगे है। लोकतांत्रिक शिक्षाविदों की कोशिश विद्यालय में सामाजिक गैर–बराबरी की चुभन कम करना मात्र नहीं है, बल्कि उन परिस्थितियों को बदलना है जो गैर–बराबरी पैदा करती हैं। इसी कारण वे विद्यालय के भीतर के गैर–लोकतांत्रिक आचरण को बाहर की बड़ी दुनिया से जोड़कर देखते हैं। अन्य

प्रगतिशील शिक्षाविदों की ही तरह लोकतंत्र से जुड़े शिक्षाविद भी बच्चों से गहरा सरोकार रखते हैं। लेकिन वे यह भी जानते हैं कि इसके लिए उनका नस्लवाद, अन्याय, केंन्द्रीकृत सत्ता, गरीबी तथा अन्य असमानताओं के खिलाफ डटकर खड़े रहना जरूरी है। ऐसा विद्यालय में भी जरूरी है और समाज में भी।

लोकतांत्रिक विद्यालयों के लिए आवश्यक संरचना और प्रक्रिया का आरम्भिक चित्र तुरन्त खींचा जा सकता है। लेकिन इसका विस्तृत और सघन चित्र आसानी से चरितार्थ नहीं होता। एक लोकतांत्रिक विद्यालय को खड़ा करने और चलाए रखने का काम मुश्किलों से भरा और थकाने वाला है। आखिर समाज में लोकतंत्र के गुणगान के बावजूद, और इस सामान्य समझ के बावजूद कि लोकतंत्र का विचार लोकतांत्रिक आचरण से ही सीखा जा सकता है, सच यह है कि हमारे विद्यालय काफी अलोकतांत्रिक संस्था रहे हैं। जहाँ लोकतंत्र का जोर परस्पर सहयोग पर रहता है, वहीं बहुत सारे विद्यालयों में परस्पर प्रतियोगिता को प्रोत्साहित किया जाता है– अच्छे अंकों के लिए, श्रेणी के लिए, संसाधनों के लिए, कार्यक्रमों के लिए आदि–आदि। जहाँ लोकतंत्र सामान्यहित की चिन्ता करना सिखाता है, वहीं अनेक विद्यालय बाहर से थोपे गए राजनीतिक एजेण्डे के प्रभाव में स्वार्थ पर आधारित व्यक्तिवादिता के विचार को बढ़ावा देते हैं। जहाँ लोकतंत्र में अनेकता की कद्र की जाती है, वहीं बहुत सारे विद्यालयों ने देश के सर्वाधिक शक्तिशाली समूहों के हितों और आकाँक्षाओं का ही प्रतिनिधित्व किया है। उन्होनें कमजोर समूहों के हितों की हमेशा उपेक्षा की है। लोकतंत्र में विद्यालयों को दर्शाना चाहिए कि सबके लिए समान अवसर कैसे उपलब्ध कराए जा सकते हैं, लेकिन बहुत सारे विद्यालयों में ट्रैकिंग करना और क्षमतावार समूह बनाना जैसी बुराइयाँ व्याप्त हैं जो सबको समान अवसर के सिद्धान्त का सीधा उल्लंघन करती है।

लोकतांत्रिक शिक्षा के लिए प्रतिबद्ध लोगों को अक्सर शिक्षण की वर्चस्वशाली परम्परा के विरोध में खड़े होना होता है। हर कदम पर उनके विचारों और प्रयासों का वे लोग प्रतिरोध करते हैं जिन्हें गैर–बराबरी से लाभ होता है और जिनकी दिलचस्पी विद्यालयों के सिरे से कायापलट में नहीं सिर्फ कार्यकुशलता और श्रेणीबद्ध सत्ता में रहती है। लोकतांत्रिक विद्यालयों के निर्माण के काम में हताशा और कुण्ठा शिक्षा नीतियों और लोकमत में व्याप्त अलोकतांत्रिक धारा के माहौल में उन्हें चलाए रखने के काम में और बढ़ जाती है। लेकिन लोकतांत्रिक शिक्षाविद इस बात को समझते हैं कि लोकतंत्र कोई बनी–बनाई, सुपरिभाषित ''आदर्श स्थिति'' नहीं है जिसे सिर्फ प्राप्त करना है। यह तो सतत् परिश्रम से कुछ बदलाव लाने की एक कठिन चेष्टा है। चुनौती आसान नहीं है; राह में मुश्किलें हैं, विरोध और विवाद हैं। जैसा कि एक पुरानी कहावत कहती है, ''जंगल में दस मील घर से बाहर।''

लोकतांत्रिक पाठ्यक्रम

अब तक जिन संरचनाओं और पद्धतियों की चर्चा की गई हैं वे आम तौर पर विद्यालयों की रोजमर्रा की जिन्दगी की गुणवत्ता को परिभाषित करती हैं। विद्यालय की प्राचीन परम्पराओं और गहरी संरचना का हिस्सा होने के नाते उनसे यह सबक भी मिलता है कि विद्यालय के मूल्य क्या हैं और किसके लिए हैं। इस तरह वे एक ''प्रच्छन्न'' पाठ्यक्रम बनाते हैं जिसके माध्यम से छात्र न्याय, सत्ता, गरिमा और आत्मबोध के महत्वपूर्ण पाठ सीख सकें। इन संरचनाओं और प्रक्रियाओं का लोकतांत्रीकरण ऐसे विद्यालयों का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पहलू है। लेकिन इसकी पूरी तस्वीर तब बनती है जब योजनाबद्ध और प्रकट पाठ्यक्रम में भी लोकतंत्र लाने का रचनात्मक प्रयास किया जाता है।

चूँकि लोकतंत्र में लोगों की सूचित सहमति होना जरूरी है, लोकतांत्रिक पाठ्यक्रम में सूचनाओं के एक व्यापक वृत्त पर और अलग–अलग मत रखने वालों के अभिव्यक्ति के अधिकार पर जोर दिया जाता है। एक लोकतांत्रिक समाज में शिक्षाविदों का दायित्व है कि वे बच्चों द्वारा विभिन्न विचारों से परिचित होने और अपने विचार व्यक्त करने में सहायक बनें। दुर्भाग्य से, अनेक विद्यालय अनेक तरीकों से अपनी इस जिम्मेदारी में मुँह चुराते हैं। पहले तो वे विद्यालय द्वारा दिए जा रहे ज्ञान को ऊँचे दर्जे के ज्ञान या ''आधिकारिक ज्ञान'' तक सीमित कर देते हैं। जो कि प्रभुत्वशाली संस्कृति द्वारा उत्पन्न या समर्थित होता है (एपल 1993)। दूसरे वे उन आवाजों को खामोश कर देते हैं जो इस प्रभुत्वशाली संस्कृति से बाहर हैं,। **इसकी पुष्टि वर्तमान पाठ्यक्रम, अध्ययन के लिए सुझाई गई पुस्तकों की सूचियों और शिक्षण निर्देशों को थोड़े ध्यान से देखने पर हो सकती है।**

सबसे अधिक विचलित करने वाली बात यह है कि लगभग सभी विद्यालय इस आधिकारिक, ऊँचे दर्जे वाले ज्ञान को इस तरह पढ़ाते रहे हैं मानो यह किसी अत्यन्त विश्वसनीय और अपरिवर्तनशील स्रोत से प्राप्त ''सत्य'' हो। जो लोग एक अधिक सहभागितापूर्ण पाठ्यक्रम के पक्ष में हैं वे जानते हैं कि ज्ञान समाज की ही उपज होता है। ज्ञान जिन लोगों द्वारा निर्मित और वितरित होता है, उनके अपने कुछ मूल्य, हित और पूर्वाग्रह होते हैं। यह जीवन का एक सरल–सा तथ्य है, क्योंकि हम सबको बनाने में हमारी संस्कृति, लिंग, भूगोल इत्यादि का हाथ रहता है। लेकिन फिर भी एक लोकतांत्रिक पाठ्यक्रम में बच्चे अपने समाज का ''आलोचनात्मक अध्ययन'' करना सीखते हैं। उन्हें इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जाता है कि वे जब भी किसी ''ज्ञान'' या ''दृष्टिकोण'' के सामने पड़ें तो पूछें कि यह किसने कहा? उन्होंने ऐसा क्यों कहा? हम इसे क्यों मानें? और अगर हम इसे मान लें और वैसा ही करें तो इससे किसको फायदा होगा? आदि।
बात को और ठीक से समझने के लिए एक कक्षा के उदाहरण पर गौर करें जिसे इस पुस्तक के एक सम्पादक ने स्वयं देखा है। अध्यापक और बच्चे ''सामयिक घटनाओं'' पर चर्चा कर रहे थे। वे समाचारपत्रों से ली गई सामग्री की सहायता से ''प्राकृतिक आपदाओं'' को समझने की कोशिश कर रहे थे। प्राकृतिक आपदाओं से हमारा क्या आशय है और उनकी यह परिभाषा किसने बनाई है, यह प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण है। अर्थात हम लोग अब (दुर्भाग्य से) ऐसे चित्र देखने के अभ्यस्त हो चुके हैं जिनमें तूफान, सूखा वगैरह से हजारों आदमियों की जान चली जाती है। कक्षा के बच्चों की ही तरह हमें भी यह मानने को कहा जाता है कि ये ''प्राकृतिक आपदाएँ'' थीं। लेकिन सामयिक घटनाओं को समझने का यह प्रकटतः तटस्थ तरीका क्या वास्तव में तटस्थ है? या बड़ी सफाई से इसमें भी कुछ खास किस्म के मूल्य घुसा दिए गए हैं या इसमें से निकाल लिए गए हैं ?

उस कक्षा में हुई चर्चा का एक हिस्सा यह बताने के लिए काफी है कि यह प्रश्न क्यों महत्वपूर्ण है। छात्रों ने दक्षिण अमरीका में हुए व्यापक भू–स्खलन को समझा। प्रचण्ड वर्षा से पहाड़ी इलाके के लोगों के घर बर्बाद हो गए थे और बड़ी संख्या में लोग मारे गए थे या बुरी तरह घायल हो गए थे। लेकिन गहराई से देखने पर पता चलता है कि इस दुर्घटना में बहुत कम ही कुछ ऐसा था जिसे ''प्राकृतिक'' कहा जा सके। दक्षिण अमरीका में हर साल वर्षा होती है, और हर साल लोग मरते हैं। इस साल पहाड़ का एक तरफ का पूरा हिस्सा गिर गया और इस तरफ रहने वाले हजारों लोग मारे गए। लेकिन सुरक्षित और उपजाऊ घाटी में रहने वाला कोई नहीं मरा।

ये परिवार खतरनाक पहाड़ी ढलानों पर रहने को मजबूर थे क्योंकि यही जमीन बची थी जिस पर घर बसाकर वे किसी तरह गुजर–बसर कर सकते थे। जमीन के स्वामित्व के बेहद गैर–बराबरीपूर्ण ऐतिहासिक स्वरूप और गरीबी की वजह से लोग पहाड़ी ढलानों पर रहते आए थे। अतः समस्या हर साल होने वाली वर्षा नहीं– जो कि एक प्राकृतिक घटना है– वरन् गैर–बराबरीपूर्ण आर्थिक व्यवस्था है जो इस क्षेत्र में मुट्ठी भर लोगों को अधिकांश की जिन्दगी पर नियंत्रण हासिल करने की छूट देती है।

समस्या की यह बदली हुई और अधिक समग्र समझ पाठ्यक्रम और शिक्षाशास्त्र के लिए समृद्ध सम्भावनाओं से भरी हुई हैं। यह समझने में छात्रों का सहायक होना कि इस ''सामयिक घटना'' की व्याख्या भी अलग–अलग तरीकों से हो सकती है, और कि हर व्याख्या एक समूह विशेष के हितों को लाभ पहुँचाती हैं, अन्ततः उन्हें समाज के प्रति एक अधिक नैतिक और संवेदनशील प्रतिबद्धता का धनी बना सकता है (एपल 1990)।

एक शहरी विद्यालय में गणित की कक्षा में हुई घटना इस बात का एक और उदाहरण है कि लोकतांत्रिक कक्षा में प्रश्नों का कैसा उपयोग किया जा सकता है। इस कक्षा के छात्रों को एक सवाल नियम से दिया जाता था। सवाल बस के मासिक पास से सम्बन्धित था। उनसे पूछा जाता था कि मासिक पास बनवाना सस्ता पड़ता है या हर बार आते–जाते बस में बैठने पर टिकट खरीदना सस्ता पड़ता है। इस खास सवाल के जवाब के अनुसार महीने के कार्य दिवसों की संख्या को देखते हुए हर बार टिकट खरीदना सस्ता पड़ता था। फिर इस सवाल में कुछ चीजों को मानकर चला जा रहा था। और ये चीजें बच्चों या उनके अभिभावकों के यथार्थ से मेल नहीं खाती थीं।

बच्चे अच्छी तरह जानते थे कि यह उत्तर गलत है। आखिर उनमें से अनेक के अभिभावक परिवार के भरण–पोषण के लिए दो–दो अल्पकालिक काम करते थे। कारण यह था कि कर छूट और सस्ती मज़दूरी का लाभ उठाने के लिए यहाँ के कारखाने अन्यत्र ले जाए जा चुके थे। इस तरह इन बच्चों का अनुभव यह था कि हर आदमी को काम पर जाने और आने के लिए दिन में कम से कम चार बार बस पकड़नी पड़ती थी। और काम भी ऐसा था जिसमें कोई भत्ता था, न कोई आगे की राह, और पगार भी कम थी।

यह पाठ्यक्रम स्पष्टतः थोड़ा पक्षपातपूर्ण और संवेदनशून्य था। लेकिन अध्यापक ने पाठ्यक्रम के इस पक्षपात का भी रचनात्मक ढंग से उपयोग कर लिया। उसने पूछा कि बताओ इस उदाहरण में क्या गलत है, और सोचो कि गणित तुम्हें अपनी और अपने अभिभावकों की रोजमर्रा की जिन्दगी को समझने में कैसे मदद करता है। संक्षेप में, उसने छात्रों से ऐसे ही एक प्रश्न का उत्तर देने को कहा जैसे प्रश्न ऊपर हमने उठाए थे– दुनिया को हम किसके नज़रिए से देख रहे हैं? (लेडसन–बिलिंग्स 1995)। उक्त प्रश्न को गणित के साथ बुनकर उसने गणित को बच्चों के दैनिक जीवन से जोड़ दिया। इस तरह उसने अपने काम से उन पर ऐसा प्रभाव छोड़ा जैसा उपलब्धियों, परीक्षाओं आदि से जुड़ा और इन बच्चों के भविष्य को निर्धारित करने वाला, तथाकथित तटस्थ और मानक पाठ्यक्रम कभी न छोड़ पाता।

इन दो उदाहरणों से कम से कम यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि हमारे नियोजित पाठ्यक्रम में हमेशा– और कई बार छिपे तौर पर– एक परम्परा, एक धारणा अन्तर्निहित होती है। और वह धारणा यह है कि बच्चों के लिए क्या जानना जरूरी है, और इसका अपने पक्ष में कैसे इस्तेमाल किया जा सकता है। लेकिन ''लोकतांत्रिक पाठ्यक्रम'' ज्ञान की इस ''चुनिन्दा परम्परा'' और प्रभुत्वशाली संस्कृति द्वारा समर्थित अर्थों को चुनौती देता है। वह इससे आगे निकलकर दृष्टियों और आवाजों के व्यापक फलक तक जाने की कोशिश करता है (विलियम्स, 1961; एपल 1990)। लोकतांत्रिक समाज में कोई भी एक व्यक्ति या हित

समूह समस्त सम्भव ज्ञान और अर्थ के एकमात्र स्वामित्व का दावा नहीं कर सकता है। इसी तरह एक लोकतांत्रिक पाठ्यक्रम में सिर्फ वहीं नहीं होता जिसे वयस्क महत्वपूर्ण समझते हैं। उसमें अपने और अपनी दुनिया के बारे में बच्चों की चिन्ताएँ और प्रश्न भी होते हैं। लोकतांत्रिक पाठ्यक्रम बच्चों को ज्ञान के निष्क्रिय उपभोक्ता की भूमिका छोड़ने और ''अर्थप्रदाता'' की सक्रिय भूमिका अपनाने के लिए आमंत्रित करता है। वह यह मानता है कि व्यक्ति बाह्य स्रोतों के अध्ययन से भी ज्ञान प्राप्त करता है और इन जटिल क्रियाओं में संलग्न होकर भी जो उसे अपना स्वयं का ज्ञान निर्मित करने को प्रेरित करती है।

जैसा कि हमने पहले देखा है, जीवन की लोकतांत्रिक शैली लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रचार–प्रसार के रचनात्मक प्रयासों को समाहित किए रहती है। लेकिन यह प्रक्रिया मात्र किसी विषय पर चर्चा या विचार–विमर्श नहीं है। यह हमारे सामूहिक जीवन में आने वाली समस्याओं, घटनाओं और मुद्दों पर बुद्धिमत्तापूर्वक और चिन्तनशील ढंग से सोचना है। लोकतांत्रिक पाठ्यक्रम में ऐसे मुद्दों पर विचार की, समस्याओं के हल सोचने की, और उन पर अमल करने की हमेशा सम्भावना रहती है। उदाहरण के लिए, इस तरह के पाठ्यक्रम में ''संघर्ष'', ''हमारे समुदाय का भविष्य'', ''न्याय'', ''पर्यावरण की राजनीति'' आदि मुद्दों पर विचार करने और काम करने का प्रावधान रहता है।

इसके अलावा एक बात यह भी है कि ज्ञान के विभिन्न अनुशासन मात्र ''उच्च संस्कृति'' की श्रेणियाँ नहीं हैं जिन्हें बच्चे सीख लें और सँजो लें। वे सूचना और अन्तर्दृष्टि के स्रोत हैं जिनका उपयोग जीवन की समस्याओं को समझने के लिए किया जा सकता है। ये वे लैन्स हैं जिनकी मदद से हम अपने चारों तरफ के मुद्दों को ज्यादा साफ देख सकते हैं (बीन 1993)। उदाहरण के लिए, इस अन्तिम बिन्दु का उपयोग हम यह समझने के लिए भी कर सकते हैं कि वर्तमान पाठ्यक्रम के अंशों को बहस का मुद्दा बनाकर ही उसे संशोधित–सवंर्धित किया जा सकता है। ऐसा करने से ही हम जान पाएँगे कि समस्या सिर्फ इतना ही नहीं है कि वर्तमान पाठ्यक्रम के अंशों को कैसे जोड़ा जाए, बल्कि यह भी है कि ये अन्तर्सम्बन्ध किस बारे में हैं। जैसा कि ड्यूई (1938, पृ.49) ने कहा है:

इतिहास–भूगोल के बारे में निर्धारित जानकारी प्राप्त कर लेने, लिखना–पढ़ना सीख लेने का भी क्या फायदा यदि इस प्रक्रिया में व्यक्ति अपनी आत्मा ही खो दे; यदि वह सार्थक चीजों की कद्र करना ही भूल जाए, उन मूल्यों को ही भूल जाए जिनसे ये चीजें जुड़ी हुई हैं; यदि वह अपने संचित ज्ञान का उपयोग करने की इच्छा ही खो बैठे; और सबसे बढ़कर यदि वह भविष्य में अपने अनुभवों का अर्थ निकालने की क्षमता से ही वंचित हो जाए।

समान अवसर के तमाम लोकतांत्रिक दावों के बावजूद हमारे विद्यालयों में बच्चों के रास्ते में अभी कई रूकावटें हैं– जैसे मानक परीक्षा पद्धति का जरूरत से ज्यादा उपयोग। अनेक प्रगतिशील पाठ्यक्रमों की एक ऐतिहासिक समस्या यह है कि वे उस आधिकारिक ज्ञान और दक्षता पर से जोर हटाने के पक्ष में हैं जिसकी बच्चों को जरूरत है ताकि वे समाजार्थिक प्रवेशद्वारों पर खड़े द्वारपालों को सन्तुष्ट कर सकें और अपने लिए रास्ता बना सकें।

हमने ऊपर देखा कि लोकतांत्रिक विद्यालय अन्य प्रगतिशील विद्यालयों से अंशतः अलग हैं, क्योंकि वे विद्यालयों में और समाज में लोकतंत्र–विरोधी परिस्थितियों को समाप्त करना चाहते हैं। लेकिन फिर भी जो शिक्षाविद लोकतांत्रिक विद्यालयों में काम करते हैं वे अच्छी तरह समझते हैं कि जब तक ये परिस्थितियाँ बदल नहीं जातीं, इन्हीं के बीच से अपना रास्ता बनाना है। इसी कारण लोकतांत्रिक पाठ्यक्रम कई तरीकों

से छात्रों को सूचना–सम्पन्न और दक्ष बनाने की कोशिश करते हैं। इनमें वे तरीके भी हैं जिनके द्वारा समाजार्थिक प्रवेशद्वारों के द्वारपालों को सन्तुष्ट किया जा सके। संक्षेप में, लोकतांत्रिक शिक्षाविद बच्चों के लिए एक अधिक सार्थक शिक्षा के आविष्कार और शाक्तिशाली शिक्षा शाक्तियों– जो और कैसी भी हों लोकतांत्रिक कतई नहीं– द्वारा वांछित चालू ज्ञान और दक्षता में बच्चों को निपुण बनाने के सतत् द्वन्द्व और तनाव में रहते हैं। इस तरह, हम प्रभुत्वशाली ज्ञान की उपेक्षा नहीं कर सकते। इसे अपनाने से कुछ दरवाजे तो जरूर खुलते हैं। लेकिन अपनी इस व्याख्या को लेकर हमें सावधान रहना चाहिए, क्योंकि हम ''ड्रिल एण्ड स्किल'' के रूढ़ कार्यक्रमों को चालू रखने का समर्थन नहीं कर सकते जो अक्सर विद्यालय का एक हिस्सा होते हैं। इन बच्चों को भी अधिकार है कि वे हमारे सर्वाधिक प्रगतिशील विचारों से परिचय प्राप्त करें। हमारा काम है कि हम प्रभुत्वशाली ज्ञान को पुनर्निर्मित करें और उसे समाज के सर्वाधिक वर्गों की सहायता के लिए इस्तेमाल करें, न कि उनके रास्ते में अंड़गे लगाने के लिए।

लोकतांत्रिक पाठ्यक्रम के निर्माण का काम निश्चित रूप से विरोध और विवाद का काम है। विभिन्न प्रकार के दृष्टिकोणों और आवाजों को सुनने की गुंजाइश को अक्सर प्रभुत्वशाली संस्कृति के लिए खतरा समझा जाता है। खास तौर पर इसलिए कि ये आवाजें और दृष्टिकोण घटनाओं और मुद्दों की ऐसी व्याख्या पेश करते हैं जो पारम्परिक रूप से विद्यालयों में पढ़ाई जाने वाली व्याख्याओं से सर्वथा भिन्न होती हैं। इससे भी बुरी बात यह है कि बच्चों को घटनाओं और मुद्दों की आलोचनात्मक व्याख्या करने को प्रोत्साहित करना इस बात की आंशका पैदा करता है कि वे प्रभुत्वशाली व्याख्याओं (और शिक्षाओं) पर प्रश्न चिन्ह लगाने लगेंगे। यही बात प्रमुख सामाजिक समस्याओं और मुद्दों के आधार पर पाठ्यक्रम बनाने को लेकर है। लेकिन इसका विरोध ज्ञान और कौशल के उस संस्करण से भी है जो पाठ्यक्रम के प्रति विषय–विभक्त, अनुशासन–केन्द्रित, ''उच्च संस्कृति'' रुझान का एक अंग है। और अन्त में, यदि बच्चे पाठ्यक्रम में अपने खुद के प्रश्न और चिन्ताएँ जोड़ने लगें तो इस बात का खतरा है कि समाज के नैतिक और राजनीति अन्तर्विरोध प्रकट हो जाएँगे और उन मूल्यों से ध्यान हट जाएगा जिन्हें समाज बनाए रखना चाहता है।

लोकतांत्रिक शिक्षण से प्रतिबद्ध लोगों ने प्रतिरोध के ऐसे स्रोंतों का निरन्तर सामना किया है। वस्तुतः यह प्रतिरोध हमेशा खुले और साफ शब्दों में अभिव्यक्त नहीं किया जाता है। जैसे कुछ लोग कहते हैं कि बच्चों को सामाजिक मुद्दों से नहीं उलझना चाहिए क्योंकि वे उनकी पेचीदगी को नहीं समझ सकते, या वे उनसे अवसादग्रस्त हो जाएँगे। बेशक ऐसे तर्क इस तथ्य को उपेक्षित कर देते हैं कि बच्चे भी वास्तविक व्यक्ति हैं जो एक वास्तविक समाज में रहते हैं । उनमें से अनेक अपने अनुभवों से नस्लवाद, गरीबी, लैंगिक पक्षपात, बेघर होने आदि के बारे में पहले ही काफी कुछ जानते हैं। जाहिर है ऐसे तर्क बच्चों को उनकी गरिमा का हनन करने वाले और उनके विरूद्ध कार्यरत् राजनीतिक, सामाजिक और नैतिक अन्तर्विरोधों को समझने से रोकना चाहते हैं।

ध्यान देने की बात यह है कि लोकतांत्रिक विद्यालयों की अवधारणा केवल छात्रों के अनुभव के लिए लक्षित नहीं है। विद्यालयों में पेशेवर शिक्षाविदों सहित वयस्क भी लोकतांत्रिक जीवन पद्धति का अनुभव कर सकते हैं। नीति निर्माण तथा निर्णय लेने की प्रक्रिया में भागीदारी का एक उदाहरण हम पहले दे चुके हैं। लेकिन जिस तरह बच्चों को स्वयं अपनी शिक्षा की व्यवस्थाओं को बनाने में मदद करने का अधिकार है, उसी तरह अध्यापकों व अन्य शिक्षाविदों को भी यह अधिकार है कि वे कक्षाओं, विद्यालयों और अपने व्यावसायिक जीवन में आने वाली समस्याओं और मुद्दों सम्बन्धी अपनी धारणाओं पर आधारित अपने स्वयं के कार्यक्रम बनाएँ।

इससे भी आगे, अध्यापकों को अधिकार है कि वे पाठ्यक्रम निर्माण में– खासकर उन बच्चों के लिए जिन्हें वे पढ़ाते हैं– अपनी बात रख सकें। सरसरी नज़र से देखने वाला कोई भी शख्स समझ सकता है कि अध्यापकों के इस अधिकार का पिछले कुछ दशकों में गम्भीर क्षरण हुआ है। क्योंकि पाठ्यक्रम निर्धारण, बल्कि पाठ प्रक्रिया की आयोजना का भी राज्य और जिला शिक्षा कार्यालयों में केन्द्रीयकरण हो चुका है।'' दूसरों के विचारों और योजनाओं के कार्यान्वयनकर्ता होने के परिणामस्वरूप घटित अध्यापकों का ''अकुशलता के तौर पर उनके काम की नई और विरुपित परिभाषा हमारे विद्यालयों से लोकतंत्र के विलयन का सबसे स्पष्ट और अशोभनीय उदाहरण है (एपल 1986)। इसके अलावा, ''कार्यस्थल पर प्रबन्धन'' की बहुत बात की जाती है। ऐसा लगता है मानो इससे केन्द्रीयकरण की प्रक्रिया उलट जाएगी। लेकिन वास्तव में होता सिर्फ यह है कि सीमित संसाधनों के लिए संघर्ष स्थानीय संघर्ष बनकर रह जाते हैं, और दूरस्थ स्थानों पर लिए गए निर्णयों, नीतियों और कार्यक्रमों के कार्यान्वयन के लिए शिक्षकों को जिम्मेदार ठहराया जाता है।

अन्त में, अपने स्वयं के व्यावसायिक कार्य पर अध्यापकों का नियंत्रण मात्र संसाधनों और पाठ्यक्रम सम्बन्धी बाध्यता तक सीमित नहीं है, बल्कि वह शिक्षा पद्धति से भी जुड़ा हुआ है। हमने पहले बताया कि कैसे विद्यालय के शिक्षण और संरचना सम्बन्धी पहलू लोकतांत्रिक मूल्यों से निर्धारित हो सकते हैं, हालाँकि हम यह भी मानते हैं कि ऐसा शोध और तकनीकी ज्ञान के मार्गदर्शन के अनुसार भी हो सकता है। लोकतांत्रिक विद्यालयों में ऐसा ज्ञान विद्यालय से अवस्थित अकादमिक शोधनुमा ''उच्चतम'' स्रोतों से नहीं आता है। इससे अधिक रोचक वह ज्ञान होता है जिसे अध्यापक अपने उपयोग के लिए स्थानीय संवाद और कार्य शोध से स्वयं पैदा करते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यावसायिक ज्ञान के अन्य स्रोत अवैध या अनुपयोगी हैं। इसका अर्थ यह है कि वे महत्वपूर्ण विचारों के एकमात्र स्रोत नहीं है।

जब हम अपने कार्य पर सार्थक नियंत्रण के अध्यापकों के अधिकार को छात्रों तक लोकतांत्रिक जीवन पद्धति पहुँचाने को अध्यापकों और वयस्कों के कर्तव्य से जोड़ देते हैं, तभी इस बात की सच्ची सम्भावना पैदा होती है कि लोकतांत्रिक मूल्य विद्यालयों में जीवन के संचालन सूत्र बन पाएँ। लेकिन इस सम्भावना को वास्तविकता में बदलने के लिए हमें फिर कुछ कठिन प्रश्नों का सामना करना पड़ेगा। उदाहरण के लिए, अभिभावकों, समुदाय और राज्य को निश्चित रूप से यह कहने का अधिकार है कि उनकी दृष्टि में शिक्षा का क्या लक्ष्य है। लेकिन क्या उन्हें पाठ्यक्रम निर्धारण और संसाधनों जैसी चीजों के बारे में फैसले लेने का भी उतना ही हक होना चाहिए जितना पेशेवर शिक्षाविदों को? अध्यापकों पर लोकतंत्र का जो भारी बोझ हमने डाला है क्या वह उन्हें सामुदायिक नियंत्रण से ऊपर कुछ व्यावसायिक स्वायत्तता देता हैं ? इस पुस्तक में सम्मिलित कहानियाँ हमें इन सवालों के बारे में क्या बताती हैं–

- आपने जिन विद्यालयों में शिक्षण अनुभव प्राप्त किया है क्या उसे प्रजातान्त्रिक की श्रेणी में रख सकते हैं? शिक्षा से जुड़े शिक्षकों में किन प्रकार के लोकतान्त्रिक मूल्यों का होना आवश्यक है?
- एक लोकतांत्रिक विद्यालय में आप किन–किन लक्षणों को चिन्हित कर सकते हैं?
- परस्पर सहयोग और परस्पर प्रतियोगिता में आप लोकतान्त्रिक विद्यालय के लिए ज्यादा जरूरी माहौल मानते हैं, और क्यों?
- एक लोकतान्त्रिक विद्यालय में शिक्षक और बच्चों के व्यवहार को स्पष्ट कीजिए।

❁❁❁❁❁❁❁

इकाई क्र. 2

पठन सामग्री क्र. 7

सबके लिए शिक्षा –कैसी शिक्षा ?

हमने आधुनिक विश्व की तीन प्रमुख विशेषताओं के बारे में विस्तार से पढ़ा–औद्योगीकरण, राष्ट्र–राज्य और लोकतंत्र। हमने यह भी देखा कि इन तीनों ने एक खास तरह की शिक्षा का समर्थन किया है। आधुनिक खेती में बीजों का चयन, रासायनिक खाद का यथोचित मात्रा में उपयोग, खास तरह की बीमारियों या कीड़ों के लिए नियंत्रित करने वालेकीटनाशकों का उपयोग के लिए किसानों को नई–नई बातों को सीखना आवश्यक हो गया है जो शिक्षा के माध्यम से ही संभव है। कृषि में उत्पादन लागत और बाजार मूल्य का तालमेल, बाजार में कीमत के उतार चढ़ाव को तथा तथा वित्तीय सहायता के लिएउपलब्ध संस्थाओं को गहराई से समझने की आवश्यकता है। मिट्टी के उपजाउपन, पानी के संरंक्षित उपयोग उसका संरक्षण व संवर्धन इत्यादि के लिए किसानों को परम्परागत पुश्तैनी ज्ञान के साथ आधुनिक शिक्षा भी हासिल करने की आवश्यकता है।

औद्योगीकरण के लिए जरूरी है कि अनुशासित, समझदार व कुशल कारीगर हों। साथ ही, कम–से–कम कुछ कुशल मैनेजर, कुशल वैज्ञानिक, कुशल कम्प्यूटर प्रोग्रामर आदि की जरूरत है। दूसरी तरफ, औद्योगीकरण के लिए एक मानक बाजार की भी जरूरत है जिसमें दुनिया भर में, ज्यादा–से–ज्यादा लोग एक तरह के उत्पाद की मांग करें। यानी की लोगों की सोच, रूचियां व खपत में समरूपता हो। तीसरी बात, औद्योगीकरण की यह भी जरूरत है कि कम–से–कम लोग, लीक से हटकर सोचें, नई–नई चीजों की खोज करें, समस्याओं के नए हल खोजते रहें– यानी, लोग सृजनशील और भीड़ से हटकर सोचने वाले बने। जाहिर है कि यह आखरी बात कुछ विरोधाभास पैदा करती है क्योंकि सृजनशील के लिए अनुशासन, एकरूपता आदि मददगार नहीं हैं। लेकिन फिर भी यह तो कहा जा सकता है कि औद्योगीकरण, शिक्षा से माँग करता है कि भावी कृषि समाज के लोग कैसे हों।

इसी तरह राष्ट्रवाद भी। सबसे पहले तो राष्ट्र यह मांग करते हैं कि सारे नागरिक खुद को राष्ट्र का अंग मानें, राष्ट्रीयता की महत्ता को स्वीकार करें। स्थानीय बोली, स्थानीय संस्कृति, स्थानीय पहचान आदि की जगह राष्ट्रभाषा, राष्ट्रीय तौर–तरीके, राष्ट्रीय उद्वेश्य आदि लोगों के मन में रच–बस जाएं। यह सब राष्ट्रीय शिक्षा के माध्यम से ही संभव था। एक तरह का पाठ्यक्रम, एक तरह की शाला, एक इतिहास व नागरिकता का विषय, एक भाषा......।. इनकी मदद से राष्ट्रीय शिक्षा का निर्माण हुआ। दरअसल यह देखा गया है कि राष्ट्रभाषा व राष्ट्रीय इतिहास दोनों ही शालेय शिक्षा के माध्यम से निर्मित हुए हैं। पहले तो स्थानीय बोलियां थीं जिन्हें पिरोकर या किसी एक भाषा का महत्व देकर एक मानक भाषा को खड़ा किया गया फिर इसे स्कूली शिक्षा का माध्यम बनाया गया। इसी तरह कई क्षेत्रीय इतिहासों की जगह एक समूचे राष्ट्र का इतिहास पहली बार स्कूलों के लिए रचा गया ताकि सभी नागरिकों में एक होने का भाव पैदा हो।

लोकतंत्र की जरूरतें कुछ अलग होती हैं। लोकतंत्र के लिए सतर्क, सक्रिय व समझदार नागरिकों की जरूरत है। ऐसे नागरिक जो अपने विचारों पर अड़े रहें, अपने अधिकारों के लिए डटे रहें और अपने सामूहिक हितों की रक्षा के लिए संगठित हों।

सार्वभौमिक शिक्षा (सबके लिए शिक्षा) लोकतंत्र के लिए भी उतनी ही जरूरी है जितनी औद्योगीकरण और राष्ट्र निर्माण के लिए। लेकिन लोकतंत्र के लिए जो नागरिक की जरूरत है वह खुद सोच–विचार करने वाला नागरिक होगा, जो सबसे विचारों का आदान–प्रदान करेगा, सहजीवन की मर्यादाओं को समझते हुए अपने विचारों के लिए संघर्षशील रहेगा, अपने जैसे सोचने वालों के साथ मिलकर संगठित होगा, ऐसे महिला व पुरूष नागरिक तैयार करने का जिम्मा लोकतांत्रिक विद्यालयों का है। इन शालाओं में व्यक्तिवाद के लिए खास जगह होगी, और सजृनात्मकता के लिए भी । इनमें हरेक व्यक्ति को अपने हितों की रक्षा करना एक धर्म के रूप में सिखाया जाता है तो, दूसरों के फर्क मतों का सम्मान करना भी एक प्रमुख पहलू है।

आधुनिक विश्व जिस ओर बढ़ रहा है वह एक सघन केन्द्रीयकरण की दुनिया है जिसमें कुछ कंपनियां पूरी दुनिया के उत्पादन को तय करेंगी, कुछ लोग जो शासन में होंगे और जो बलशाली देशों के शासन में होंगे वे सभी के भाग्य का निर्धारण करेंगे। जैसाकि गांधी जी ने बार–बार याद दिलाया था कि केन्द्रीयकरण एक तरह की उदासीनता को बढ़ावा देता है– मैं क्या कर सकता हूं, मुझे इसमें क्या करना है आदि। यह उदासीनता लोकतंत्र और मानवता दोनों के लिए घातक होगी। केन्द्रीयकरण काफी हद तक एक असमानता की दुनिया को बढ़ावा देता है। इसमें कुछ लोगों के पास ताकत है, वे निर्णय ले सकते हैं, और वे पूरे समाज के उत्पादन के अधिकांश हिस्से के हकदार भी बनेंगे। असमानता भी लोकतंत्र के लिए घातक है और यह मानवता को विकृत कर देती है।

लेकिन ऐसा लग रहा है कि सघन केन्द्रीकरण की इस प्रक्रिया को अब पीछे नही ले जाया जा सकता। ऐसे में मानवता का क्या भविष्य है? आज कई लोग इस विषय के बारे में गहन विचार–विमर्श कर रहे हैं। इनसे कुछ नई दिशाएँ निकल रहीं हैं जो शायद आगे की राह खोलेंगी। पहला, तो यह है कि पूरे तंत्र को नियमबद्ध करना ताकि कोई भी हो वह नियमों व कानूनों के बाहर काम न कर पाए। दूसरा, हर स्तर पर पारदर्शिता को स्थापित करना ताकि सब जान पाए कि क्या निर्णय लिए गए व क्यों? इनकी खुलकर समीक्षा हो। नियमबद्धता, पारदर्शिता, समीक्षा, इन तीनों की मदद से एक सक्रिय नागरिक बने। क्या हम अपनी शालाओं में ऐसे नागरिक तैयार कर सकते हैं, जो केवल अपना जीवन यापन ही सफलता पूर्वक न गुजारे बल्कि मानवता के प्रति अपना कर्तव्य भी निभा पाएँ?

❁❁❁❄❁❁❁

शिक्षा और सामाजिक बदलाव[2]

ए. आर. कामत

यह लेख ग्रंथ शिल्पी द्वारा प्रकाशित 'शिक्षा का समाजशास्त्रीय संदर्भ' नामक पुस्तक से ली गई है। इस लेख के लेखक हैं ए. आर. कामथ। डाइट में अध्ययनरत छात्राध्यापकों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए लेख का यह संशोधित रूप है।

इस लेख में खासकर भारतीय संदर्भ में हमारा मंतव्य शिक्षा में हो रहे सामाजिक बदलाव की रोशनी में देखने के लिए आवश्यक सकल्पनात्मक ढांचे के बारे में चर्चा करना है।

I

शिक्षा ने जब से समाज में एक विशाल संगठित क्षेत्र का स्वरूप ग्रहण किया है, तभी से समाजशास्त्रियों ने इस मुद्दे को समझने का प्रयास किया है। शिक्षा और समाज के बीच क्या और कैसे संबंध हैं, इसको लेकर उनमें भारी मतांतर रहा है। एक छोर पर शिक्षा को "राज्य का सबसे महत्वपूर्ण वैचारिक" उपकरण माना जाता है, जो शासक वर्गों की खोज है ताकि वे यह सुनिश्चित कर सके कि समाज आमतौर पर उन्हीं के विचारों और हितों के अनुरूप चले। बल्कि ग्राम्शी तो इसे और बेबाक सटीक और तरीके से रखते हुए कहते हैं कि बुद्धिजीवी या शिक्षा प्रणाली की उपज (समाज के ऊँचे तबके) "शासक वर्ग के मुलाजिम हैं, जिनका काम सामाजिक वर्चस्व और राजनीतिक सत्ता के गौण प्रकार्यों का संचालन करना है। 'जाहिर है कि इस मत के विचारक यह मानते हैं कि शिक्षा एक ऐसा औजार है, जिसे शासक वर्गों ने अपने हितों की पूर्ति और रक्षा के लिए खोज निकाला है, जिससे मौजूदा आर्थिक और राजनीतिक सत्ता के ढांचे में यथास्थिति यथासंभव बनी रहे।

वहीं दूसरे छोर पर कई समाजशास्त्री, राजनीतिज्ञ, शिक्षाविद और शैक्षिक योजनाकार खड़े हैं, जो शिक्षा को सामाजिक बदलाव का, अगर सर्वाधिक महत्वपूर्ण नहीं तो, अत्यधिक महत्वपूर्ण माध्यम अवश्य मानते हैं। ऐसा तो वे तीसरी दुनिया के देशों के संदर्भ में मानते ही हैं। उदाहरण के लिए भारतीय योजना आयोग ने अपनी तीसरी पंचवर्षीय योजना (1961—62) के प्रारूप में शिक्षा के बारे में कहा था कि वह 'द्रुत आर्थिक विकास और प्रौद्योगिक प्रगति प्राप्त करने और ऐसी सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करने में एक अकेला सबसे महत्वपूर्ण कारक है, जो स्वतंत्रता, सामाजिक न्याय और समान अवसर के मूल्यों पर आधारित हो। 'इसके लिए गठित शिक्षा आयोग (1964—66) ने एक रपट पेश की, जिसका शीर्षक बड़ा ही आकर्षक था 'शिक्षा और राष्ट्रीय विकास। 'यह रपट इससे भी जोरदार ढंग से 'एक विशाल पैमाने पर बदलाव' लाने

2 शिक्षा का समाजशास्त्रीय संदर्भ, ए. आर. कामथ, पृष्ठ 172—190 (संपादक—सुरेश शुक्ल और कृष्ण कुमार)।

की बात करते हुए कहती हैं '...... इसके लिए सिर्फ एक ही साधन और एकमात्र साधन, जो काम में आ सकता है वह है शिक्षा।' शिक्षा आयोग का यह भी मानना था, 'असल में हमें शिक्षा में क्रांति लाने की जरूरत है, जो बदले में अपेक्षित सामाजिक आर्थिक और सांस्कृतिक क्रांति का सूत्रपात करे। इस तरह यह अच्छी तरह से स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन के बीच मौजूद क्रम सूत्र विद्यमान है।

यहाँ पर शिक्षा को आर्थिक विकास और सामाजिक बदलाव के मुख्य सूत्रधार के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। यह बात हम लोग अच्छी तरह से जानते हैं कि दूसरे विश्व युद्ध के बाद के दौर में, यूनेस्को ने अपने प्रकाशनो में शिक्षा की महत्ता को बराबर दोहराया है। शिक्षा संबंधी इस मत से सिर्फ अल्पविकसित देशों के विद्वानों, राजनीतिक नेतृत्व और शैक्षिक योजनाकार ही नही बल्कि पश्चिम के अधिकांश समाजशास्त्री भी सहमति रखते हैं।

I I

मनुष्य की दो विशेषताएँ उसे अन्य प्राणियों से अलग करती है। पहली विशेषता यह है कि मनुष्य अन्य मनुष्यों के साथ एक साझा जीवन एक साझी संस्कृति जीता है। दूसरे शब्दों में मनुष्य समाज में रहने वाला प्राणी है। जैसा कि वर्सली कहते है; मनुष्य इसीलिए मनुष्य है कि वह न सिर्फ जीवित लोगों बल्कि पिछली पीढियों के लोगों और अजन्में लोगों की साझी संस्कृति का हिस्सा होता है। 'उसकी दूसरी विशेषता यह है कि उसका अधिकांश व्यवहार अधिगमित या सीखा हुआ होता हैं न कि स्वाभाविक। मनुष्य समाजीकरण की प्रक्रिया के जरिए सामाजिक समूहों में जीना, उनके उत्पादक क्रियाकलापों और सांस्कृतिक जीवन में भाग लेना सीखता हैं। समाजीकरण की इसी प्रक्रिया के जरिए संस्कृति का एक पीढी से दूसरी पीढ़ी में संचार होता है। शिक्षा जिसे हम सोचे समझे संगठित शिक्षण की संज्ञा भी दे सकते हैं, वह समाजीकरण कि इसी प्रक्रिया का सिर्फ एक हिस्सा, भर है। हालांकि यह हिस्सा बड़ा महत्वपूर्ण है।

कुछ शताब्दी पहले तक शिक्षा, यानी सोचा समझा संगठित शिक्षण, समाज के गिने चुने समूहों, अभिजात्य वर्गों जैसे पुरोहित वर्ग, बनिया—व्यापारी और योद्धाओं तक ही सीमित था। पूंजीवाद और औद्योगीकरण के युग में आकर ही शिक्षा का प्रसार समाज के ज्यादा से ज्यादा समूहों तक हुआ। यह आधुनिक राष्ट्र—राज्यों का युग था। वहीं दूसरी ओर आधुनिक अर्थव्यवस्था के विकास और सामाजिक आर्थिक ढाँचे की जटिलता के साथ साथ शिक्षा प्रणाली के विस्तार और विशिष्टीकरण में संवर्धन हुआ है। यह आज ऐसे प्रशिक्षित कार्मिकों को पैदा कर रही है, जो समाज के विभिन्न स्तरों पर विभिन्न भूमिकाओं को पूरा करने और नाना प्रकार के कार्यो के निष्पादन के लिए आवश्यक सूचना के ज्ञान, कौशलों और मूल्यों से लैस होते हैं। इसीलिए शैक्षिक उत्पाद का एक उपभोक्ता होने के कारण अर्थव्यवस्था शिक्षा के स्तरों, उसके विशिष्टीकरण और उसकी पाठ्य सामग्री पर जबर्दस्त प्रभाव डालती है। ऐसा वह राजनीति और प्रशासनिक उपकरणों के जरिए हासिल करती है।

शिक्षाः लक्ष्य और ढ़ाँचा

शिक्षा के लक्ष्य, उद्देश्य और ढाँचा पैटर्न क्या है? आइए उस पर चर्चा करते हैं। यह सच है कि समाज में शिक्षा के कुछ लोकोपकारी (या समाजोन्मुखी) लक्ष्य दार्शनिकों और समाज सुधारकों के चिंतन को अभिव्यक्त करते हैं। बल्कि कुछ लक्ष्य तो मनचाहे भविष्य का ताना–बाना बुनने का प्रयास भी करते हैं। इसे हम कई पश्चिमी और पूर्वी शैक्षिक दार्शनिकों के उदाहरणों से स्पष्ट कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, स्वयं हमारे देश में स्वतंत्रता से पहले और उसके बाद शैक्षिक विचार पर महात्मा गांधी का प्रभाव रहा है। उधर भारतीय राष्ट्रवाद की शैशवावस्था में राष्ट्रीय शिक्षा को लेकर भी विचार मौजूद थे।

यह बात सिद्ध हो चुकी है कि अधिकांश देशों में वास्तविक संक्रिया में शिक्षा अपने स्वरूप और सामग्री दोनों मामले में निर्णायक सामाजिक पूर्वाग्रहों के साथ काम करती है। उसका यह सामाजिक पूर्वाग्रह मुख्यतः समाज के उच्च या प्रबल स्तरों के पक्ष में होता है। पर वहीं यह समाज के निचले स्तरों के कुछ लोगों को भी व्यावसायिक और सामाजिक गतिशीलता प्रदान करती है। साधारण लोगों में जो व्यक्ति अपनी तमाम नैसर्गिक अक्षमताओं के बावजूद वांछित श्रेणी (या 'ग्रेड') प्राप्त कर लेते हैं, उन्हे धीरे–धीरे उच्च स्तरों में सहयोजित कर लिया जाता है। यानी ऐसे व्यक्ति उच्च वर्ग में शामिल कर लिए जाते हैं। इस तरह के समायोजन और सामंजस्य के फलस्वरूप सामाजिक–आर्थिक ढाँचा कमोबेश पहले की तरह बेरोक–टोक चलता रहता है।

इस प्रकार शिक्षा प्रणाली मौजूदा सामाजिक–आर्थिक और राजनीतिक सत्ता के ढाँचे के द्वारा ढाली जाती है। इसी ढाँचे की आवश्यकताओं, अपेक्षाओं के अनुरूप इसका प्रसार, वृद्धि और विकास होता है। इसमें होने वाले परिवर्तन इस ढाँचे में होने वाले परिवर्तनों, खासकर आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शक्ति के वितरण में होने वाले परिवर्तनों से संचालित होते हैं। शिक्षा प्रणाली जो कि संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था की एक सामाजिक उपज और उसका ही अंग है, वह इस सामाजिक व्यवस्था के साथ एक संपार्श्विक संबंध स्थापित कर लेती है।

अब हम शिक्षा का वह गुण जो मानव समाज के विकास और उसकी उन्नति के लिए बुनियादी महत्व रखता है, पर चर्चा करते हैं। शिक्षा, चाहे कैसी ही हो, कैसी भी हो, उसका चरित्र दोहरा होता है। समाज की एक प्रक्रिया के रूप में शिक्षा हालांकि साधारणतया व्यक्तियों पर हावी होती है। यानी उनका सामाजीकरण वह इस तरह से करती है कि वे समाज और उसके अधिष्ठान के प्रतिमानों और मूल्यों का पालन करते हैं, पर स्वीकृत सत्यों का अन्वेषण करने और उन पर उंगली उठाने की भावना पैदा करने की क्षमता भी इसमें होती है। दूसरे शब्दों में, शिक्षा में मानव मस्तिष्क को अतीत और वर्तमान के बंधनों से मुक्त करने की क्षमता है। समाज में प्रचलित–मूल्यों और प्रतिमानों पर अंगुली उठाने, वर्तमान सामाजिक अवरोधों के विरूद्ध विद्रोह करने और विकसित सामाजिक अंतर्विरोधों का समाधान स्थापित व्यवस्था के ढाँचे से बाहर करने के लिए लोगों को तैयार करने की क्षमता भी शिक्षा में है।

आधुनिक शिक्षा प्रणाली में जो स्वायत्तता और स्वतंत्रता सीमित मात्रा में मौजूद हैं, उसमें इतनी क्षमता है कि वह सवाल उठाने और (रहस्य को उजागर) करने की प्रक्रिया को आरंभ करने के कुछ (सीमित) अवसर प्रदान कर सकती है, जो समाज को अंतश्चेतना या विवेक के रास्ते पर ले जाता है। इस प्रकार, शिक्षा व्यवस्था का चरित्र आम तौर पर पुष्टिकारी और अनुसारी होने के बावजूद इसमें विद्रोह चरित्र की संभावना भी विद्यमान रहती है। इसी के चलते ऐसे विशेष केंद्र बिंदुओं के प्रादुर्भाव की संभावनाएँ पैदा होती हैं, इसे सरल शब्दों में कहें, तो इस आंदोलन के बीज इन्हीं केंद्र बिंदुओं में स्थित होते हैं। पर असल समाज में यह आंदोलन बाहर होता है।

III

यह हमें वापस उन प्रश्नों की ओर ले जाती है, जिन्हें हमने इस लेख के आरंभ में उठाया है। ये प्रश्न हैं शिक्षा और सामाजिक बदलाव में सबंध, सामाजिक और आर्थिक विकास और सामाजिक–आर्थिक परिवर्तन लाने में शिक्षा की उपयोगिता।

शिक्षा और सामाजिक बदलाव के संदर्भ में आम तौर पर तीन या चार दृष्टिकोण देखने को मिलते हैं। पहला, शिक्षा का अस्तित्व सिर्फ उसी के लिए है और सामाजिक बदलाव से उसका कोई सरोकार नहीं। दूसरा, शिक्षा को पूर्णतः सामाजिक कारक तय करते हैं, इसलिए समाज को बदलने में इसकी कोई भूमिका नहीं हो सकती। तीसरा, शिक्षा एक स्वायत्त या अपेक्षतया स्वायत्त कारक है और इसलिए यह सामाजिक बदलाव ला सकती है और लाती भी है। आखिरी धारणा यह है कि शैक्षिक और सामाजिक बदलाव दोनों एक साथ होने चाहिए।

पहले दृष्टिकोण को लेकर अब कोई बड़ा मत नहीं है, हालांकि शिक्षा की पवित्रता और उन्नीसवीं सदी के कुछ पाश्चात्य विचारों के प्रति भारतीय मोहपाश अब भी बरकरार है। मेरा जहाँ मानना है कि यूनेस्कों और भारतीय शिक्षाविदों ने आम तौर पर तीसरे दृष्टिकोण को अपनाया है ओर उनका रूझान अब इस चौथे मत की ओर गया है कि दोनों बदलाव एक साथ चलते हैं।

इसमें संदेह नहीं कि एक अनिवार्य और अति महत्वपूर्ण कारक के रूप में शिक्षा सामाजिक बदलाव में सहायक हो सकती है। यह बदलते सामाजिक–आर्थिक और राजनीतिक ढाँचे की अपेक्षाओं के अनुरूप ज्ञान, सूचना, कौशलों और मूल्यों का प्रचार और संवर्धन करके इस प्रक्रिया के लिए प्रेरक, त्वरण (तेजी से) और उसका अनुमान लगाने में सहायक हो सकती है। तेजी से बदलती स्थिति में, जैसे किसी क्रांति के बाद के दौर में, जब बुनियादी ढाँचागत बदलाव तेजी से हो रहे हों, पुराने सांस्कृतिक और वैचारिक ऊपरी ढाँचे को नष्ट करने और उसकी जगह एक ऐसा सर्वथा उपयुक्त ढाँचा खड़ा करने में शिक्षा निस्संदेह एक शक्तिशाली अस्त्र का काम कर सकती है, जो इस तरह समाज के अनुरूप हो। उदाहरण के लिए, क्रांतिकारी सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक बदलावों के बाद पुरानी जीर्ण–शीर्ण शिक्षा व्यवस्था की जगह पूर्णतः एक नई व्यवस्था स्थापित की गई। बदले में इस नई व्यवस्था ने इन परिवर्तनों को संबल और दृढ़ता प्रदान करने का काम किया (अक्टूबर क्रांति के बाद का सोवियत संघ और उसके बाद क्यूबा और विएतनाम इसके कुछ उदाहरण हैं)। अंग्रेजों की विजय के बाद भारत में भी कुछ ऐसा ही हुआ, जब ब्रितानी शासन के तत्वाधान में आधुनिक शिक्षा प्रणाली लागू की गई, हालांकि ऐसा विकृत और सीमित तरीके से हुआ।

समाज में दूरगामी सामाजिक बदलाव की प्रक्रिया में शिक्षा सहायक हो, इसका एक और एकमात्र तरीका यह है कि इसकी मुक्तिकारी और पुनरूद्धारक भूमिका का उपयोग किया जाए, जिसमें यह मौजूदा सामाजिक स्थिति की जाँच–पड़ताल और उसका विश्लेषण करती है और स्थापित विचारधारा को चुनौती देने के लिए वैकल्पिक विचारधारा प्रस्तुत करती है। इस तरह से शिक्षा संस्थाओं में कुछ प्रतिबद्ध व्यक्ति मौजूदा शिक्षा व्यवस्था में असंतोष के कुछ बिंदु बना सकते हैं और आने वाले सामजिक बदलाव के प्रवर्तक और प्रणेता बन सकती हैं।

अब सवाल उठता है कि आखिर विकासशील देशों के राजनेताओं, शैक्षिक विचारकों और योजनाकारों और समाज विज्ञानियों के उन अनेक वक्तव्यों से कोई क्या अर्थ लगाए कि शिक्षा सामाजिक बदलाव का 'मुख्य अस्त्र' या 'सबसे महत्वपूर्ण एकमात्र कारक' है?

पर ये वक्तव्य और लोग देते हैं, तो वे इन तीनों स्थितियों को दर्शाते हैं : (1) शिक्षा की भूमिका की त्रुटिपूर्ण समझ (2) यह धारणा कि एक दूरगामी ढाँचागत परिवर्तन पहले से ही हो रहा है (या होना चाहिए), इसलिए शिक्षा की इस परिवर्तन को उसकी तार्किक परिणति तक पहुँचाने के लिए अपनी निर्णायक भूमिका को अंजाम देने के लिए आगे आना चाहिए, जो कि आनुभाविक दृष्टि से एक गलत धारणा है (3) तीसरी स्थिति दूरगामी ढाँचागत परिवर्तन के लिए किसी तरह के प्रयास के बिना मूलतः एक समाज सुधारवादी और कल्याणकारी परिप्रेक्ष्य की है, जिसमें शिक्षा से अपेक्षा रही है कि वह मौजूदा सामाजिक–आर्थिक ढांचे के दायरे में आर्थिक विकास और सामाजिक बदलाव में भूमिका निभाएगी।

चलिए हम पहली स्थिति को छोड़ देते हैं, क्योंकि यह शिक्षा की अपेक्षतया स्वतंत्र भूमिका की धारणा से निकलती है। हालांकि इसकी संभावना को हम पूरी तरह से नकार नहीं सकते। लेख के आरंभ में भारत की तीसरी पंचवर्षीय योजना और शिक्षा आयोग की रिपोर्ट का उल्लेख करते हुए हमने जिन वक्तव्यों का उदाहरण दिया है, उनका सावधानी से विश्लेषण करने पर पता चलता है कि उसमें सामाजिक आर्थिक ढ़ाँचे में बुनियादी बदलाव का कोई जिक्र नहीं है और इसीलिए उसमें अधोस्थित स्थिति वही है, जिसका संकेत हमने तीसरी स्थिति में किया है। मगर जैसा कि हमने पीछे उल्लेख किया है भारत में इस सिलसिले में जो नवीनतम सोच बन रही है, वही दूसरी स्थिति की ओर संकेत करती है। इसमें यह पैरवी की जा रही है कि सामाजिक–आर्थिक ढाँचागत परिवर्तन और शैक्षिक बदलाव दोनों साथ–साथ होने चाहिए। यहाँ यह आशा की जाती है ये बदलाव राजनीतिक–आर्थिक ढांचे को तेज झटके दिए बिना भी लाए जा सकते हैं। स्पष्ट है कि दूसरी और तीसरी दोनों स्थितियाँ परिवर्तन की अनिवार्यतः एक विकासवादी परिप्रेक्ष्य की कल्पना लेकर चलती हैं और संभव है कि इसके कुछ समर्थक बड़ी उदारता से ऐसा करते हों क्योंकि वे अक्सर इसे यह कहते हुए सही ठहराते हैं कि भविष्य में क्रांति होने की कोई संभावना नहीं है। इस प्रकार पहली और दूसरी स्थितियाँ सामाजिक परिवर्तन की द्वंद्वात्मक ऐतिहासिक रूपावली के विपरीत मूल रूप से एक आदर्शवादी धारणा का भिन्न रूप है।

IV

उनका अनुमान कुछ भी हो, हमें शिक्षा और द्रुत सामाजिक–आर्थिक विकास के बीच संबंध और बदलाव को उनके सीमित संदर्भ में, यानी बुनियादी सामाजिक–आर्थिक बदलावों के बिना ही, देखने की जरूरत है। यहाँ हम इसके दो पहलुओं को संक्षेप में ले रहे हैः आर्थिक विकास और सामाजिक बदलाव।

आर्थिक और सामाजिक विकास में शिक्षा के योगदान के स्वरूप को गहराई से देखने की जरूरत है, पर इसका प्रयत्न हम यहाँ नहीं कर सकते। यहाँ हम यह उल्लेख कर सकते हैं कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के दौर में आर्थिक विकास के साथ शिक्षा के संबंध पर राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर गंभीरता से ध्यान दिया गया। यह कहा गया कि शिक्षा आर्थिक विकास में अगर सबसे महत्वपूर्ण कारक नहीं तो, सबसे महत्वपूर्ण कारकों में एक अवश्य है। इसके दो महत्वपूर्ण परिणाम निकले। युनेस्को और पश्चिमी समाजशास्त्रियों ने और उनकी लीक पर चलने वाले तीसरी दुनिया के शिक्षाविदों और योजनाकारों ने शिक्षा को विकासशील देशों में विकास का मुख्य सूत्रधार माना।

आर्थिक विकास में एक महत्वपूर्ण निवेश के रूप में शिक्षा को लेकर उभरी इस शुरूआती उमंग की लहर ने शिक्षा के वृहद विस्तार और उसके लिए भारी धनराशि के आबंटन के लिए औचित्य भी प्रदान किया। समाज के विभिन्न तबकों से शैक्षिक सुविधाओं के लिए उठती जबर्दस्त मांग को देखते हुए ऐसा करना हर हाल में जरूरी था। मगर शीघ्र ही यह भी पता चल गया की शिक्षा नें पुरानी विषमताओं को और गहरा बनाने के साथ नई असमानताओं को भी जन्म दिया है। इसका कारण यह था कि एक ओर विकसित देशों के साथ उनके संबंध निर्भरता के थे, जिसमें किसी तरह का बुनियादी परिवर्तन नहीं आया, तो दूसरी ओर मौजूदा राजनीतिक – आर्थिक शक्ति का पुराना पड़ चुका ढाँचा अब भी मौजूद था। इसका मतलब है कि अल्प विकास के कारण शैक्षिक पिछड़ेपन में न होकर मूलतः (बाहरी और आंतरिक, दोनों) ढाँचागत कारकों में विद्यमान हैं।

शिक्षा को सामाजिक क्षेत्र में भी बदलाव के मुख्य अस्त्र के रूप में देखा गया। यहां बदलाव की कल्पना और आशा 'परंपरा – आधुनिकता' रूपावली के ढांचे में की गई, जिसमें ढांचे में परिवर्तन के बजाए संस्कृति पर अधिक जोर दिया गया पर शीघ्र ही यह देखा गया कि शिक्षा मुख्यतः मौजूदा सामाजिक स्तरीकरण को बनाए रखने और समाज को प्रबल वर्गों के विचारों मूल्यों और उनके आर्थिक–सामाजिक और राजनीतिक हितों को जारी रखने का काम करती है।

भारत और अन्य देशों में शिक्षाशास्त्र के इतिहास का सर्वेक्षण अगर समाज से उसके संबंध की रोशनी में किया जाए तो हमें इसके सामाजिक संबंध की विशेषताओं के उदाहरण मिल जाते हैं। कभी शिक्षा सिर्फ समाज का प्रतिबिंब और उसका अनुसरण करती है, तो कभी सामाजिक और आर्थिक विकास द्वारा अनुकूलित होने के कारण यह उनके साथ साथ प्रतिक्रिया करती है। और आगे के विकास को प्रभावित करती है। हालांकि शिक्षा समाज और उसके पूर्ववर्ती विकास द्वारा अनुकुलित रहती है। तो भी वह ऐसे

दौर से गुजरी है। जब वह अपने भीतर और समाज के साथ अपने अंतर्विरोध और द्वंद्वो को जन्म देती है, जिसका कारण इसकी अपनी गत्यात्मकता और स्वायत्तता है। ऐसे दौर भी आते हैं, जब शिक्षा किसी वांछित सामाजिक परिवर्तन को उसकी तार्किक परिणति तक पहुँचने के लिए एक शक्तिशाली उत्तोलक का काम करती है, जो मुख्य सामाजिक–आर्थिक और राजनीतिक सूत्र संचालकों के कारण पहले से ही होने लगा हो। हमारे नवीनतम अनुभवों के आधार पर हमारे और तीसरी दुनिया के अनेक देशों के लिए यह बात प्रासंगिक हो जाती है। कि शैक्षिक क्षेत्र में वांछित विकास और सामाजिक परिवर्तन साधारण परिस्थितयों में नहीं होते, जिसका कारण समाज में मौजूद शक्तिशाली ढाँचागत बाधाएँ हैं।

V

शिक्षा के ऐतिहासिक विकास का समाज के संदर्भ में पुनरावलोकन करने पर भारत में पिछले 150 बरसों की आधुनिक शिक्षा के विकास में हमें तीन उपकाल दिखाई देते हैं, जब शिक्षा ने परिवर्तन की प्रक्रिया में एक प्रभावशाली सह–कारक की भूमिका अदा की है : (1) आरंभिक ब्रिटिश काल से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक (2) दो विश्व युद्धों के बीच का काल और (3) स्वतंत्रता के बाद से लेकर साठ के दशक के आधे तक का काल।

पहले नई अंग्रेजी शिक्षा ने औपनिवेशिक सामाजिक–आर्थिक और राजनीतिक ढाँचे को खड़ा करने में सक्रियता से सहयोग किया। दास बनाने की इस सामान्य प्रक्रिया में इसने उन पारंपरिक नियमों और मूल्यों को तोड़ने में एक तरह के मुक्तिदाता की भूमिका भी अदा की, जो पुरातन, सामंती, सामाजिक–आर्थिक ढाँचे के अनुरूप थे और खुद उसकी राह में रोड़ा बन रहे थे। इसने नए नियमों और मूल्यों के बीज भी बोए जो समाज और आधुनिक राष्ट्रवाद के नियम और मूल्य थे।

आगे चलकर इस मुक्तिकारी प्रभाव का आंतरिकीकरण हुआ और इसने दो दिशाओं मे काम किया। पहला, इसने देशज सामाजिक व्यवस्था की सूक्ष्म संवीक्षा की दिशा मे काम किया, जिसके फलस्वरूप समाज और धार्मिक सुधार के आंदोलन और सत्य शोधक समाज जैसे विरोध आंदोलनों का प्रादुर्भाव हुआ। दूसरा, इसने नई स्थिति के संदर्भ में आत्म–खोज और स्वाग्रह की प्रक्रिया की दिशा में काम किया। इसी के फलस्वरूप सामाजिक संहति के एक वैकल्पिक केन्द्र की रचना हुई। सामाजिक संहति का यह वैकल्पिक केन्द्र राष्ट्र मुक्ति के लिए साम्राज्यवाद–विरोधी आंदोलनों था। ब्रितानी शासकों ने औपनिवेशिक ढाँचे को खड़ा करने, उसे संबल देने और जारी रखने के लिए शिक्षा की उस भूमिका से लाभ उठाने का प्रयत्न किया, जिसके जरिए वह मानव को वश में करती है। इस उद्देश्य में वे कुछ हद तक सफल भी रहे। पर वहीं नवोदित राष्ट्रवादी बुद्धिजीवी वर्ग ने इसके मुक्तिकारी शक्ति का प्रयोग औपनिवेशक शासन के विरूद्ध एक शक्तिशाली राष्ट्रीय मुहिम छेड़ने के उद्देश्य से सामाजिक और राजनीतिक जागृति फैलाने के लिए किया।

दोनों विश्वयुद्धों के बीच के काल में शिक्षा ने पहली बार एक जन स्वरूप धारण करना शुरू किया। इसने शिक्षा के मुक्तिकारी प्रभाव और व्यावसायिक और सामाजिक गतिशीलता लाने की शक्ति को सामाजिक पिरामिड में नीचे तक पहुँचाने का काम किया। शिक्षा अभी तक सवर्णों और समाज के उच्च शहरी स्तरों तक पहुँच पाई थी। पर अब यह सामाजिक क्रम परंपरा में निचले तबकों, मध्यवर्ती जातियों और मध्य स्तरों तक भी पहुँचने लगी। इसने राष्ट्रीय और सामाजिक चेतना की प्रक्रिया को और आगे नगरों–कस्बों के श्रमजीवी वर्ग और गाँवों के किसानों तक पहुँचाया। इस प्रक्रिया ने राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन और औपनिवेशिक सामाजिक परिवर्तन के आंदोलन दोनों को काफी मजबूती दी। इसने ब्रिटिश उपनिवेशक और भारतीय जनता के बीच उभरते मुख्य अंतर्विरोध को और गहरा बनाने का काम किया। औपनिवेशक ढाँचे से यह अंतर्विरोध, एक ओर शिक्षितों मे व्याप्त व्यापक बेराजगारी और दूसरी ओर शक्तिशाली छात्र और युवा आंदोलन में मुक्तिकारी प्रभाव के रूप में प्रतिबिंबित हुआ।

अंततः स्वातंत्रयोतर काल में शिक्षा के व्यापक विकास और प्रसार के चलते सामाजिक और राजनीतिक चेतना में भी उछाल आई है।

VI

इस लेख के बिल्कुल शुरूआत मे ही हमने बताया कि शिक्षा सामाजीकरण की प्रक्रिया है। आधुनिक काल में इस प्रक्रिया ने शिक्षण की एक वृहद स्तर पर प्रणाली का रूप धारण कर लिया है। लेख के इस भाग में हम समाज और सामाजिक परवर्तन से शिक्षा के संबंध को इसी कोण से देखेंगे।

सामाजीकरण की किसी भी प्रक्रिया के ये तीन मुख्य तत्व है : (1) सामाजीकरण करने वाले या सामाजीकरण के एजेंट, (2) सामाजीकरण पाने वाले यानी वे लोग जिनका सामाजीकरण किया जाना होता है, यहाँ हमारा तात्पर्य शिक्षा पाने वालों से है, (3) शिक्षा का संदेश या उसकी सामग्री। सामाजीकरण की प्रक्रिया के इन मुख्य तत्वों के साथ दो और तत्व जोड़े जाने चाहिए। और इनमें एक तत्व वह सामान्य सामाजिक संदर्भ है, जिसमें यह प्रक्रिया हो रही है। और दूसरा तत्व समाज में (सामाजिक, आर्थिक, और राजनीतिक) शक्ति का वितरण है। हाँ ये सभी एक दूसरे के साथ अन्योन्य क्रिया करते हैं। शिक्षा की इस सामाजीकरण प्रक्रिया के ये एजेंट है : (क) राजनीतिक, प्रशासनिक और शैक्षिक नेतृत्व, (ख) शिक्षण संस्थाओं के प्रबंधक ट्रस्टी इत्यादि, (ग) शिक्षा के संदेश के वास्तविक प्रचारक, यानी शिक्षकगण, और (घ) (अप्रत्यक्ष रूप से) शिक्षा के उत्पाद के उपयोगकर्ता जिसका मतलब नियोक्ताओं (रोजगारदाताओं) से है। शिक्षा के लक्ष्यों (एजेंटों के हित और जिन वर्गो) का वे प्रतिनिधित्व करते हैं उनके चिंतन और हित तय करते हैं और वे जरूरतों को ध्यान में रख कर चलते हैं। नौकरशाही भारत जैसे किसी विकासशील देश में शिक्षा के उत्पाद की एकमात्र सबसे बड़ी रोजगारदाता है। ये (और खासकर शिक्षा की विषयवस्तु) शासक वर्ग के शैक्षिक विचारों, अपने दौर के प्रमुख शैक्षिक विचारकों और दार्शनिकों के विचारों की छाप भी लिए हो सकते हैं।

शैक्षिक लक्ष्य, चाहे वे अंतनिर्हित हो या सार्वजनिक रूप से घोषित, उत्पादन प्रक्रिया और सामाजिक ढाँचे की व्यवहारिक जरूरतें, ये सभी मौटे तौर पर शिक्षा की विषय–वस्तु में औपचाारिक पाठ्यक्रम के साथ 'छिपा' पाठ्यक्रम भी होता है। यह समाज में शक्ति के वितरण और उस सामाजिक संदर्भ पर निर्भर करता है जिसमें शिक्षा प्रणाली काम कर रही है। ये पाठ्य पुस्तकों में प्रयोग किए जाने वाले शब्दों और इस विषय वस्तु का प्रबंध करने वाले शिक्षकों की मनोवृत्तियों और उनके मूल्यों को प्रभावित करते हैं। यानी ये उस तरीके को प्रभावित करते हैं, जिसमें शिक्षा की विषयवस्तु को उसके ग्रहण करने वाले (विद्यार्थियों) तक पहुँचाया जाता है। इसके परिणाम को डीवी इस प्रकार व्यक्त करते हैंः **''राजनीति और धर्म की तरह संस्थागत शिक्षा भी प्रबल संस्कृति के अनुष्ठानों में विद्यार्थियों को दीक्षित करने का प्रयास है।''**

शिक्षक समुदाय जो कि असल में सामाजीकरण की इस प्रक्रिया के आधारभूत और प्रत्यक्ष एजेंट है, उसकी संरचना, उनकी पृष्ठभूमि और उन मनोवृत्तियों और मूल्यों की दृष्टि से मिली–जुली हो सकती है। जो वे अपने साथ लेकर आते हैं। ये मनोवृत्तियाँ और मूल्य सामान्यतः सामाजिक संदर्भ का परिणाम है। यानी ये सामाजिक ढाँचे और समाज के विभिन्न समुदायों के मूल्य पैटर्न के साथ साथ शिक्षा की सामाजीकरण प्रक्रिया का भी परिणाम है, जिससे स्वयं शिक्षकगण निकले होते है। शिक्षा प्राप्त करने वाले (विद्याार्थी) भी एक मिला–जुला समूह होते हैं। बल्कि वे अपनी मनोवृत्तियों और मूल्यों के मामले में अपने शिक्षकों से भी ज्यादा अलग होते हैं। वे अधिगम की प्रक्रिया में जिन प्रेरणाओं को अपने साथ लेकर आते है उनके मामले में भी अंतर उनमें उतना ही अधिक होता है।

शैक्षिक प्रक्रिया को यदि हम उपरोक्त विश्लेषण के अनुसार देखते हैं, तो शिक्षा का समाज और सामाजिक परिवर्तन से क्या संबंध है? उसके लिए हम तत्काल दो मूल निष्कर्ष निकाल सकते हैं। पहला, अपने वास्तविक व्यवहार मे शिक्षा समाजीकरण के एजेंटो के सामूहिक व्यवहार से ऊपर नहीं उठ सकती इसका अर्थ यह है कि शिक्षा मौजूदा सामाजिक हितों से ऊपर नहीं उठ सकती। दूसरा निष्कर्ष इससे यह निकलता है कि समाज में शिक्षा के जरिए वांछित सामाजिक बदलाव वास्तविकता में उसी हद तक संभव है, जहाँ तक समाजीकरण के वाहक, शिक्षा के एजेंट उदात्त आशाओं और उपदेशों को छोड़ इस तरह का आर्थिक और सामाजिक बदलाव लाने की स्वाभाविक इच्छा रखते है। इसलिए यह इस पर निर्भर करेगा कि यह उनके वास्तविक हितों के अनुरूप है या नहीं। पर वहीं इसे छात्रों और उन समुदायों के हितों और प्रेरणाओं के अनुरूप भी काम करना होता है। जिन समुदायों से वे आते हैं इन दोनों में जितनी अधिक अनुरूपता होगी, परिवर्तन की गति भी उतनी ही तेज होगी।

VII

अब हम भारत में आधुनिक शिक्षा के 150 बरसों के दो कालों का संक्षेप में पुनरावलोकन करेंगे : (1) आरंभिक ब्रिटिश काल और (2) दो विश्वयुद्ध के बीच का काल।

आरंभिक ब्रिटिश काल में यानी 1850 और उसके बाद सामान्य सामाजिक संदर्भ क्या रहा होगा? आक्रामक ब्रिटिश पूंजीवाद अर्थव्यवस्था और उसके अनुरूप सामाजिक ढाँचा भी थोप रहा था। समाज में सत्ता का पुराना ढाँचा वर्ण–व्यवस्थावादी सामंतवादी ढाँचा था, जो समाज में व्यावसायिक और प्रस्थिति क्रम–परंपरा के साथ (हिंदू) सांस्कृतिक लोकाचार को भी निर्धारित करता था। सत्ता के जिस नए ढाँचे ने

अपने को इस पर थोपा, उसका शीर्ष ब्रिटेन में था और उसका मुख्य उद्देश्य स्थानीय अर्थव्यवस्था को ब्रिटिश पूंजी, ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासक वर्ग के लाभ के लिए एक उपयुक्त औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में बदलना था। इन्हीं परिस्थितियों में भारत में पश्चिमी शिक्षा यानी अंग्रेजी शिक्षा आरंभ की गई।

इस सामाजीकरण के मुख्य कारक भारत में मौजूदा ब्रिटिश प्रशासक और इंग्लैंड में उनके नीति–निर्माता थे। इस सामाजीकरण को हम इस मायने में पूर्वानुमानित सामाजीकरण की संज्ञा दे सकते हैं कि इससे अपेक्षा की गई थी कि ऐसा आर्थिक–सामाजिक बदलाव लाएगी जो ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन को जारी रखने में सहायक हो।

सामाजीकरण के इन कारकों में शिक्षा के मामले में अपने–अपने उद्देश्यों के अनुसार तीन या चार श्रेणियाँ मौजूदा थी : (क) इनमें एक श्रेणी विशुद्ध प्रशासकों की थी। ये भारत में अंग्रेजी शिक्षा को इसलिए फैलाना चाहते थे कि वे पर्याप्त संख्या में बिचौलिए और (अंग्रेजी शासन और संस्कृति के) दुभाषिए पा सकें, जो प्रशासन में नीचे के पदों पर काम करें और नए औपनिवेशिक ढाँचे में उभर रहे नए व्यवसायों (अध्यापन सहित) को अपनाएँ। (ख) दूसरी श्रेणी राजनीतिक व्यावहारिकतावादियों की थी। ये लोग ब्रितानी शिक्षा का भारतीय संस्करण बनाना चाहते थे, जो सिर्फ कनिष्ठ नौकरशाही और पेशेवर लोगों की जमात को पैदा ना करे। बल्कि जो भारत में राजनीतिक आधार प्रदान कर सकने वाले, अंग्रेजी बुद्धिजीवी वर्ग का हूबहू संस्करण पैदा करें। यानी भारत में ऐसा बुद्धिजीवी वर्ग पैदा करें, जो पाश्चात्य शिक्षा की उपज हो। (ग) तीसरी श्रेणी धर्म–प्रचारक यानी ईसाई मिशनरियों की थी, जिनका मुख्य उद्देश्य इस 'अंधकार भरी' भूमि में पश्चिमी ज्ञान और 'ईसाई संस्कृति' का प्रचार–प्रसार करना और स्थानीय लोगों को ईसाई धर्म का अनुयायी बनाना था। (घ) इनमें सबसे आखिरी कड़ी उदार मानववादियों की थी, जो शिक्षा के जरिए सिर्फ नए ज्ञान और कौशलों को ही नहीं फैलाना चाहते थे। बल्कि ये लोग उदार मानववादी मूल्यों, निजी स्वतंत्रता, समानता, विवेक, पंथ निरपेक्षता और जनतंत्र के मूल्यों को भी फैलाना चाहते थे।

इस तरह के वर्गीकरण से हमें उस काल में सामाजीकरण के मुख्य (ब्रिटिश) एजेंटों के मुख्य प्रायोजनों, उनके मंतव्यों को बेहतर ढंग से जानने, समझने में मदद मिलती है। इस आरंभिक काल के शुरू में शिक्षा पाने वाले भारतीय समाज के ऐसे समूह थे, जो फुटकर व्यापार और व्यवसाय के जरिए या कनिष्ठ प्रशासकीय पदों के जरिए अंग्रेजों के संपर्क में पहले ही आ चुके थे। मगर शीघ्र ही नौकरियों (और थोड़ा–बहुत आधुनिक शिक्षा) के प्रलोभन ने भारी संख्या में छात्रों को अंग्रेजी शिक्षा की ओर आकर्षित किया। जिन छात्रों ने हाईस्कूल और फिर आगे चलकर कॉलेजों में प्रवेश किया, उनका एक बहुत बड़ा हिस्सा समाज की ऊपरी परत, मुख्यतः जातियों (ब्राह्यण, कायस्थ और अन्य जातियों) से थे। समाज के सबसे निचले स्तर के छात्र तो पहले उनमें थे ही नहीं और अगर कहीं थे भी तो वे विरले ही थे। शिक्षाग्राहियों की सामाजिक बनावट कमोबेश समान थी। पर वे सभी ऐसी सांस्कृतिक परंपरा और परिवेश से निकले थे, जिसके विचार और मूल्य पश्चिमी शिक्षा के साथ आने वाले विचारों और मूल्यों से दो ध्रुवों की तरह अलग थे।

शिक्षा का संदेश या उसकी विषयवस्तु उसके लक्ष्यों को प्रतिबिंबित करती थी, यह सच है कि वास्तविक पाठ्यक्रम की इन लक्ष्यों को मौजूदा सामाजिक संदर्भ की वास्तविकताओं के अनुरूप ढालना पड़ा था। इन वास्तविकताओं में शिक्षाग्राहियों की सामाजिक संरचना और पृष्ठभूमि भी शामिल थी। इसके अलावा, शिक्षा के लक्ष्यों को हालांकि (भारत और इंग्लैंड दोनों देशों में स्थित) ब्रिटिश शासकों ने ही तय किया।

सामाजीकरण की इस प्रक्रिया के द्वितीयक कारक अध्यापक, जिनका दायित्व इसके संदेश को पहुँचाना था, मुख्यतः ऊँची जाति मूल के भारतीय ही थे, जिनके सांस्कृतिक मूल्य सर्वथा भिन्न थे। इसका परिणाम यह रहा कि जो संदेश असल में शिक्षाग्राहियों तक पहुँचाया गया, जब वह इस छलनी से होते हुए गुजरा तो उसका स्वरूप काफी बदल गया। शिक्षा की विषय वस्तु के सिर्फ वही तत्व छात्र समुदाय तक पहुँचे, जिन्हें या तो ब्रितानी शासन और औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं के कारण संप्रेषित करना जरूरी था या जो संबंधित शिक्षकों को आकर्षित करते थे।

जैसे–जैसे समय बीतते गया, प्रबंधकों के स्तर पर एजेंटों के संघटन में भारी बदलाव आया और उसकी जगह देशज प्रबंधन ने ले ली। अध्यापकों और छात्रों का संघठन भी पारंपरिक सामाजिक स्तर की दृष्टि से बदल गया। सामाजिक संदर्भ भी बदल गया। भारतीय समाज की अग्रिम पंक्ति राष्ट्रीय आंदोलन की मांग लेकर अंग्रेज शासकों के विरोध में उठने लगी थी। इसलिए शिक्षाग्राहियों तक संचारित होने वाले संदेश की वास्तविक विषय वस्तु भी बड़े पैमाने पर बदल गई। स्पष्ट हैं कि यह बदलाव कई कारणों से आया था, पश्चिमी शिक्षा जिसका सर्फ एक महत्वपूर्ण कारक थी।

यहां पर शायद एक प्रासंगिक बात कहना असमचीन नहीं होगा। शैक्षिक प्रक्रिया ऐसे सामाजिक परिवर्तन ला सकती है, जिन्हें सामाजीकरण के एजेंटों ने न तो कभी सोचा होता है या सचेतन लक्ष्य किया होता है। आधुनिक अधिगम के आरंभ और प्रसार का भारत में स्वतंत्रता ऐसा ही एक परिणाम था। ऐसा एक और परिणाम, जो पूर्णतः अभिप्रेत नहीं था, यह रहा कि अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतीयों में अपने ही समाज के प्रति पराएपन की भावना आई। (यह इस मायने में अंशतः अभिप्रेत था कि भारत में अंग्रेजी शिक्षा शुरू करने वाले अंग्रेजों के लक्ष्यों में एक धारा भारत में ऐसे लोगों को पैदा करना था, जो लार्ड मैकॉले के शब्दों में 'अपनी चमड़ी के रंग के अतिरिक्त शेष हर मामले में ब्रिटिश हों।')

यह सच है कि एक निरक्षर या अर्ध–साक्षर समाज में यह शिक्षा, शिक्षितों का अलग घेरा है, उन्हें (अशिक्षित) साधारण लोगों से दूर रखती है। देशज शिक्षा इसका अपवाद नहीं हैं। उच्च शिक्षा तो ऐसा बहुत बड़े पैमाने पर करती है। शायद एक असमान समाज में सामान्यतः शिक्षा का और विशेषकर उच्च शिक्षा का यह एक स्वाभाविक परिणाम है। इसके बावजूद समाज में शिक्षितों और अशिक्षितों के बीच एक तरह का संबंध बना रहता है क्योंकि उनके बीच संवाद के लिए भाषा संबंधी कोई अवरोध नहीं रहता। एक ओर पराई भाषा के जरिए नई शिक्षा आई तो दूसरी ओर नवशिक्षित वर्ग (कम से कम आरंभिक चरणों में) विदेशी शासकों के घनिष्ठ मित्र और सहयोगी बने। पर यहाँ इन दोनों बातों ने मिल कर अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतीयों को अपने समाज से और ज्यादा दूर किया। इसमें एक बड़ा सहयोगी कारक वे विचार और मूल्य थे जो इस नई शिक्षा के साथ ने उनमें भरे थे। ये मूल्य और विचार इस जमीन में नहीं उगे थे, बल्कि उन्हें सामाजिक व्यवस्था से बाहरी शक्तियों ने शिक्षाग्राहियों पर जानबूझ कर थोपा था। इससे नव शिक्षित लोग अपने ही परिवार, समुदाय और शेष वृहत्तर समाज के सदस्यों से दूर हो गए जो नवीन शिक्षा के आकर्षक घेरे से बाहर रह गए थे। इसका उल्लेख यहाँ विशेष रूप से किया जा रहा है, क्योंकि भारत का शिक्षित अभिजात्य वर्ग आज भी इस पराएपन से ग्रस्त है।

दो विश्व युद्धों के बीच का काल– शिक्षा के प्रसार ने परिवर्तन के जिस दूसरे काल को आंशिक रूप से प्रभावित किया वह दो विश्व युद्धों के बीच का काल था। पहले विश्व युद्ध के समाप्त होने के बाद व्यापक राजनीतिक और सामाजिक चेतना और अर्थव्यवस्था में उल्लेखनीय उन्नति के युग का सूत्रपात हुआ, हालांकि ये सब औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था और राज व्यवस्था की परस्पर विरोधी सीमाओं में हुआ। इधर राष्ट्रीय आंदोलन दिनोंदिन शक्तिशाली हो रहा था और उसने उग्र रूप धारण कर लिया था। अपना मैत्रीपूर्ण रूख दिखाने के लिए ब्रितानी साम्राज्यवादियों ने आंशिक राजनीतिक सुधार पहले 1919 में और फिर 1935 में किए। इस प्रक्रिया में भारत सरकार अधिनियम बनाए गए, जिनके अंतर्गत कुछ राजनीतिक अधिकार प्रांतीय स्तर पर भारत के निर्वाचित मंत्रियों को हस्तांतरित किए गए। इनमें से एक अधिकार शिक्षा का था। राष्ट्रव्यापी राष्ट्रीय चेतना के साथ मिलकर इसने शिक्षा को समाज के नए स्तरों तक पहुँचाया। इसके फलस्वरूप शिक्षा विशेषकर मध्य जाति समूहों और कुछ हद तक समाज के निचले और सबसे निचले तबके तक पहुँची। उदाहरण के लिए यही वह काल है जब महाराष्ट्र में भाउराव पाटिल ने ग्रामीण लोगों तक प्राथमिक शिक्षा पहुँचाने के उद्देश्य से रैयत शिक्षण संस्था की स्थापना की थी।

सामाजीकरण के एजेंटों, प्रबंधकों और शिक्षकों का संगठन बदलने लगा और उसमें मध्य और निम्न जातियों के शिक्षित लोग भी शामिल होने लगे। शिक्षा पाने वाले भी अब भिन्न लोग थे, वे सामाजिक पिरामिड के निचले सोपानों के थे। अंशतः उनकी जरूरतों को देखते हुए, हाईस्कूलों में शिक्षण का माध्यम बदल गया, और उनमें पढ़ाई भारतीय भाषाओं में होने लगी।

ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में हुए शिक्षा के इस प्रसार का मतलब सिर्फ यही नहीं था कि इसके फलस्वरूप मध्य और निम्न सामाजिक स्तर के लोग भी शिक्षित मध्यम वर्ग, अर्थव्यवस्था और विशेषकर नौकरशाही में प्रवेश करने लगें। बल्कि इसका मतलब उनमें राजनीतिक चेतना और सामाजिक जागृति भी आना था। महाराष्ट्र में कालांतर में भारी संख्या में गैर–ब्राह्मण राजनीतिक नेतृत्व उदय के सूत्र हमें शिक्षा के इसी प्रसार में मिल सकते हैं। इसी जागृति के फलस्वरूप वर्गों का एक शक्तिशाली आंदोलन और किसानों के संगठनों का उदय हुआ। राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की मुख्यधारा में इनके आ मिलने से इसने उग्र जन आंदोलन का स्वरूप धारण कर लिया। इस काल में कांग्रेस के अंदर और बाहर समाजवादी और साम्यवादी विचारों और उनके संगठनों का उदय भी हुआ। शिक्षा में हुई नई प्रगति ने इन सभी बदलावों को शक्तिशाली बनने में सहायता की ।

इसी बीच, माध्यमिक और उच्च शिक्षा के प्रसार के अंतर्विरोध ने औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में शिक्षितों में भारी बेरोजगारी अर्थात् इस राष्ट्रीय मुक्ति के आंदोलन में आग में घी डालने का काम किया। इस प्रकार इसे सामाजीकरण की प्रक्रिया के रूप में देखनें पर इस काल में शिक्षा के विस्तार और उसके सुदृढ़ीकरण ने अपेक्षतया तेज गति से हो रहे सामाजिक, सामाजिक–राजनीतिक और अन्य सामाजिक बदलावों को अवलंबन प्रदान किया।

भारत में शिक्षा के तेज प्रसार और विकास का ऐसा तीसरा काल स्यातंत्र्योत्तर काल है, जिसने दूरगामी सामाजिक–आर्थिक, सामाजिक राजनीतिक और सामाजिक बदलाव लाने में सहायता की है पर इसके लिए एक अलग विस्तृत और व्यवस्थित विश्लेषण की जरूरत है।

❀❀❀❀❀❀❀

इकाई क्र. 3 – स्वतंत्र भारत में शिक्षा

पठन सामग्री क्र. 9

शिक्षा आयोग और उसके बाद

भारतीय शिक्षा आयोग 1964–66

कोठारी आयोग की कई सिफारिशों का क्रियान्वयन तो पिछले 50 सालों में हुआ है। मगर आज भी उसके द्वारा निर्धारित लक्ष्य तक हम नहीं पहुँच पाये हैं – आज भी हमारे देश का एक बहुत बड़ा तबका निरक्षर है और एक बहुत बड़े तबके के बच्चे स्कूल नहीं जा पाते हैं तथा आने वाले समय में निरक्षर लोगों की संख्या बनी रहेगी। जो बच्चे स्कूल आ रहे हैं वे भी बहुत कम सीख पा रहे हैं। सबके लिए समान स्कूल का सपना अब शायद सपना ही बनकर रह जायेगा क्योंकि शिक्षा में विभेदीकरण तेजी से बढ़ रहा है।

इन सब बातों का एक प्रमुख कारण वित्तीय समस्या रहा है। शासन सबके लिए शिक्षा उपलब्ध कराने के लिए जरूरी वित्तीय प्रावधान आज तक करने में असमर्थ रहा है जिस कारण पालकों को निजी शालाओं में अपने साधन से बच्चों को शिक्षित करना पड़ रहा है।

इस पठन सामग्री का चयन विश्वभारती पब्लिकेशन, नई दिल्ली से प्रकाशित, मनोज गुहा की पुस्तक 'भारत की शिक्षा व्यवस्था' नामक पुस्तक से आवश्यकतानुसार चयन कर लिया गया है। साथ ही कुछ अंशों का लेखन भी किया गया है।

पंचवर्षीय योजनाओं की सफलताओं के कारण देश का आर्थिक और राजनीतिक ढाँचा बदल रहा था, नये मूल्य स्थापित हो रहे थे, देश तथा समाज की नयी–नयी आवश्यकताएँ पैदा हो रही थीं। सामाजिक संगठनों के रूप में परिवर्तन ने नयी आवश्यकताओं को जन्म दिया था। मुदालियर आयोग की सिफारिश पर देश में बहुउद्देशीय विद्यालय स्थापित हो चुके थे, उनकी कार्य–प्रणाली तथा उपलब्धियों का मूल्याकंन करना आवश्यक हो गया था। अतः 1964 में भारत शासन ने राष्ट्रीय शिक्षा आयोग का गठन किया इस उद्वेश्य के साथ कि वह भारत के वर्तमान शिक्षा की स्थिति पर विचार करके आगे के लिए कुछ नीति निर्धारण करे। इस आयोग के अध्यक्ष थे डी.एस.कोठारी जो एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक थे। इस आयोग ने 1966 में अपना प्रतिवेदन (रिपोर्ट) भारत सरकार को सौंपा। एक हजार से ज्यादा पन्नों का यह रिपोर्ट बहुत ही विस्तृत है और समूचे शिक्षा व्यवस्था के हरेक पहलू पर इसमें चर्चा व अनुशंसा है। एक तरह से यह स्वतंत्र भारत के शिक्षा नीति का एक बुनियाद बन गया है।

1960–65 वह दौर था जब भारत अपने द्वितीय पंचवर्षीय योजना क्रियान्वित कर रहा था। यह एक महत्वाकांक्षी योजना थी जिसमें भारत को एक आधुनिक व औद्योगिक राष्ट्र बनाने का संकल्प था। स्वतंत्र भारत के सामने कई चुनौतियाँ थीं– गरीबी और भुखमरी, निरक्षरता और अंधविश्वास, जाति–भाषा–धर्म

संबंधित आपसी झगड़े, आर्थिक विकास के लिए साधन की कमी आदि। क्या देश इनसे निपटकर एक आधुनिक व संपन्न व एकजुट राष्ट्र बनेगा, यह सब के सामने एक सवाल था। पंचवर्षीय योजना से आशा थी कि इसके माध्यम से भारत अपने पिछड़ेपन, अज्ञान और गरीबी से, उभरकर एक शक्तिशाली देश के रूप में उभर पायेगा। कोठारी आयोग ने यह देखने का प्रयास किया कि इस महान काम में किस तरह की शिक्षा मदद कर सकता है। इसके रिपोर्ट का शीर्षक ही था–''शिक्षा व राष्ट्रीय विकास''।

आयोग ने राष्ट्र के सामने यह संकल्प रखा कि अधिक से अधिक 20 वर्षों में यानी 1986 तक भारत का हर नागरिक प्राथमिक शिक्षा प्राप्त हो और कोई भी निरक्षर नहीं हो। कम से कम उद्योग, व्यापार व सेवा क्षेत्र में उच्चतर माध्यमिक व स्नातकों की संख्या 20 प्रतिशत से अधिक हो।

यहाँ हम कोठारी आयोग रिपोर्ट के प्रथम अध्याय 'शिक्षा और राष्ट्रीय उद्देश्य' का सारांश प्रस्तुत कर रहे हैं–

1. ऐसे बदलाव लाना जो शिक्षा को लोगों के जीवन, जरूरतों व आकांक्षाओं से जोड़े और शिक्षा को राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्ती के लिए परिवर्तन का एक शक्तिशाली औजार के रूप में स्थापित करे। इसके लिए शिक्षा को इन उद्देश्यों से जोड़ने की जरूरत है– उत्पादन बढ़ाने, राष्ट्रीय व सामाजिक एकीकरण बढ़ाने, आधुनीकीकरण की प्रक्रिया में तेजी लाने तथा सामाजिक, नैतिक व आध्यात्मिक मूल्यों को विकसित करने का संकल्प।
2. उत्पादकता बढ़ाने के लिए विज्ञान शिक्षण, कार्य अनुभव (जिसमें उत्पादन कार्य में विज्ञान व तकनीकी का उपयोग हो), तथा वोकेशनल शिक्षा पर जोर हो।
3. **सामाजिक व राष्ट्रीय एकता के लिए –**
    I. सब के लिए सामान्य पड़ोसी शालाः इसे एक राष्ट्रीय उद्देश्य मानकर 20 साल में पूरा किया जाये।
    II. सामाजिक सेवाकार्य को शिक्षा का अंग बनाना।
    III. मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा में प्राथमिक स्तर से लेकर स्नातक स्तर तक शिक्षा की व्यवस्था करना। विभिन्न प्रांतों के लोगों से संवाद के लिए अंग्रेजी को पढ़ाया जाना चाहिए, और यह प्रयास करते रहना चाहिए कि धीरे–धीरे हिन्दी इसकी जगह ले ले। इनके अलावा हर राज्य में ऐसे लोग हों जो दूसरे राज्य के लोगों की भाषा को जाने व समझें– इसके लिए आधुनिक भारतीय भाषाओं के शिक्षण पर जोर होना चाहिए।
    IV. राष्ट्रीय चेतना को बढ़ावा देना– भारतीय संस्कृति, विचार, साहित्य व इतिहास का अध्ययन कराना। संविधान में लिपिबद्ध राष्ट्रीय उद्देश्यों व मूल्यों की शिक्षा, तथा नए भारत के निर्माण में विश्वास जगाना।
    V. अंतर्राष्ट्रीय संद्भावना को बढ़ाना
    VI. लोकतांत्रिक मूल्यों को बढ़ाना

4. **शिक्षा व आधुनीकीकरण**

ज्ञान का भंडार असीम है और इसमें तेजी से विस्फोट हो रहा है। ऐसे में हमारी शिक्षा केवल तैयार जानकारी को याद करने तक सीमित न रहकर, बच्चों में जिज्ञासा व खुद से सोचने व निर्णय लेने की क्षमताओं का विकास के लिए प्रयास करना चाहिए। आधुनीकीकरण के लिए यह भी जरूरी है कि हमारे देश में एक ऐसा बुद्धिजीवी वर्ग तैयार हो जो समाज के हर समुदाय से आये और जो इस देश के प्रति निष्ठावान हो।

5. हर स्तर पर सामाजिक, नैतिक व आध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा पर जोर हो।
6. सभी धर्मों के बारे में शिक्षा दी जाये ताकि युवा वर्ग सभी धर्मों के मूल समानता को पहचान पायें।

सबके लिए समान शाला

कोठारी आयोग ने राष्ट्र निर्माण के लिए सबके लिए समान शालाओं की स्थापना की जोरदार पैरवी की थी। इस संदर्भ में आयोग का कहना इस प्रकार था :

आज भारत में शिक्षा का दायित्व है कि विभिन्न सामाजिक वर्गों को साथ लाना और एकजुट व समतावादी समाज का निर्माण करना। लेकिन वर्तमान में हमारी शिक्षा समाज के विभिन्न समूहों के बीच दूरी को बढ़ा रही है। प्राथमिक स्तर पर निःशुल्क शासकीय शाला में जहाँ, गरीब बच्चे पढ़ते हैं– आमतौर पर निम्न गुणवत्ता के होते हैं। कुछ निजी शालाएँ बेहतर हैं मगर उनमें दाखिला केवल ऊंचे फीस दे पाने वाले मध्यम व उच्च वर्ग के लोग प्रवेश लेते हैं। माध्यमिक व उच्च माध्यमिक शालाएँ ज्यादातर निजी हैं और वहाँ 10 प्रतिशत अमीरों के अलावा और कोई तबको का पहुँचना खासा मुश्किल है। इस प्रकार वर्तमान शिक्षा समाज में विभेदीकरण का माध्यम बन गया है।

यह हमारी शिक्षा प्रणाली की खास कमजोरी है। अच्छी शिक्षा सबके लिए न होकर कुछ लोगों तक पहुँच पाती है। ये बच्चे भी गुणवत्ता के आधार पर चयनित न होकर अपने फीस देने की क्षमता के आधार पर चयनित होते हैं। इस कारण राष्ट्रीय क्षमता का भण्डार प्रभावित होता है और यह बात राष्ट्र में एकता व समानता लाने में बाधा बन सकता है। यह परिस्थिति केवल गरीब बच्चों के लिए ही प्रतिकूल नहीं है बल्कि अमीर बच्चों के लिए भी हानिकारक है।

आखिर उनका दूरगामी हित इसी में है कि वे समाज के आम लोगों से जुड़े रहें – उनसे कटे नहीं। उन्हें अलग रखने से वे सामान्य जीवन व यथार्थ से दूर हो जाते हैं। सामाजिक एकता को कमजोर करने के अलावा यह अमीर बच्चों की शिक्षा को कमजोर और अपूर्ण या हल्का कर देता है। अगर हम इस कमजोरी को दूर करना चाहते हैं तो हमें सब के लिए सामान्य शाला की स्थापना करना होगा। इन शालाओं में सभी धर्म, जाति, व आय वर्ग (अमीर व गरीब) के बच्चे साथ पढ़ सकें, कोई फीस नहीं हो, और सभी को गुणवत्ता की शिक्षा मिले।

आयोग के मुख्य सुझाव

प्रशासन सम्बन्धी कुछ महत्वपूर्ण सुझाव

1. राष्ट्रीय शिक्षा अनुसन्धान एवं प्रशिक्षण परिषद को अखिल भारतीय स्तर पर विद्यालयी शिक्षा का भार सौंपा जाए।
2. शिक्षा को राष्ट्रीय महत्व का विषय माना जाए और उसकी राष्ट्रीय नीति घोषित की जाए। इसके लिए केन्द्र सरकार 'नेशनल एजूकेशन एक्ट' और प्रान्तीय सरकारें 'स्टेट एजूकेशन एक्ट' बनाएं।
3. केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय में शिक्षा सलाहकार और शिक्षा सचिव के पदों पर सरकारी, गैर सरकारी, भारतीय शिक्षा सेवा और विश्वविद्यालयों में से योग्यतम व्यक्तियों का चयन किया जाए।
4. 'भारतीय शिक्षा सेवा' में उन व्यक्तियों का चयन किया जाए जिन्हें शिक्षण कार्य का पर्याप्त अनुभव हो।
5. केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड को और अधिक अधिकार दिए जाएं।

वित सम्बन्धी सुझाव

1. सरकार अपने केन्द्रीय बजट में शिक्षा के लिए कम से कम 6 प्रतिशत का प्रावधान करे।
2. राज्य सरकारें भी अपने बजटों में शिक्षा के लिए और अधिक धनराशि आबंटित करें।
3. राज्यों में स्थानीय संस्थाओं (ग्राम पंचायतों और नगर पालिकाओं) को उनके क्षेत्र की प्राथमिक शिक्षा संस्थाओं का वित्तीय भार सौंपा जाए।
4. व्यक्तिगत स्रोतों से अधिक से अधिक धन प्राप्त किया जाए।
5. शिक्षा हेतु आय के स्रोत बढ़ाने के उपायों की खोज की जाए, इस क्षेत्र में अनुसंधान किए जाएँ।

शिक्षा की संरचना सम्बन्धी सुझाव

1. सामान्य शिक्षा की कुल अवधि 10 वर्ष होनी चाहिए।
2. उच्चतर माध्यमिक शिक्षा की अवधि सामान्य वर्ग की 2 वर्ष और व्यावसायिक वर्ग की 1 से 3 वर्ष होनी चाहिए।
3. विद्यालय संकुलों का यथा शीघ्र निर्माण किया जाए। एक संकुल में एक माध्यमिक स्कूल और उसके निकटवर्ती सभी प्राथमिक स्कूल हों।
4. प्रथम सार्वजनिक परीक्षा 10 वर्ष की सामान्य शिक्षा समाप्त करने पर होनी चाहिए।
5. सामान्य शिक्षा आरम्भ करने से पूर्व छात्रों को 1 से 3 वर्ष तक की पूर्व विद्यालय या पूर्व–प्राथमिक शिक्षा दी जानी चाहिए।
6. प्राथमिक शिक्षा की अवधि 7 से 8 वर्ष की होनी चाहिए और इसको अग्रलिखित दो भागों में किया जाना चाहिए पहला, 4 से 5 वर्ष की निम्न प्राथमिक शिक्षा और दूसरा, 3 वर्ष की उच्च प्राथमिक शिक्षा।

7. निम्न माध्यमिक शिक्षा की अवधि 2 या 3 वर्ष की होनी चाहिए।

8. निम्न माध्यमिक स्तर पर छात्रों को दो प्रकार की शिक्षा दी जानी चाहिए–
2 या 3 वर्ष की सामान्य शिक्षा, और 1 से 3 वर्ष की व्यावसायिक शिक्षा।

9. उच्चतर माध्यमिक शिक्षा की अवधि 2 या 3 वर्ष की होनी चाहिए।

10. प्रथम सार्वजनिक बाह्य परीक्षा 10 वर्ष की विद्यालय शिक्षा के पश्चात् होनी चाहिए।

11. कक्षा 1 में प्रवेश करने की आयु साधारणतः 6 वर्ष से कम नहीं होनी चाहिए।

12. 9वीं कक्षा से पृथक् विद्यालय स्थापित किए जाने की प्रचलित विधि का अन्त कर देना चाहिए।

13. 10वीं कक्षा तक छात्रों को किसी विषय में विशिष्टीकरण की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए।

14. माध्यमिक विद्यालय केवल अग्रांकित दो प्रकार के होने चाहिए –

    1. हाईस्कूल। हाईस्कूलों में शिक्षा की अवधि 10 वर्ष की और
    2. हायर सेकेण्डरी स्कूलों में यह अवधि 12 वर्ष की होनी चाहिए।

शिक्षाआयोग ने सुझाव दिया है कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण हमारे जीने के ढंग और संस्कृति का अभिन्न अंग बन जाय। इसके लिए विज्ञान और गणित की शिक्षा एक स्तर तक सभी के लिए अनिवार्य होना चाहिए।

राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली की आधारभूत मान्यताएँ और प्रतिमान–

1. हम किस प्रकार के भावी समाज की परिकल्पना करते हैं ?
2. हम समाज और शिक्षा के मध्य कैसे सम्बंधों की कल्पना करते हैं ?

ऐसा समाज जो लोकतांत्रिक धर्मनिरपेक्ष और समानतावादी हो और जो आध्यात्मिक और वैज्ञानिक मान्यताओं पर आधारित हो। जिसमें विज्ञान और तकनीकी के मानव हितार्थ उपयोग से निर्धनता, अज्ञानता और अस्वास्थ्य को मिटा दिया गया हो। विज्ञान और तकनीकी की सहायता से शिक्षा का सम्बंध समाज की आवश्यकतानुसार उत्पादकता से जोड़ा जा सके और हर व्यक्ति समाजोपयोगी उत्पादक कार्य में स्वयं को संलग्न कर सके।

विज्ञान और आध्यात्मिकता के ऐसे युग की रचना करना जो समन्वय और शांति का विकास कर सके। भारत को विज्ञान और आध्यात्मिक मूल्यों के सामंजस्य से अन्ततः एक ऐसा समाज बनाने का प्रयत्न करना चाहिए जो मानव के व्यक्तित्व के केवल एक खास अंश की नहीं वरन् उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व की आवश्यकताओं पर ध्यान दें। आयोग का विश्वास था कि शिक्षा के माध्यम से आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक परिवर्तन शांतिपूर्वक लाए जा सकते हैं। शिक्षा की गलत दिशा से सामाजिक विघटन भी हो सकता है। जबकि शिक्षा की सही दिशा से राष्ट्र का वास्तविक विकास संभव है। जनसाधारण की अंतनिर्हित प्रतिभा को उभारने के लिए शिक्षा की उपलब्धता सर्वसुलभ होना चाहिए। शिक्षा आयोग ने चरित्र निर्माण पर सर्वाधिक बल दिया है। शिक्षा के माध्यम से मूल्यों के साथ हुनर के विकास पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है।

नई भाषा नीति – शिक्षा आयोग के अनुसार प्रादेशिक भाषाओं को शिक्षा का माध्यम होना चाहिए। प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा को प्रधानता दी जाय। 10+2+3 की शिक्षा योजना में गुणवत्तापूर्ण शिक्षा पर सर्वाधिक ध्यान केन्द्रित किया जाना आवश्यक है। प्रत्येक स्तर पर पढ़ाई का स्तर शिक्षा के उद्देश्यों और बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप उन्नत होना चाहिए। इसके लिए एक समेकित प्रणाली के साथ सभी शिक्षा संस्थाओं को एक सूत्र में जोड़ना जरूरी है। इसके लिए आयोग ने संकुल व्यवस्था की अनुशंसा की थी।

शिक्षक स्तर और शिक्षक शिक्षा सम्बन्धी सुझाव

आयोग का यह स्पष्ट मत है कि शिक्षा के क्षेत्र में सर्वाधिक एवं महत्वपूर्ण भूमिका शिक्षकों की है। इसीलिए आयोग ने शिक्षण व्यवसाय की ओर योग्य व्यक्तियों को आकर्षित करने के लिए शिक्षकों के सामाजिक और आर्थिक स्तर को ऊँचा उठाने पर बल दिया है। उसने शिक्षकों के शिक्षण कौशल को उन्नत करने के लिए शिक्षक शिक्षा में सुधार हेतु और सुझाव दिए–

शिक्षक स्तर सम्बन्धी सुझाव

1. केन्द्र सरकार का दायित्व है कि वह सभी स्तरों के शिक्षकों के न्यूनतम वेतनमान निर्धारित करें। आयोग ने सभी स्तर के शिक्षकों के उच्च वेतनमान प्रस्तावित भी किए हैं। उसका मानना है कि सरकारी और सहायता प्राप्त गैर–सरकारी, सभी शिक्षण संस्थाओं के शिक्षकों के वेतनमान समान हों व उन्हें अर्थात् सभी सरकारी एवं सहायता प्राप्त गैरसरकारी शिक्षकों को सरकारी कर्मचारियों के समान ही मंहगाई भत्ता दिया जाए और प्रति 5 वर्ष बाद शिक्षकों के वेतनमान पुनर्निरीक्षित हों।
2. शिक्षकों की न्यूनतम योग्यता बढ़ाई जाए, उनके चयन की विधियों में सुधार किया जाए, और शिक्षकों के पदों पर योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति की जाए। इस दिशा में अति योग्य व्यक्तियों को अग्रिम वेतन वृद्धि और अतिरिक्त प्रतिभा के व्यक्तियों को उच्च वेतनमान भी दिए जा सकते हैं।
3. महिला शिक्षकों की नियुक्ति को प्रोत्साहन दिया जाए व अपने पदों पर कार्यकुशलता का परिचय देने वालों को अग्रिम वेतन वृद्धि दी जाए। शिक्षकों की पदोन्नति का आधार वरीयता के स्थान पर योग्यता एवं कुशलता होनी चाहिए। यह ध्यान देने की बात है कि विशेष योग्यता प्राप्त शिक्षकों को आगे के शिक्षा स्तर के लिए चुना जाए जबकि प्राथमिक स्कूल के शिक्षकों को माध्यमिक स्कूलों के लिए; माध्यमिक स्कूल के महाविद्यालयों के लिए और महाविद्यालयों के शिक्षकों को विश्वविद्यालयों के लिए चुना जाना चाहिए।
4. सरकारी और सहायता प्राप्त गैर–सरकारी शिक्षकों की सेवाशर्तें समान हों, उन्हें 'त्रिमुखी लाभ योजना' (जी.पी. एफ. बीमा और पेंशन) का लाभ मिलना चाहिए।
5. ग्रामीण क्षेत्रों में कार्य करने वाले शिक्षकों को आवास की सुविधा दी जाए और शिक्षिकाओं को आवास सुविधा के साथ–साथ विशेष भत्ता भी दिया जाए। बड़े नगरों में कार्य करने वाले शिक्षकों को मकान किराया भत्ता दिया जाए। यही नहीं विश्वविद्यालयों के 50 प्रतिशत और उनसे सम्बद्ध महाविद्यालयों के 25 प्रतिशत शिक्षकों को आवास की सुविधा दी जाए। ताकि उन्हें समय–असमय परेशानियों का समाना न करना पड़े और जिसके कारण शिक्षण कार्य प्रभावित न हों।
6. सभी शिक्षकों को 5 वर्ष में एक बार देश भ्रमण हेतु किराया भत्ता दिया जाए।

7. शिक्षकों की सेवानिवृत्ति की आयु 60 वर्ष की जाए। विशेष परिस्थिति में सेवानिवृत्ति आयु 65 वर्ष तक बढ़ाई जा सकती है।
8. शिक्षकों के लिए शिक्षण कार्य के घण्टे निश्चित करते समय उनके द्वारा किए जाने वाले अन्य विद्यालयी कार्यों को ध्यान में रखा जाए और सबसे बड़ी बात यह है कि व्यक्तिगत ट्यूशन पर नियन्त्रण किया जाए। क्योंकि इसके जारी रहने से शिक्षण कार्य के प्रभावित रहने की आशंका बनी रहती है।
9. शिक्षकों को अपनी व्यावसायिक योग्यता बढ़ाने के अवसर प्रदान किये जाएँ और शिक्षा मंत्रालय द्वारा शिक्षकों को समय–समय पर सम्मानित किया जाए व उनको दिए जाने वाले राष्ट्रीय पुरस्कारों में वृद्धि की जाए।

शिक्षक शिक्षा सम्बन्धी सुझाव

1. शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम में अलगाव– आयोग ने साफ किया कि उस समय दोनों स्तर की शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाएँ एवं उनके कार्यक्रम सामान्य शिक्षा संस्थाओं और उनके कार्यक्रमों से भिन्न थे, कुछ अलग–थलग से थे।
2. आयोग का कहना है–''अध्यापकों की व्यावसायिक शिक्षा को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए उसे एक ओर विश्वविद्यालयों के साहित्यिक जीवन से और दूसरी ओर विद्यालय–जीवन एवं शिक्षा–सम्बन्धी नवीनतम विचारों के सम्पक्र में लाया जाना परम आवश्यक है।'' इस उद्वेश्य की प्राप्ति के लिए और उनमें क्रमिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए आयोग ने सुझाव दिए–
   क) राज्यों में 'राज्य शिक्षक बोर्ड' (state board of teacher education) की स्थापना की जाए जो शिक्षकों के प्रशिक्षण एवं उनके कार्यक्रमों के लिए उत्तरदायी हों।
   ख) राज्यों में comprehensive college की स्थापना की जाए और उनमें सभी स्तर के शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिए।
   ग) सभी शिक्षण–प्रशिक्षण संस्थाओं को 'शिक्षक प्रशिक्षण कॉलेज' (Training College) कहा जाए और इसका पाठ्यक्रम शिक्षणशास्त्र से भिन्न होना चाहिए।
   घ) शिक्षा शास्त्र विषय को स्नातक और स्नातकोत्तर स्तर पर पृथक स्थान दिया जाए और इसका पाठ्यक्रम शिक्षणशास्त्र (Pedagogy)से भिन्न होना चाहिए।
   ङ) कुछ विश्वविद्यालयों में 'शिक्षा स्कूल' (School of Education) स्थापित किए जाएँ जिनमें शिक्षक शिक्षा कार्यक्रम चलाए जाएं और साथ ही शिक्षक शिक्षा के क्षेत्र में अनुसंधान कार्य चलाए जाएं।

च) सभी शिक्षक शिक्षा संस्थाओं में 'प्रसार सेवा विभाग' (Extension Service Department) स्थापित किए जाएँ जो अपने क्षेत्र के स्कूलों और उनके शिक्षकों की समस्याओं पर गहन विचार विमर्श करें व उन पर मिलकर कार्य करें।

छ) शिक्षण अभ्यास के लिए केवल मान्यता प्राप्त स्कूल ही चुने जाएँ और चुने हुए स्कूलों को राज्य द्वारा 'सहकारी स्कूल' (Cooperating Schools) की मान्यता दी जाए और इन्हें साज–सज्जा हेतु विशेष सहायता अनुदान दिया जाए।

ज) समय–समय पर शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं और सहकारी स्कूलों में शिक्षकों का आदान–प्रदान किया जाए।

3 प्रशिक्षण काल में यह प्रश्न सदैव उठता है कि किसी भी स्तर पर प्रशिक्षण काल की अवधि कितनी होनी चाहिए। इस सम्बन्ध में कोठारी कमीशन ने दो प्रकार की संस्तुतियाँ प्रस्तुत की है–

क) प्राथमिक स्तर पर प्रशिक्षण काल दो वर्ष का होना चाहिए। जहाँ पर यह अवधि एक वर्ष की है, वहाँ पर वर्ष की अवधि सरलतापूर्वक बढ़ाई जा सकती है।

ख) माध्यमिक स्तर पर यह भी समझा जाता है कि जहाँ पर एक वर्ष का पाठ्यक्रम है, वह दो वर्ष का होना चाहिए, क्योंकि विद्यमान पाठ्यक्रम के साथ न्याय नहीं हो पाता।

अध्यापक शिक्षा के मूल्यांकन एवं शिक्षण विधियों में आमूल परिवर्तन आवश्यक है। आयोग ने इस सुधार के लिये इस प्रकार सुझाव दिये हैं –

क) छात्राध्यापकों में सम्पर्क, अनुभव, अध्ययन एवं चर्चाओं के माध्यम से परिपक्वता विकसित करनी चाहिये। इसके लिये स्वतंत्र अध्ययन एवं छात्रों के सहयोग की आवश्यकता है। उनकी आदत पहले से ही स्वाध्याय एवं स्वतंत्र चिन्तन की नहीं होती। प्रशिक्षण संस्थानों को इस अभाव को दूर करना चाहिए एवं छात्रों में चिन्तन, स्वाध्याय एवं चर्चा की आदत डालनी चाहिए। पुस्तकालय में वैयक्तिक कार्य, समीक्षा की तैयारी एवं प्रतिवेदन, केस स्टडी, प्रोजेक्ट वर्क, परिचर्चा तथा कांफ्रेंन्स आदि प्रशिक्षण संस्थान के अभिन्न अंग होने चाहिये।

ख) छात्रों की मनोवृत्ति को मानवीय सम्बन्धों के आधार पर विकसित करना चाहिए। शिक्षा के विकास में सामाजिक मूल्यों पर बल देना चाहिए।

ग) उन्नत देशों में शिक्षण विधियों का विकास हो रहा है। रेडियों, टेलीविजन, फिल्म–स्ट्रिप, फिल्म, प्रोग्राम–इन्स्ट्रक्शन, भाषा प्रयोगशाला आदि का उपयोग विद्यालयों में किया जा रहा है। भारत में हाल ही में विद्यालयों के लिये आकाशवाणी से कार्यक्रम प्रसारित होने लगे है। टेलीविजन से पाठों का प्रदर्शन भी होने लगा है। साथ ही परीक्षा प्रणाली में भी सुधार आवश्यक है। क्योंकि जब तक परीक्षा में सुधार नहीं होगा; अध्यापक मूल्यांकन की नवीन विधियों को नहीं अपनायेंगे; तब तक विद्यालय स्तर पर परीक्षा के मूल्यांकन में सुधार नहीं हो पायेगा। निश्चित रूप से आन्तरिक मूल्यांकन को मूल्यांकन का आवश्यक अंग मानना होगा।

छात्र शिक्षण में सुधार –

क) छात्राध्यापक को विद्यालय की परिस्थितियों से पूर्णतः अवगत कराना चाहिए एवं शिक्षण की वास्तविक परिस्थितियों से उसका परिचय होना चाहिए।

ख) दूसरी अवस्था में छात्राध्यापक को कम से कम आठ सप्ताह तक शिक्षण का लगातार अवसर दिया जाए। अध्यापक शिक्षण को आवश्यक अंग के रूप में कार्य करें।

कोठारी आयोग की विशेषताएँ

आयोग की प्रमुख विशेषताएँ अग्रलिखित हैं–

1. कोठारी आयोग ने शिक्षा को राष्ट्रीय महत्व का विषय बताया और उस पर बजट का 2 प्रतिशत के स्थान पर 6 प्रतिशत व्यय करने का सुझाव दिया । उसने केन्द्र में सशक्त प्रशासनिक ढाँचे और प्रान्तों में समान प्रशासनिक ढाँचे का सुझाव दिया और पूरे देश के लिए समान शिक्षा संरचना प्रस्तुत की। परिणामतः राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1968 और राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 दोनों में पूरे देश के लिए समान शिक्षा संरचना घोषित की गई।
2. कोठारी आयोग ने शैक्षिक आयोजन के महत्व को स्पष्ट किया और कहा कि शैक्षिक आयोजन क्रमिक, समयबद्ध होना चाहिए एवं वर्तमान और भविष्य दोनों की मांगों के आधार पर होना चाहिए, वह राष्ट्रीय लक्ष्यों के आधार पर और उपलब्ध संसाधनों के आधार पर होना चाहिए। लोकतन्त्रीय भारत की मांग उसकी आर्थिक स्थिति एवं संसाधनों की उपलब्धता के आधार पर आयोग ने 20 वर्षों के अन्दर 6 से 14 वर्ष तक के बच्चों की अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा, माध्ययमिक स्तर पर प्रवेश लेने वाले 70 प्रतिशत सामान्य बच्चों के लिए माध्यम स्तर की पूर्ण इकाई की शिक्षा व्यवस्था करने, शेष 30 प्रतिशत बच्चों को उच्च शिक्षा के लिए तैयार करने और इसमें से भी चुने हुए योग्य एवं सक्षम बच्चों के लिए उच्च शिक्षा की व्यवस्था करने का सुझाव दिया। उल्लेखनीय है कि यह सुझाव तब भी उत्तम था और आज भी उत्तम है।
3. आयोग ने सर्वप्रथम उत्पादन में वृद्धि करना, सामाजिक समानता और राष्ट्रीय एकता की प्राप्ति करना, लोकतन्त्रीय मूल्यों का विकास करना, राष्ट्र की संस्कृति का संरक्षण करते हुए उसका आधुनिकीकरण करना और सामाजिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का विकास करना शिक्षा के सामान उद्देश्य निश्चित किए। ये उद्देश्य आज भी प्रासंगिक हैं। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में इनमें राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति और जोड़ दी गई है।
4. आयोग ने देश में 6 से 14 वर्ष तक के बच्चों के लिए अनिवार्य एवं निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था करने पर बल दिया। उसने प्राथमिक शिक्षा के उद्देश्य निश्चित किए। पाठ्यक्रम प्रस्तावित किया। शिक्षण की विधियों में सुधार, इसके विस्तार एवं उन्नयन और इस स्तर पर होने वाले

अपव्यय एवं अवरोधन को रोकने के लिए सुझाव दिए। इसकी व्यवस्था में व्यक्तिगत प्रयासों को प्रोत्साहन देना भी आवश्यक है, अकेले सरकार के बूते अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था नहीं की जा सकती है।

5. आयोग ने जिस क्षेत्र में जिस प्रकार के कुशल कर्मकार और उच्च स्तर के संगठनकर्ता एवं इंजीनियर आदि की मांग हो, उस क्षेत्र में वैसी ही व्यावसायिक एवं तकनीकी श्क्षिा की व्यवस्था की जाए, इस बात पर बल दिया। साथ ही उसने इस शिक्षा के पाठ्यक्रमों को अद्यतन बनाने के लिए संस्थाओं को साधन सम्पन्न करने और सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ–साथ प्रायोगिक प्रशिक्षण पर भी बल दिया।
6. आयोग ने देश के आधुनिकीकरण के लिए विज्ञान की शिक्षा की आवश्यकता स्पष्ट की है। उसने विज्ञान की उच्च शिक्षा और वैज्ञानिक शोध कार्य पर और अधिक व्यय करने का सुझाव दिया। उसके इस सुझाव के अनुपालन से ही जहां हमारा देश औद्योगिक क्षेत्र में उन्नति कर सक है वहाँ परमाणु शक्ति में हम संसार की छठी शक्ति बन गए हैं। हमें इस दिशा में निरन्तर बढ़ते रहना है।
7. आयोग ने निरक्षर प्रौढ़ों को साक्षर करना, साक्षर प्रौढ़ों को साक्षर बनाए रखना, साक्षर प्रौढ़ों को अपनी शैक्षिक योग्यता बढ़ाने के अवसर देना और विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत इच्छुक व्यक्तियों के लिए उनके क्षेत्र सम्बन्धी अद्यतन जानकारी देने हेतु अल्पकालीन शिक्षा की व्यवस्था करने पर बल दिया है।
8. शैक्षिक अवसरों की समानता पर आयोग ने बहुत बल दिया और इसकी प्राप्ति, सबके लिए समान पाठ्यक्रम, किसी भी पाठ्यक्रम में प्रवेश के लिए समान विषय, निर्धन एवं योग्य छात्रों का आर्थिक सहायता, पिछड़ी, अनुसूचित, प्राथमिक शिक्षा को निःशुल्क करने तथा माध्यमिक, उच्च एवं व्यावसायिक शिक्षा में छात्रवृत्तियां की व्यवस्था करने पर बल दिया।

कोठारी आयोग का मूल्यांकन

यह सम्पूर्ण शिक्षा पर विचार करने वाला पहला आयोग था। राष्ट्रीय लक्ष्यों की विवेचना, अध्यापकों की दशा में सुधार, विज्ञान पर बल, कृषि शिक्षा में सुधार तथा छात्र समस्याओं के सम्बन्ध में व्यावहारिक सुझाव इसके प्रमुख गुण हैं और दोषपूर्ण भाषा–नीति, अंग्रेजी की अनिवार्यता, मुख्य विश्वविद्यालय की स्थापना, बेसिक शिक्षा के सम्बन्ध में उदासीनता आदि सुझाव इसके प्रमुख दोष हैं।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति

राष्ट्रीय शिक्षा नीति– 1986

आज देश आर्थिक व तकनीकी विकास की ऐसी स्थिति में पहुँच गया है जहाँ पहले विकसित संसाधनों से अधिकतम लाभ प्राप्त करने व परिवर्तन के लाभों को सभी वर्गों के लोगों तक पहुँचाने के लिए प्रयास करने की जरूरत है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने का एक प्रमुख मार्ग शिक्षा है। इस लक्ष्य को ध्यान में

रखकर भारत सरकार ने जनवरी 1985 में यह घोषणा की कि देश के लिए एक नई शिक्षा नीति निर्मित की जाएगी। पहले वर्तमान शैक्षिक परिदृश्य का व्यापक मूल्यांकन किया गया, उसके बाद अगस्त 1985 में 'शिक्षा की चुनौतीः नीति सम्बन्धी परिप्रेक्ष्य' नामक दस्तावेज प्रकाशित किया गया । इस दस्तावेज से देशव्यापी बहस का सूत्रपात हुआ। भिन्न क्षेत्रों से मिले विचारों व सुझावों का सावधानीपूर्वक अध्ययन करने के बाद मई 1986 में सरकार ने नई शिक्षा नीति का प्रारूप प्रस्तुत किया।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 के कुछ महत्वपूर्ण अंश –

1. अनुसूचित जनजाति को अन्य वर्गों के समक्ष लाया जाए।
2. अल्पसंख्यकों की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाए।
3. समाज के अपवंचित वर्ग तथा विकलांग विशेष रूप से हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं।
4. खेलकूद तथा शारीरिक शिक्षा से वंचित शिक्षा अधूरी है।
5. हमारा राष्ट्रीय लक्ष्य है–सभी के लिए शिक्षा। शिक्षा वर्तमान और भविष्य दोनों के निर्माण के लिए एक अद्वितीय पूँजी निवेश है।
6. राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति 10+2+3 शिक्षा संरचना की सिफारिश करती है।
7. यह राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति एक राष्ट्रीय पाठ्यक्रम प्रारूप पर आधारित होगी जिसमें एक बीज पाठ्यक्रम के साथ अन्य तत्व भी होंगे जो लचीजे होंगे।
8. सभी को सतत् शिक्षा की सुविधा प्रदान करने की दृष्टि से मुक्त एवं शिक्षा के कार्यक्रमों पर बल दिया जाएगा।
9. पुरूषों के समान महिलाओं को भी शिक्षा की आवश्यकताा है तथा इसे अर्जित करने का उन्हें अधिकार है। अतः महिलाओं की स्थिति में मूलभूत परिवर्तित लाने के उद्वेश्य से शिक्षा के अभिकरण का उपयोग किया जाना चाहिए।
10. सतत् एवं व्यापक मूल्याकंन की योजना परीक्षा संचालन तन्त्र में सुधार पर ध्यान देना होगा
11. प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र अग्रलिखित दो अनतःसम्बन्धित और अन्तःपरा पक्षों पर बल होगा–**क.** 14 वर्ष तक के बालकों का सार्वजनिक नामांकन तथा सार्वभौमिक स्थिरीकरण तथा **ख.** शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार।
12. प्राथमिक विद्यालयों को आवश्यक सुविधाएँ–कम से कम दो बड़े खिलौने, ब्लैकबोर्ड तथा अन्य साज सज्जा उपलब्ध कराई जाएगी। प्रत्येक विद्यालय में कम से कम दो अध्यापक, जिनमें एक महिला होगी, का प्रावधान होगा।

❁❁❁❁❁❁❁

इकाई क्र. 3 – स्वतंत्रत भारत में शिक्षा

पठन सामग्री क्र. 10

नयी तालीम का सुव्यवस्थित स्वरूप–योजना एवं पाठ्यक्रम की रूपरेखा

मित्रो, प्रथम शैक्षिक सत्र में आपने शाला शिक्षण अनुभव कार्यक्रम के अन्तर्गत 60 दिवस बच्चों के साथ कार्य किया। इस सत्र भी आपने 45 दिनों तक बच्चों को करीब से जानने–समझने की कोशिश की। इस दौरान आपने कक्षा एक से पॉच तक के पाठ्यक्रम में क्या–क्या शामिल हैं? अवश्य ही जान लिया होगा। इस पठन सामग्री को पढ़ने के बाद आप यह जानने का प्रयास करें कि बुनियादी शिक्षा के क्या मायने है ? बुनियादी शिक्षा के पाठ्यक्रम में क्या–क्या शामिल करने की बात कही गई है। शालाओं में इस समय प्रचलित पाठ्यक्रम का इस सामग्री से बनने वाली समझ से एक तुलनात्मक अध्ययन भी करें।
यह पठन सामग्री 'समग्र नई तालीम' नामक पुस्तक के पृष्ठ 314–344 से ली गई है। जिसके प्रकाशक नयी तालीम समिति, आश्रम सेवाग्राम वर्धा (महाराष्ट्र) एवं गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति राजघाट नई दिल्ली हैं। इस पुस्तक का संकलन व सम्पादन श्री शिव दत्त ने किया है।

वर्धा शिक्षा परिषद् में सर्वसम्मति से पारित प्रस्तावों को लागू करने के उद्देश्य से एक विस्तृत योजना तथा पाठ्यक्रम तैयार करने के लिए परिषद् के दौरान ही, डॉ. जाकिर हुसैन की अध्यक्षता में एक अखिल भारत शिक्षा समिति का गठन किया गया था। परिषद्–समाप्ति के दूसरे ही दिन अर्थात् 25 अक्टूबर 1937 को उपरोक्त समिति की पहली बैठक वर्धा में हुई। इस बैठक में पहले गांधीजी ने अपने सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करते हुए दो शब्द कहे। तदुपरान्त समिति के अध्यक्ष डॉ. जाकिर हुसैन एवं गांधीजी के बीच हुए प्रश्नोत्तर के रूप में चर्चा हुई।

चर्चा से निम्न महत्वपूर्ण बिन्दु प्रकट होते हैं :–

1. गाँवों में प्राथमिक शिक्षा जहाँ तक हो सके एक ही धन्धे के माध्यम से दी जाय। वह धन्धा वस्त्र–निर्माण का हो अर्थात् रूई, रेशम और ऊन से कपड़ा बनाने की प्रक्रियाएँ इसमें प्रधान हों अन्य दूसरे धन्धे यथा कृषि, बढ़ईगिरी, लोहारी आदि गौण हों। कृषि को प्रधान धन्धा रखने से शिक्षा कभी स्वावलम्बी नहीं हो सकेगी।
2. शिक्षा के इस प्रयोग को समाप्त करके जो विद्यार्थी निकलेंगे, उसमें दैनिक 8 आने अर्थात् मासिक 15 रूपये या इसी के बराबर उपार्जन करने की योग्यता होनी चाहिए।
3. शिक्षा की जो योजना बनेगी उसमें बेकारी के बीमें की तरफ ध्यान रखना होगा।
4. इस योजना के अनुसार जो देहात में प्राथमिक शिक्षा का काम करना चाहते हैं, प्रवेश परीक्षा द्वारा पहले उनका चुनाव कर लिया जाय और पहले एक वर्ष के अध्यापन के लिए जितनी शिक्षा आवश्यक हो, उतनी उन्हें दी जाय और इसके बाद जो आगे बढ़ना चाहते हैं उनको पूर्ण और विस्तृत पाठ्यक्रम की शिक्षा दी जाय।

5. तीन पाठ्यक्रम बनाने होंगे :–

अ. विद्यार्थियों का पूरा पाठ्यक्रम

ब. शिक्षकों का लघु पाठ्यक्रम

स. शिक्षकों का विस्तृत पाठ्यक्रम

समिति की इसी बैठक में यह निर्णय किया गया कि समिति का नाम 'अखिल भारत शिक्षा समिति' होगा। गांधीजी के चले जाने के बाद डॉ. जाकिर हुसैन की अध्यक्षता में पुनः बैठक हुई जिसमें निर्णय किया गया कि समिति का काम 2 नवम्बर, 1937 से प्रारम्भ होगा। इसके पहले प्रत्येक प्रान्त की प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम का संग्रह किया जाय। आज गाँवों में जो धन्धे प्रचलित हैं और प्रत्येक प्रान्त में क्राफ्ट स्कूल और आर्ट स्कूल अर्थात् दस्तकारी अथवा कला के जो विद्यालय हैं उनमें कौन–कौन से ग्रामीण धन्धे सिखाये जाते हैं इसका परिचय तैयार रखा जाय।

समिति के सदस्यों ने पूरी गर्मजोशी तथा प्रसन्नतापूर्वक समिति के काम में हाथ बँटाया तथा जहाँ तक सम्भव हुआ मदद की। तमाम शिक्षाशास्त्रियों व विद्वानों ने अपनी सलाह लिखकर भेजी। लगभग सभी प्रान्तीय सरकारों ने भी सूचनाएँ भेजने के सन्दर्भ में समिति की मदद की। समिति ने पूरी लगन एवं मेहनत के साथ दिये हुए काम को पूरा किया तथा फरवरी, 1937 मे अपनी रिपोर्ट गांधीजी को पेश की गयी योजना में नयी तालीम के सिद्धात, उद्वेश्य और पाठ्यक्रम की रूपरेखा प्रस्तुत की गयी थी। पाठ्यक्रम की रूपरेखा नमूने के तौर पर बनायी गयी थी। अनुभव के साथ–साथ और हर पाठशाला की सम्पूर्ण परिस्थिति के हिसाब से हर स्वतंत्र पाठशाला अपनी योजना स्वयं ही बनाये, ऐसी अपेक्षा थी।

डॉ. जाकिर हुसैन की अध्यक्षतावाली 'अखिल भारत शिक्षा समिति' ने नयी तालीम की निम्नलिखित रूपरेखा प्रस्तुत की थी :–

1. बुनियादी सिद्धान्त

शिक्षा का मौजूदा तरीका

इस समय हिन्दुस्तान में शिक्षा का जो तरीका चला हुआ है, उसे करीब–करीब सभी हिन्दुस्तानी एक आवाज से बुरा कहते हैं। पिछले जमाने में यह शिक्षा हमारे राष्ट्रीय जीवन की जरूरी और अटल माँगों को पूरा नहीं कर सकी है और न उसकी ताकतों और भावनाओं को संगठित करके ठीक रास्ते पर लगा सकी हैं। आज जबकि हमारे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में बड़ी तेजी के साथ और दूर तक असर पैदा करने वाले हेरफेर हो रहे हैं और नागरिकों के सामने नये–नये सवाल आ रहे हैं, यह शिक्षा जीवन की असली धारा से अलग रहकर अपने पुराने ढर्रे पर लड़खड़ाती चली जा रही है और अपने को बदले हुए जमाने के अनुकूल नहीं बना पा रही है। इस पर न तो देश की मौजूदा सच्ची हालत का कोई असर होता है, न इसके सामने कोई ऐसा ऊँचा आदर्श ही है, जो देश में जान डाल देने और कुछ नयी चीज पैदा करने की ताकत रखता हो। यह न तो लोगों को समाज के उपयोगी और उत्पादक अंग बनाती है, न अपने पैरों पर खुद खड़ा होना और न समाज के काम में पूरी तरह हिस्सा लेना सिखलाती है। मौजूदा समाज लूट–खसोट, छीना–झपटी और मारपीट की नींव पर खड़ा है। परन्तु समाज तो ऐसा होना चाहिए, जिसमें सब लोग हिलमिल कर एक–दूसरे के साथ काम करते हुए रह सकें। इस नये समाज को पैदा करने में

मदद पहुँचाना शिक्षा का काम है। परन्तु मौजूदा शिक्षा के सामने इसकी कल्पना तक नहीं है। इसलिए आजकल चारो तरफ से यह पुकार है कि शिक्षा के इस मौजूदा तरीके को बदलकर एक ऐसा नया तरीका चलाया जाय कि जिसमे नयी रचना करने की ताकत हो और जिसकी नींव मनुष्यों की हमदर्दी और भलाई पर रखी गयी हो, जो राष्ट्रीय जीवन के आदर्शों और जरूरतों से अधिक घुली–मिली हो और जो मौजूदा जरूरी माँगों को अधिक अच्छी तरह पूरा कर सकती हो।

हिन्दुस्तान के बच्चों के लिए शिक्षा की जो भी योजना तैयार की जायेगी, वह कुछ बातों में पश्चिम की शिक्षा के तरीके से जड़मूल से ही अलग होगी।

महात्मा गांधी का नेतृत्व

अन्य मामलों की तरह इस मामले में भी दूरदर्शी गांधीजी इस घड़ी अगुआ बने हैं और वे दिलोजान से इस कोशिश में लगे हैं कि शिक्षा का कोई ऐसा तरीका निकले, जो हिन्दुस्तान के लोगों की प्रकृति के अनुकूल हो और साथ ही साथ कम–से–कम वक्त में सारी जनता में शिक्षा के प्रसार के सवाल को अमली तौर पर हल कर सके। उनकी योजना का बुनियादी ख्याल, जैसा कि उन्होंने 'हरिजन' में लिखे अपने लेखों में और वर्धा शिक्षा सम्मेलन में जाहिर किया था, यह है कि वही शिक्षा पक्की हो सकती है, जो किसी दस्तकारी या पैदा करने वाले किसी काम के जरिये दी जाय और उस दस्तकारी के ही इर्द–गिर्द और सब तालीम दी जा सके। अगर यह दस्तकारी ठीक तरह से सिखायी जाय, तो मदरसे के शिक्षकों का कुछ खर्च भी उससे निकलना चाहिए। महात्माजी का कहना है कि इसके जरिये सरकार फौरन ही मुफ्त और अनिवार्य बुनियादी तालीम जारी कर सकती है। अगर ऐसा न किया गया तो आज देश की जो राजनैतिक और आर्थिक हालत है, उसमें शिक्षा का खर्च वह चला नहीं सकती।

स्कूलों में हाथ का काम

आजकल के करीब–करीब सभी शिक्षाशास्त्री इस बात की सिफारिश करते हैं कि बच्चों की शिक्षा किसी उपयोगी दस्तकारी के जरिये होनी चाहिए। यह बच्चों की सर्वांगीण और समग्र तालीम का सबसे अच्छा तरीका समझा जाता है।

बच्चे आदत से चंचल होते हैं। वे स्कूलों में बैठकर किताबें पढ़ते रहना पसन्द नहीं करते और जबरदस्ती करने से हमेशा इसके खिलाफ बगावत करते हैं। इसलिए बालकों के मनोविज्ञान की दृष्टि से भी यह तरीका अच्छा है। क्योंकि यह लड़कों को महज किताबी पढ़ाई के बोझ से बचाता है यह तरीका मनुष्य के दिमागी और अमली ;च्तंबजपबंसद्ध दोनों अनुभवों को समतोल बनाये रखता है और इसके जरिये हाथ और दिमाग दोनों को साथ–साथ तालीम मिलती है। इससे बच्चों को जो शिक्षा मिलती है, वह इतनी छिछली नहीं होती कि केवल छपे हुए पन्नों को पढ़ भर लें। बल्कि उनकी योग्यता इतनी हो जाती है कि जिससे वे अपने हाथ और दिमाग दोनों का पूरा उपयोग करके कोई उपयोगी काम कर सकें। इसे हम इंसान के पूरे व्यक्तित्व की शिक्षा कह सकते हैं।

समाज की दृष्टि से इसे देखें, तो इस तरह से जब देश के सब बच्चे मिल–जुलकर कोई मुफीद और अमली काम शिक्षा के रूप में करेंगे, तो आज मेहनत–मजदूरी करनेवाला और दिमागी काम करनेवालों के बीच में जो जात–पाँत की दीवारें खड़ी हैं और जो दोनों को नुकसान पहुँचा रही हैं, वे अपने आप ही धीरे–धीरे हट जायेंगी। हमारे देश में मेहनत को इज्जत की निगाह से देखने और मानवीय एकता के भाव सहज और सही तौर पर कायम करने के लिए यही एक तरीका है और इससे आम जनता को जो नैतिक और आध्यत्मिक लाभ होगा उसका असर बहुत दूर तक पड़ेगा।

आर्थिक पहलू से देखा जाय, तो इस योजना को होशियारी और खूबी के साथ अमल में लाने पर यह हमारे कारीगरों की उत्पादक शक्ति को बढ़ायेगी और उन्हें अपने फुरसत के समय से फायदा उठाना सिखलायेगी।

और सब छोड़कर, केवल शिक्षा की दृष्टि से देखा जाय, तो किसी खास दस्तकारी को शिक्षा का आधार बनाने से बच्चों की जानकारी आज से कहीं ज्यादा ठोस और असली हो सकेगी। इस तरह बच्चे जो कुछ सीखेंगे, उसका जिन्दगी के साथ लगाव होगा और उसके सब पहलू एक–दूसरे के साथ गूँथे होंगे।

दो जरूरी शर्तें

इन सबके लाभ उठाने के लिए जरूरी है कि दो बातों का पूरा ख्याल रखा जाय। एक, जो भी दस्तकारी चुनी जाय, वह ऐसी हो कि उसके जरिये शिक्षा देने की काफी गुंजाइश हो। आदमी के जरूरी कामों और दिलचस्पियों से सहज लगाव रखनेवाली सभी बातें इसमें होनी चाहिए और यह भी जरूरी है कि ये बातें शिक्षा के पूरे पाठ्यक्रम में फैलायी जा सकें। रिपोर्ट में आगे चलकर जहाँ हमने दस्तकारी चुनने की सिफारिश की है, वहाँ इस बात का खासतौर पर ख्याल रखा है और जिन लोगों का इस योजना से किसी भी तरह का सरोकार हो, उन्हें चाहिए कि इस जरूरी बात का पूरा ध्यान रखें।

शिक्षा की इस योजना का असल ध्येय यह कभी नहीं है कि महज ऐसे कारीगर पैदा किये जायँ जो मशीन की तरह हाथ का काम कर सकते हों। इसका ध्येय तो यह है कि दस्तकारी के अन्दर मनुष्य की शिक्षा को लाभ पहुँचाने की जो शक्तियाँ भरी पड़ी हैं, उन सबका पूरा–पूरा उपयोग हो। इसलिए यह जरूरी है कि दस्तकारी का काम स्कूल की पढ़ाई का एक अंग ही न हो, बल्कि दूसरे सब विषयों को सिखाने का यह एक माध्यम हो और दूसरे सब विषयों की पढ़ाई इसके जरिये आप–से–आप हो सके।

मिल–जुलकर काम करने का सिद्धान्त, काम करने से पहले काम का पूरा नक्शा तैयार कर लेने की आदत, काम ठीक और सच्चा हो, लड़के अपने मन से काम के तरीके निकाल सकें और हर बच्चा अपने काम के लिए जिम्मेवार हो, इन बातों पर शिक्षा में पूरा जोर देना चाहिए। यही मतलब महात्माजी का है जब वे कहते हैं, ''मैं मानता हूँ कि इस पद्धति से मन और आत्मा का ऊँचे–से–ऊँचे विकास किया जा सकता है। इसके लिए जरूरी है कि जो उद्योग–धन्धे आज महज मशीन की तरह सिखाये जाते हैं, वैज्ञानिक ढंग से सिखाये जायँ। यानी विद्यार्थी हर क्रिया के बारे में यह भी जान ले कि वह क्यों और किसलिए की जाती है।'' पर वे सीखें अपने तजुर्बे से और अपनी आँखों देखकर, समझकर।

अगर सिर्फ इतना ही हुआ कि पढ़ाई में सिर्फ हाथ का एक काम कताई–बुनाई या बढ़ईगिरी–बढ़ा दिया गया और दूसरे सब विषय उसी पुराने ढर्रे से सिखलाये जाते रहे, तो विद्यार्थियों में बगैर सोचे–समझे ज्ञान को निगलने की आदत कायम रह जायेगी और उनका ज्ञान बिलकुल बिखरा हुआ होगा, जिसके टुकड़ों का एक–दूसरे के साथ कोई लगाव नहीं होगा और इस योजना की असली मंशा और सार ही जाता रहेगा।

योजना की तह में नागरिकता का आदर्श

हम चाहते हैं कि जो शिक्षक और शिक्षाशास्त्री शिक्षा की इस नयी योजना को अमल में लाने का साहस करें, वे इसकी तह में नागरिकता का जो आदर्श है, उसे अच्छी तरह समझ लें। यह होनेवाली बात है कि नये हिन्दुस्तान के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन में लोकतंत्र का रंग दिन–पर–दिन बढ़ता जायेगा। इसलिए आनेवाली पीढ़ी के लिए यह जरूरी है कि अपने मसलों को, अपने हक को और अपनी जिम्मेदारियों को समझने का मौका मिले। इसके लिए आज एक ऐसी बिलकुल नयी शिक्षा–पद्धति की जरूरत है, जिससे लोगों को कम–से–कम इतनी तालीम मिल जाय कि वे नागरिकों के अधिकार और कर्तव्यों को समझकर काम में ला सकें। फिर, आजकल हर समझदार आदमी को अपने समाज का कामकाजी अंग होना चाहिए ताकि जिस संगठित सभ्य समाज में वह रहता है, उसके ऋण को किसी–न–किसी तरह का मुफीद काम करके अदा कर सके। जो शिक्षा केवल दूसरों के ऊपर बोझ होनेवाले निकम्मे आदमी पैदा करती हो (चाहे वे अमीर हों या गरीब) वह हर तरह से बुरी है। ऐसी शिक्षा केवल समाज की काम करने की और पैदा करने की ताकत को ही नुकसान नहीं पहुँचाती, बल्कि लोगों में एक भंयकर अनैतिक मनोवृत्ति पैदा करती है। जो हर मनचाहे काम को, मेहनत–मजदूरी के काम को, चाहे वह मैला उठाने का ही काम हो, इज्जत के काबिल समझें और जो अपने पैरों पर खड़े होना चाहते हों, खड़े हो सकें।

जब स्कूल और समाज के काम में इतना गहरा सम्बन्ध होगा, तो बच्चे स्कूल में सीखी बातों को बाहरी दुनिया में आकर भी बरत सकेंगे। इस तरह हम यह जो नयी योजना पेश कर रहे हैं, वह मुल्क के होनेवाले नागरिकों को अपनी कद्र और इज्जत करना, अपने आपको सुधारना, समाज की सेवा करना और मिल–जुलकर काम करना सिखलायेगी।

मतलब यह है कि यह योजना एक ऐसे समाज की कल्पना करती है, जिसकी नींव सहयोग पर होगी और जिसमें पढ़नेवालों को लड़कपन से ही, जबकि उन पर हर चीज का गहरा असर पड़ता है, समाजसेवा की धुन लग जायेगी। यहाँ तक कि स्कूलों में शिक्षा पाते हुए भी वे यह समझने लगेंगे कि राष्ट्रीय शिक्षा के इस महान् प्रयोग में वे खुद भी हिस्सा बँटा रहे हैं।

अपना खर्च आप निकालना

इस योजना के स्वावलम्बी पहलू पर भी कुछ कहना जरूरी मालूम होता है, क्योंकि इस बारे में बहुत गलतफहमी फैली हुई है। हम यहाँ साफ–साफ कह देना चाहते हैं कि बुनियादी तालीम की इस योजना का खाका वर्धा शिक्षा परिषद् में तैयार हुआ था और जो योजना यहाँ विस्तार से बतायी जा रही है, उसे हम हर

हालत में अच्छा समझते हैं। अगर यह अपना खर्च कुछ भी न निकाल सके, तो भी शिक्षा की सही पद्धति समझकर और राष्ट्र–निर्माण के लिए एक जरूरी चीज समझकर अपनायी जानी चाहिए। मगर खुशी की बात है कि यह अच्छी तालीम अपने को चलाने का बहुत कुछ खर्च भी निकाल लेगी। हम यहाँ यह साबित करने की आशा रखते हैं कि वर्धा शिक्षा परिषद् ने जो हद बॉध दी है, उसके अन्दर इस शिक्षा–पद्धति से उसके खर्च का बड़ा हिस्सा निकल आयेगा।

दस्तकारी की आमदनी और खर्च का हिसाब लगाने में हमें कुछ मुश्किल नहीं हुई, क्योंकि यह काम पिछले सत्रह वर्षों से महात्मा गांधीजी की देखरेख में काफी अच्छी तरह से हो रहा है। मजदूरी का हिसाब अखिल भारत चरखा संघ की महाराष्ट्र शाखा की दरों से लगाया है। दूसरी दस्तकारियों में बाजार भाव से हिसाब लगाया जा सकता है। इस सिलसिले में महात्माजी ने साफ–साफ कहा है कि सरकार को इसका जिम्मा लेना चाहिए कि वह स्कूलों में पढ़नेवाले अपने भावी नागरिकों की बनायी हुई चीजों को ऊपर बताये हुए भाव पर खरीद ले। 'हर स्कूल अपना खर्च आप निकाल सकता है। शर्त यह है कि सरकार स्कूल में बनी चीजों को खरीद लें।' हम इस राय का पूरे दिल से समर्थन करते हैं।

इस आमदनी से जो आर्थिक फायदा होगा, उसे छोड़कर यों भी हमारा खयाल है कि सिखानेवालों और सीखनेवालों के काम की अच्छाई और खूबी को जाँचने और नापने का भी कोई पैमाना होना चाहिए। अगर यह न हुआ तो डर है कि काम ढीला पड़ जायेगा और उससे कोई तालीमी फायदा नहीं होगा। जिन–जिन शिक्षकों और शिक्षाशास्त्रियों ने अपने स्कूलों में 'हाथ के काम' या 'अमली काम' का प्रयोग किया है, उन्हें इस बात का अच्छा अनुभव है।

हम यहाँ एक चेतावनी दे देना निहायत जरूरी समझते हैं इस योजना के चलाने में एक बहुत बड़ा डर यह भी है कि ऐसा न हो कि आमदनी पर इतना अधिक जोर दिया जाय कि हम जो शिक्षा और संस्कृति सम्बन्धी फायदा उठाना चाहते हैं, वह बिल्कुल ही जाता रहे। ऐसा न हो कि सिखाने का सारा समय और ध्यान लड़कों से ज्यादा–से–ज्यादा काम निकालने में लग जाय और इस शिक्षा से जो बौद्धिक, सामाजिक और नैतिक फायदे उठाये जा सकते हैं उनको भुला दिया जाये। इसलिए शिक्षकों को तैयार करने में निरीक्षकों के काम की देखरेख में, मतलब शिक्षा के सभी कामों में, इस बात का पूरा ख्याल रखना चाहिए।

2. ध्येय या मकसद

जो थोड़ा–सा वक्त हमें मिला था, उसमें यह सम्भव न था कि हम पूरे सात साल का ऐसा ब्योरेवार कार्यक्रम बना लेते, जो उद्योग की तालीम को दिमागी तालीम से मिलाता । फिर भी हमने अलग–अलग शीर्षकों में नये स्कूलों के ध्येय को लिखने की कोशिश की है। हमारा ख्याल है कि आगे चलकर हर प्रान्त के तालीम–बोर्ड में एक ऐसा सदस्य रखना पड़ेगा जो पाठ्यक्रम बनाने में विशेषज्ञ हो। उसके जिम्मे यह काम रहेगा कि वह पूरे सात वर्ष के लिए ऐसा ब्योरेवार पाठ्यक्रम बनाये, जिसमें दिमागी और दस्तकारी की

पढ़ाई का ठीक–ठीक मेल हो। नये स्कूलों में अच्छे विद्वानों की देखरेख में काम करके शिक्षक लोग जो अनुभव प्राप्त करेंगे वे इस काम के लिए बुनियादी चीज बन सकेंगे। फिर भी हमने मोटे तौर पर एक सिलसिलेवार पाठ्यक्रम बनाने की कोशिश की है, जो इस रिपोर्ट का दूसरा हिस्सा है।

बुनियादी तालीम के सात साल के पाठ्यक्रम की रूपरेखा

1. बुनियादी दस्तकारी

जो भी दस्तकारी चुनी जाय, उसमें विद्यार्थियों को इतनी कुशलता आ जानी चाहिए कि पूरी पढ़ाई खत्म करने के बाद, अगर जरूरत हो तो वे उसे अपना पेशा बना सकें।

स्कूल में नीचे लिखी दस्तकारियों में से कोई एक दस्तकारी सुविधा के अनुसार चुनी जा सकती है:–

क. कताई और बुनाई

ख. बढ़ईगिरी

ग. खेती

घ. फल और साग–सब्जी पैदा करना

च. चमड़े का काम

छ. दूसरी कोई भी दस्तकारी जो भौगोलिक और स्थानीय हालातों के अनुकूल हो और ऐसी हो कि उसके जरिये शिक्षा देने की काफी गुंजाइश हो।

जहाँ कताई–बुनाई या खेती को छोड़कर कोई दूसरी बुनियादी दस्तकारी चुनी जायेगी, वहाँ भी विद्यार्थियों से यह उम्मीद की जायेगी कि उन्हें रूई धुनने, तकली पर सूत कातने और अपने यहाँ की खेती–बाड़ी के काम से सम्बन्ध रखनेवाली बातों की मामूली व्यावहारिक जानकारी हो।

2. मातृभाषा

मातृभाषा की समुचित शिक्षा ही सारी शिक्षा की नींव है। जब तक आदमी अपनी मातृभाषा अच्छी तरह बोल नहीं सकता और न सही और साफ लिख सकता है, तब तब उसके विचारों में तौल और स्पष्टता नहीं आ सकती। इसके अलावा मातृभाषा एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा बच्चों को अपने देश के विचारों, भावनाओं और आकांक्षओं की बहुत बड़ी विरासत हासिल होती है। इसलिए हम मातृभाषा को बालक की सामाजिक तालीम का एक कीमती साधन बना सकते हैं और उसके जरिये बच्चों में सदाचार की सही भावना पैदा कर सकते हैं। दूसरे, मातृभाषा वह स्वाभाविक साधन है, जिसके द्वारा बच्चा सुन्दर चीजों की सराहना को जाहिर करता है और अगर इसकी शिक्षा के लिए ठीक–ठीक उपायों का सहारा लिया जाय, तो बच्चा उस भाषा के साहित्य का आनन्द भी ले सकता है और उस आनन्द को अपनी रचनाओं द्वारा प्रकट करने की योग्यता भी पा सकता है। सात साल की पढ़ाई के बाद बालक को इस योग्य हो जाना चाहिए

कि वह अपने आसपास की चीजों और छपे हुए और लिखे हुए उन प्रकाशनों को, जो अधिक कठिन न हों, मन–ही–मन, सूझ–बूझ के साथ और जल्दी से पढ़ सके। इस योग्यता को कम–से–कम इतना तो जरूर बढ़ाना चाहिए कि बच्चे दैनिक पत्रों और मासिक पत्रिकाओं को आसानी से पढ़ और समझ सकें। वह किताबों की विषय–सूची, शब्द–कोषों और सन्दर्भ–ग्रंथों का व्यवहार जाने और अपनी आम जानकारी को बढ़ाने और आनन्द लेने के लिए पुस्तकालयों का उपयोग कर सके। वह ऐसा लिख सके कि उसकी लिखावट आसानी से पढ़ी जाय। उसकी लिखने की गति अच्छी हो और लेखन शुद्ध हो।

3. गणित

गणित की शिक्षा का ध्येय यह है कि वह विद्यर्थियों को इस योग्य बना दे कि वे अपने घरेलू धन्धे और सामाजिक जीवन के सिलसिले में खड़े होनेवाले हिसाब–किताब और नापजोख के सवालों को आसानी और जल्दी से हल कर सकें। बालकों को महाजनी बही–खाते की भी थोड़ी जानकारी होनी चाहिए।

हमारा ख्याल है कि यह ध्येय नीचे लिखी बातों की ठीक–ठीक जानकारी और अभ्यास होने से प्राप्त हो सकता है।

जोड़, बाकी, गुणा और भाग (सादा और मिश्र), दशमलव, त्रैराशिक, एकिक नियम, ब्याज, पैमाइश का मामूली ज्ञान, अमली रेखागणित और बही–खाते का साधारण ज्ञान हो जाय।

गणित की पढ़ाई सिर्फ कक्षा में अंकों के हेर–फेर तक ही सीमित नहीं रहनी चाहिए। बल्कि बुनियादी दस्तकारी को सीखते समय स्कूल और समाज के जीवन में जो अमली सवाल खड़े होते हैं, उन सवालों के साथ इस शिक्षा का सम्बन्ध होना चाहिए। इस सिलसिले में विद्यार्थियों को राशियों की नाप–जोख और माल का ठीक–ठीक ज्ञान पाने का जो अभ्यास होगा, उसी से उनकी बुद्धि के विकास को काफी मौका मिलेगा।

4. सामाजिक विज्ञान

इसके ध्येय निम्नलिखित हैं –

I. आमतौर पर मानव–जाति की प्रगति और खासतौर पर हिन्दुस्तान की प्रगति की तरफ दिलचस्पी पैदा करना।

II. विद्यार्थियों को इस योग्य बनाना कि वे अपने समाज और भूगोल की हालत को समझ सकें और उसमें सुधार करने के लिए तैयार हों।

III. उनके दिल में देश का प्रेम हो, वे हिन्दुस्तान के पिछले जमाने की इज्जत करें और आनेवाले जमाने के बारे में यह विश्वास रखें कि वह एक ऐसे समाज का घर होगा, जिसकी नींव मिल–जुलकर काम करने और मुहब्बत सच्चाई और न्याय पर रखी जायेगी।

IV. नागरिकता के हकों और जिम्मेदारियों का ख्याल पैदा करना।

V. विद्यार्थियों में ऐसे व्यक्तिगत और सामाजिक सद्गुण पैदा करना, जिससे वे सच्चे साथी और मददगार पड़ोसी बन सकें।

VI. दुनिया के सभी धर्म–मजहबों के प्रति आदर का भाव पैदा करना।

इन ध्येयों को पूरा करने के लिए यह जरूरी होगा कि विद्यार्थियों को इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र और देश–विदेश की मौजूदा हालत का ज्ञान कराया जाय। साथ ही संसार के विभिन्न धर्मों का आदर के साथ अध्ययन कराकर उन्हें यह समझने का मौका दिया जाय कि सिद्धान्त की बातों में संसार के सब धर्म–मजहब आपस में पूरी तरह एक राय हैं। विद्यार्थियों की अपनी परिस्थिति के अध्ययन से ही सामाजिक विज्ञान के अध्ययन का आरम्भ होना चाहिए और मनुष्य किन–किन तरीकों से अपनी तरह–तरह की जरूरतों को पूरा करता है, उसकी तरफ बच्चों का ध्यान खींच कर उनमें मनुष्य के जीवन और कामों के बारे में अधिक जानने की इच्छा पैदा करनी चाहिए।

5 साधारण विज्ञान

इसके ध्येय निम्नलिखित हैं :–

i. प्रकृति को बुद्धिपूर्वक देखना और उससे आनन्द लेना सिखलाना।

ii. चीजों को हमेशा सही तौर पर बारीकी से देखना और अपने अनुभव को प्रयोग से जाँचने की आदत डालना।

iii. आसपास के प्राकृतिक दृश्य में जो परिवर्तन होते रहते हैं, उनमें और मनुष्य के काम में जहाँ–जहाँ विज्ञान का प्रयोग हुआ है, वहाँ विज्ञान के जो सिद्धान्त निकल सकते हैं, उन्हें सिखाना।

iv. बच्चों को बड़े–बड़े वैज्ञानिकों के जीवन की ऐसी घटनाओं को चुनकर बताना जिनसे वे समझ सकें कि उन लोगों को सत्य की खोज में कितनी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ी थीं, जिससे कि वे उन पर श्रद्धा करना सीखें।

साधारण विज्ञान के पाठ्यक्रम में नीचे लिखे हुए भिन्न–भिन्न विज्ञानों का थोड़ा–थोड़ा परिचय कराना चाहिए :–

क) प्रकृति परिचय

अ) आसपास के पौधों, फसलों, जानवरों और चिड़ियों की पहचान।

आ) ऋतुओं में जो परिवर्तन होते हैं और उनका वनस्पतियों, जानवरों और चिड़ियों और मनुष्यों की जिन्दगी पर जो असर पड़ता है उसका ज्ञान ।

इ) विभिन्न ऋतुओं की फसलों और पैदावार को जानना।

ख) वनस्पति विज्ञान (उद्भिद विज्ञान)

अ) पौधों के अंग और उनका काम।

आ) पौधों के अंकुरने, बढ़ने और फैलने का ज्ञान।

इ) स्कूल के बाग और आसपास के खेतों में काम कराकर विद्यार्थियों को समझाना कि नमी, ताप और प्रकाश की अलग–अलग हालतों के और अलग–अलग प्रकार की बीजों और खादों के क्या प्रभाव होते हैं।

ग) पशु–विज्ञान :– जीवाणुओं, उड़ने और रेंगनेवाले कीड़ों, चिड़ियों और जानवरों का परिचय और यह जानना कि उसमें से कौन मनुष्य का मित्र है और कौन शत्रु।

घ) शरीर विज्ञान :– मनुष्य का शरीर, उसके अंग–प्रत्यंग और उनका काम।

ङ) अ) शरीर की सफाई, दाँत, जीभ, नाखून, आँख, नाक, कान, बाल और कपड़ों की सफाई।

आ) घर और गाँव की सफाई, सड़कों, गड्ढों और नालियों की सफाई, मैले की सफाई और उसका उपयोग।

इ) स्वच्छ पानी, गाँव के कुओं की सफाई।

ई) शुद्ध हवा, हवा को साफ रखने में पेड़ों का काम, ठीक–ठीक साँस लेना।

उ) स्वास्थ्य के लिए अच्छा और बुरा खाना, युक्ताहार अर्थात् ऐसा आहार जिसमें पौष्टिकता की जरूरी सब चीजें शामिल हों।

ऊ) घायलों और बीमारों की सेवा और मामूली दवा–इलाज।

ए) संक्रामक (छूतवाले) रोगों के सर्वसाधारण प्रकार। ये किस तरह फैलते हैं और इनसे बचने के उपाय।

ऐ) स्वास्थ्य–रक्षा के लिए आचरण की शुद्धता।

च) शरीर–चर्चा :– खेल, कसरत और कवायद (खास करके देशी खेल और कसरतों का अभ्यास कराया जाय।)

छ) रसायनशास्त्र :– हवा, पानी, तेजाब, क्षार और लवण का रासायनिक ज्ञान।

ज) ग्रह नक्षत्रों का ज्ञान :– ग्रह–नक्षत्रों की मदद से रात को दिशा पहचानना और समय जानना।

झ) कहानियाँ :– वैज्ञानिकों और नये–नये देश ढँढूनेवालों की कहानियाँ और उन्होंने मानव समाज की भलाई के लिए जो काम किये हैं उनकी कहानियाँ।

6 चित्रकला

चित्रकला के निम्नलिखित ध्येय हैं :–

- **i.** आँखों को इस तरह तैयार करना कि वह रूप और रंग पहचान सके और उसमें फर्क कर सके।
- **ii.** आकृतियों को याद रखने की आदत बढ़ाना।
- **iii.** प्रकृति और कला की सुन्दरता को जानने और सराहने की योग्यता पैदा करना।
- **iv.** सुन्दर नक्शे (डिजाइन) बनाने और सजावट की रूचि पैदा करना और उसकी योग्यता बढ़ाना।
- **v.** जो चीजें तैयार करनी हैं, उनके लिए कामचलाऊ चित्र खींचने की योग्यता पैदा करना।

उपरोक्त ध्येयों को पूरा करने के लिए नीचे लिखे उपायों से काम लिया जा सकता है :–

i. बच्चे जिन चीजों को देखें या पढ़े, उनके चित्र बनायें।

ii. बच्चे प्रकृति–परिचय, सामान्य विज्ञान या दस्तकारी के काम के सिलसिले में जिन पौधों, जानवरों या मनुष्यों को देखें, उन्हें देखकर या याद से उनके चित्र खींचे।

iii. सुन्दर–सुन्दर नक्शे (डिजाइन) बनाना।

iv. स्केल–ड्राइंग, ग्राफ और ग्राफ ड्राइंग (आलेख चित्र)।

पहले चार सालों में चित्रकला की तालीम प्रकृति–परिचय और दस्तकारी की तालीम के साथ–ही–साथ होनी चाहिए। अंत के तीन सालों में खासकर सुन्दर नक्शे बनाने, सजावट करने और जो चीजें तैयार करनी हैं उनके चित्र बनाने पर जोर देना चाहिए।

7 संगीत

संगीत सिखाने का ध्येय यह है कि विद्यार्थी कुछ अच्छे राग और भाव के गीत सीख जायँ उनमें सुन्दर संगीत के प्रति अनुराग पैदा हो। बच्चों में जो लय और ताल की सहज भावना होती है, उसे बढ़ाने के लिए संगीत के साथ उन्हें खुद दोनों हाथों से ताल देना सिखाया जाय। कदम मिलाकर ताल के साथ चलने से भी इसमें मदद मिल सकती है।

गानों को चुनते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बच्चों को जो गाने सिखाये जायँ वे अच्छे–से–अच्छे हों, उनका भाव ऊँचा और उत्साह देने–वाला हो और उनका स्वर मधुर हो। मिलकर गाने पर खास जोर देना चाहिए।

8 हिन्दुस्तानी

हिन्दुस्तानी को स्कूल के पाठ्यक्रम में अनिवार्य रखने का ध्येय यह है कि बुनियादी स्कूलों में पढ़े हुए बच्चे देश की आम जबान को काम के लायक जानते हों और बड़े होकर हिन्दुस्तान के दूसरे प्रान्तों के लोगों के साथ आसानी से काम कर सकें। इस भाषा को सिखाने में अध्यापक को बच्चों के दिलों में यह बात बैठा देनी चाहिए कि यह महान् भाषा हिन्दू और मुसलमानों के मेल–जोल का सबसे बड़ा और अच्छा फल है। यह उन दोनों के अच्छे–से–अच्छे विचारों और भावों का खजाना है। उन्हें इस राष्ट्रभाषा की विशालता और जीवन–शक्ति पर गौरव अनुभव करना चाहिए और दिल से उसकी सेवा करने की चाह होनी चाहिए।

जहाँ हिन्दुस्तानी ही बोली जाती है, वहाँ की वह मातृभाषा होगी। पर वहाँ के शिक्षकों और बच्चों दोनों के लिए नागरी और फारसी दोनों लिपियों का सीखना लाजिमी होगा ताकि वे हिन्दी और उर्दू में लिखी किताबों को पढ़ सकें। दूसरे प्रान्तों में जहाँ की मातृभाषा प्रान्तीय भाषा होगी, हिन्दुस्तानी पाँचवें और छठे दर्जे में लाजिमी रखी जायेगी और बच्चों को किसी एक लिपि को चुनकर सीखने की स्वाधीनता होगी। पर शिक्षकों को तो दोनों तरह के बच्चों से काम पड़ेगा, इसलिए अच्छा है कि वे दोनों लिपियाँ सीख लें।

कम–से–कम हर स्कूल में दोनों लिपियों के सिखाने का प्रबन्ध होना चाहिए।

पाठ्यक्रम की साधारण रूपरेखा लड़कों और लड़कियों के लिए एक ही होगी। चौथे और पाँचवे दर्जे में लड़कियों के लिए साधारण विज्ञान के पाठ्यक्रम में घरेलू काम–काज की कुछ जानकारी भी शामिल करनी चाहिए। छठे और सातवे दर्जे की लड़कियाँ चाहें तो बुनियादी दस्तकारी की जगह गृह–विज्ञान का अमली और शास्त्रीय ज्ञान ले सकेंगी।

3 शिक्षकों की तालीम

इस योजना को सफल बनाने के लिए सबसे जरूरी शर्त शायद यही है कि शिक्षकों को उचित तालीम दी जाय। यों भी आमतौर पर जैसे शिक्षक होते हैं, वैसी ही तालीम हुआ करती है। लेकिन जब सारी शिक्षा–प्रणाली जड़मूल से ही बदलने की बात सोची जा रही है, तब तो योग्य शिक्षकों की जरूरत और भी बढ़ जाती है।

इसलिए यह जरूरी है कि इस योजना के पीछे शिक्षा और समाज से सम्बन्ध रखनेवाले जो नये सिद्धान्त और विचार हैं, उनको ये शिक्षक भलीभाँति समझें और उन्हें कार्य में परिणत करने के लिए उत्साह भी रखें।

चूँकि इन शिक्षकों को केवल किताबी विषय नहीं, बल्कि दस्तकारियाँ भी सिखानी हैं, इसलिए उनकी तालीम ऐसी होनी चाहिए कि जिससे चन्द दस्तकारियों का अमली और शास्त्रीय दोनों तरह का ज्ञान उनके पास हों।

इन शिक्षकों का पढ़ाने का तरीका और विषयों की उपयोगिता समझाने का ढंग निराला होगा। सिखाते समय वे इस बात का ध्यान रखेंगे कि जो भिन्न–भिन्न विषय वे सिखा रहे हैं, वे ज्ञान की पृथक्–पृथक् शाखाएँ नहीं हैं, बल्कि बच्चे में आगे बढ़ने की जो सहज प्रवृत्ति होती है, उसी को बीच में रखकर शिक्षा की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति चलती है– उसी के एक–दूसरे से जुड़े हुए पहलू हैं। इसलिए यह जरूरी है कि शिक्षकों को हाथ की तालीम से मिली हुई दिमागी तालीम की योजना बनाने की शिक्षा मिले और इस तरह वे विद्यार्थियों के जीवन, उनकी प्रवृत्तियों और उनकी तालीम में एकता पैदा कर सकें।

यह भी जरूरी है कि वे शिक्षक अपने आसपास के समाज के जीवन और उनकी प्रवृत्तियों में दिलचस्पी रखते हों और स्कूल एवं समाज के बीच में जो गहरा सम्बन्ध है, उसे अच्छी तरह समझते हों।

इन ट्रेनिंग स्कूलों या अध्यापन मंदिरों में प्रवेश पाने के लिए यह जरूरी होना चाहिए कि उम्मीदवार किसी राष्ट्रीय विद्यापीठ या सरकारी स्कूल की पढ़ाई पूरी कर चुका हो– अर्थात् मैट्रिकुलेशन तक का उसका ज्ञान हो अथवा वर्नाक्युलन फाईनल या उसके बराबर की और कोई परीक्षा पास करने के बाद कम–से–कम दो वर्ष पढ़ाने का अनुभव प्राप्त कर चुका हो।

शिक्षकों की तालीम का पूरा पाठ्यक्रम तीन साल के लिए

(1) (क) कपास की खेती और कपास चुनना, लोढ़ना, रूई या ऊन का धुनना, कातना और ताना तैयार करना।

(ख) चरखे की बनावट का ज्ञान (यंत्रविज्ञान) या कोई दूसरी चुनी हुई दस्तकारी के काम में आनेवाले औजारों की बनावट का ज्ञान।

(ग) देहाती उद्योग–धन्धों से, खासकर चुनी हुई दस्तकारी से सम्बंध रखनेवाले अर्थशास्त्र का ज्ञान।

(घ) चुनी हुई दस्तकारी के लिए आवश्यक मामूली बढ़ईगिरी का ज्ञान।

(2) नीचे लिखी हुई बुनियादी दस्तकारियों में से किसी एक की तालीम :–

अ. कताई–बुनाई

आ. खेती

इ. साग–सब्जी की खेती और फल उपजाना

ई. बढ़ईगिरी

उ. खिलौने बनाना

ऊ. चमड़े का काम

ए. कागज बनाना अथवा

दूसरी कोई भी दस्तकारी, जो किसी खास क्षेत्र (हल्के) के लिए उपयोगी समझी जाय।

(3) शिक्षा के मूल सिद्धान्त :– इनके अध्ययन में नीचे लिखी हुई बातों पर खास ध्यान दिया जाय।

क. किसी उत्पादक काम द्वारा शिक्षा देने की योजना के बुनियादी सिद्धान्त।

ख. स्कूल के साथ समाज का सम्बन्ध।

ग. बच्चों के मनोविज्ञान की और किसी खास कला या दस्तकारी में कुशलता प्राप्त करने के मनोविज्ञान की रूपरेखा। (जहाँ तक हो सके वास्तविक घटनाओं से इसकी शिक्षा दी जाय)

घ. शिक्षण के अलग–अलग तरीके–खास करके दिमागी तालीम से मिलाकर दस्तकारी से तालीम देने की पद्धति।

ङ. देश की वास्तविक अवस्था को ध्यान में रखकर नयी शिक्षा के ध्येयों का अध्ययन।

(4) शरीर विज्ञान, आरोग्य विज्ञान, सफाई और आहारशास्त्र का साधारण ज्ञान :–इन विषयों की पढ़ाई इस तरह से होनी चाहिए कि देहाती जीवन की जो वास्तविक समस्याएँ हैं, उनसे इनका सीधा सम्बन्ध हो और देहात के जीवन में कुछ उन्नति करना ही इनका लक्ष्य हो।

(5) सामाजिक विज्ञान का जो कुछ थोड़ा–बहुत ज्ञान शिक्षक प्राप्त कर चुका हो, उसे दोहराकर और आगे बढ़ाया जाय, जिससे कि समाज में जो तरह–तरह की नयी समस्याएँ उपस्थित होती हैं, उन्हें वह ठीक–ठीक समझ सके। आगे चलकर उसी सामाजिक विज्ञान के अध्ययन के सिलसिले में हिन्दुस्तान और दुनिया के पिछले पचास वर्ष के इतिहास का साधारण ज्ञान देना चाहिए।

(6) अपने देश की सांस्कृतिक भूमिका का थोड़ा ज्ञान प्राप्त करने के लिए शिक्षकों को मातृभाषा द्वारा भारत के साहित्य और कला के कुछ अच्छे–से–अच्छे नमूनों का परिचय कराया जाय। इसकी शिक्षा दो तरह से दी जाय– एक पाठ को पढ़ाकर, दूसरे उनको खुद पढ़ने का और ज्ञान बढ़ाने का उत्साह देकर।

(7) हिन्दुस्तानी का मामूली ज्ञान :– फारसी और नागरी लिपियों का लिखना और पढ़ना। यह शिक्षा–योजना जिन सांस्कृतिक और नागरिक आदर्शों के आधार पर बनी है और जिन्हें मजबूत बनाना चाहती है, उनमें सफल होने के लिए यह जरूरी है कि केवल हिन्दुस्तानी प्रान्तों में नहीं, बल्कि गैर–हिन्दुस्तानी प्रान्तों में भी सरकारी और सरकार से मदद पानेवाले सभी स्कूलों में नागरी और फारसी लिपियाँ सिखायी जायँ।

(8) बोर्ड पर लिखना और तस्वीरें खींचना।

(9) व्यायाम, कवायद और देशी खेल।

(10) ट्रेनिंग स्कूलों के साथ लगे हुए बुनियादी स्कूलों में अध्यापकों की देखरेख में पढ़ाने का अभ्यास करना।

ऊपर जिस पाठ्यक्रम की रूपरेखा दी गयी है, शायद उसे देखकर लोगों का यह ख्याल हो कि यह बहुत भारी है और इसका पढ़ाना अमली चीज नहीं है। हम इस ख्याल को मिटाकर यह बताना चाहते हैं कि अगर सही तरीके से काम लिया जाय, तो यह पाठ्यक्रम अच्छी तरह पूरा किया जा सकता है। एक तो यह बात याद रखनी चाहिए कि यह लगातार तीन साल का पाठ्यक्रम है और इस समय पढ़ाई कैसे होगी, उसका एक अच्छा नक्शा बनाया जा सकता है।

दूसरे, यह कि कुछ साल के बाद जब यह योजना अच्छी तरह चल निकलेगी, तो जो नये शिक्षक तालीम के लिए आयेंगे वे नये स्कूलों की पढ़ाई पूरी करके आयेंगे। इसलिए वे दस्तकारी की तालीम और बहुत से विषय पहले से सीख चुके होंगे। अध्यापन–मन्दिरों में उन्हें नये विषय सीखने नहीं पड़ेंगे, बल्कि जो कुछ वे पहले सीख चुके हैं, उन्हें को आगे बढ़ाकर उन विषयों में इतनी योग्यता प्राप्त कर लेंगे कि उनमें निष्णात या पेशेवर बन सकें।

तीसरे, हमारा ध्येय यह है कि देश में ऐसे कार्यकुशल, बुद्धिमान, सुशिक्षित, कारीगर–शिक्षक तैयार हों, जिनके दिल में समाज–सेवा की लगन हो और जो इस नयी शिक्षा–योजना की तह में बैठे हुए आध्यात्मिक और सामाजिक आदर्श को हमारा राष्ट्र के बच्चों के पास पहुँचा सकें।

शिक्षकों की तालीम का छोटा पाठ्यक्रम

इस योजना को जहाँ तक हो सके, जल्दी शुरू कराने के लिए हम यह सिफारिश करते हैं कि मौजूदा स्कूलों, राष्ट्रीय विद्यापीठों और आश्रमों से विशेष योग्य शिक्षकों को चुनकर उन्हें एक साल की तालीम देकर तैयार किया जाय। ये चुने हुए अध्यापक ऐसे हों, जिन्हें पढ़ाने के काम का या दस्तकारी का अच्छा अनुभव हो और जिनसे हम आशा रखते हैं कि वे इस योजना को सही तरीके से समझकर सूझ–बूझ और उत्साह के साथ चला सकेंगे।

हर क्षेत्र में जितने स्कूल खोलना चाहते हैं, उतने शिक्षकों को तैयार किया जाय। इन शिक्षकों के पाठ्यक्रम के अंतर्गत–

क) रूई की धुनाई और तकली पर कताई– कोई भी बुनियादी दस्तकारी क्यों न चुनी जाय, यह हर एक शिक्षक के लिए लाजिमी होगी।

ख) ऊपर जिन बुनियादी दस्तकारियों का जिक्र किया गया, उनमें किसी एक दस्तकारी की इतनी तालीम हो कि शिक्षक उसे बुनियादी स्कूल में तीन साल के लिए अच्छी तरह सिखा सकें।

ग)शरीर विज्ञान, आरोग्य विज्ञान, सफाई और आहारशास्त्र का सामान्य ज्ञान।

घ) उद्योगप्रधान स्कूलों का बुनियादी सिद्धान्त और समाज के जीवन से उसका सम्बन्ध।

ङ) दिमागी तालीम से मिली हुई दस्तकारी तालीम का तरीका (समन्वय शिक्षा–पद्धति)

च) हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय जागरण का इतिहास और इस शताब्दी के दुनिया के बड़े–बड़े आन्दोलनों का परिचय।

छ) इन शिक्षकों को अध्यापन–मन्दिरों के साथ लगे हुए बुनियादी स्कूलों में अध्यापकों की देखरेख में कम–से–कम 25 पाठों को पढ़ाना भी होगा।

4 निरीक्षण और परीक्षा

(अ) निरीक्षण

नये स्कूलों के लिए अच्छे तैयार शिक्षकों की जितनी जरूरत है, उतनी ही जरूरत सुयोग्य और समझदार निरीक्षकों की है। निरीक्षण के काम के लिए खास कुशलता की जरूरत होती है, और यह नयी शिक्षा–प्रणाली जैसे–जैसे आगे बढ़ेगी, वैसे–वैसे निरीक्षकों की माँग भी बढ़ती जायेगी। इसलिए हमारी सलाह है कि निरीक्षकों की तालीम का भी विशेष प्रबन्ध होना चाहिए। हमारी राय में निरीक्षण करनेवालों की कम–से–कम इतनी योग्यता होनी चाहिए कि शिक्षा की पूरी तालीम पाने के बाद उन्होंने, दो साल के लिए सफलता के साथ किसी बुनियादी स्कूल में पढ़ाने का काम किया हो और उसके बाद एक साल निरीक्षण और प्रबन्ध के काम की भी विशेष शिक्षा पायी हो। निरीक्षकों का काम केवल मुआयने से ही खतम नहीं होना चाहिए, बल्कि बुनियादी स्कूल के शिक्षकों को अपना मित्र और साथी समझकर उनका सहयोग और सहायता करनी चाहिए और उन्हें अपने ज्ञान और अनुभवों से मदद देनी चाहिए। शिक्षा का जो नया प्रयोग आज हमारे सामने है, उसमें निरीक्षकों का काम नेतृत्व प्रदान करने का और रास्ता दिखाने का होना चाहिए। इसलिए अगर उन्हें यह काम योग्यता और सूझ–बूझ के साथ चलाना है, तो यह जरूरी है कि उन पर इन्तजाम और दफ्तर के काम का बोझ, जहाँ तक हो सके, हलका हो। निरीक्षकों की संख्या काफी हो और उनके क्षेत्र बहुत बड़े न रखे जायँ। इसमें खर्च ज्यादा होगा, लेकिन हम समझते हैं कि इस जगह की किफायत बुरी किफायत होगी।

(आ) परीक्षा

हमारे देश में आज परीक्षा लेने का जो तरीका चल रहा है, उसे तो अपने देश की शिक्षा–पद्धति का एक अभिशाप ही समझना चाहिए। एक तो तालीम का तरीका ही खराब था, उस पर परीक्षा को जरूरत से ज्यादा महत्व देकर उस पद्धति को और भी बुरा बना दिया गया है। जानकार लोगों की यह राय है कि विद्यार्थियों और स्कूलों के काम के माप के तौर पर ये परीक्षाएँ न तो सही हैं और न सम्पूर्ण ही हैं। यही नहीं बल्कि न तो ये काफी हैं और न इन पर भरोसा ही किया जा सकता है। इसलिए देश की जनता के लिए हम जिस शिक्षा–योजना की सिफारिश करते हैं, उसे इसके जहरीले असर से बचाना चाहिए।

इन परीक्षाओं की मंशा हम इस तरह पूरी कर सकते हैं कि किसी चुने हुए इलाके के स्कूलों के काम की देखरेख महकमे की तरफ से बराबर होती रहे और इसका तरीका यह हो कि शिक्षा समिति (एज्युकेशन बोर्ड) द्वारा नियुक्त निरीक्षक कुछ चुने हुए विद्यार्थियों की योग्यता नाप कर उसी के आधार पर एक नमूना बनायें और उसी की मदद से दूसरे विद्यार्थियों की योग्यता की परीक्षा करें।

शिक्षा–समिति के जो सदस्य पाठ्यक्रम बनाने और सुधारने के लिए जिम्मेदार हों,, उनकी मदद से यह माप या कसौटी तैयार की जाय। यह जाँच इतनी व्यापक होनी चाहिए कि इसमें सारे पाठ्यक्रम का समावेश हो और इस तरह होनी चाहिए कि परीक्षा का फल परीक्षकों की व्यक्तिगत राय पर निर्भर न रहकर विद्यार्थियों के काम से अपने आप प्रगट हो।

इस तरह की कसौटी के जरिये अगर बीच–बीच में देखरेख होती रहेगी, तो स्कूलों की शिक्षा–पद्धति की उपयोगिता बहुत बढ़ जायेगी और आखिरी क्लास की पढ़ाई की मुद्दत में भी कम–से–कम छः हफ्ते बढ़ जायेंगे। आजकल , विद्यार्थी इस समय को, परीक्षा रूपी अग्नि–परीक्षा के पहले, नोटों के रटने और किताबों को दोहराने में बरबाद करते हैं। नयी योजना के अनुसार इस समय का उपयोग दो तरह से किया जा सकता है। एक तो बुनियादी दस्तकारी के विद्यार्थियों की योग्यता जाँचने के लिए हफ्तों लम्बी परीक्षा ली जा सकती है। दूसरा, जिन–जिन गाँव के बच्चे स्कूल में पढ़ते हैं, उन गाँवों की उन्नति के लिए ठोस काम किया जा सकता है।

विद्यार्थियों की तरक्की का यानी उनको एक दर्जे से दूसरे दर्जे में चढ़ाने का फैसला उनके काम के ठीक–ठीक हिसाब की बुनियाद पर शिक्षकों को ही करना चाहिए। सब बुनियादी स्कूलों की योग्यता का माप एक–सा रखने के लिए शिक्षा समिति (एज्युकेशन बोर्ड) की तरफ से हर साल भिन्न–भिन्न इलाकों के सब स्कूलों के एक ही दर्जे के कुछ विद्यार्थियों को चुनकर उनकी योग्यता जाँच लेनी चाहिए। पर इसका ख्याल रखना चाहिए कि जहाँ तक हो सके, किसी विद्यार्थी को किसी दर्जे का काम या पाठ दोहराना न पड़े। अगर किसी दर्जे के बहुत से विद्यार्थी उचित योग्यता प्राप्त नहीं कर सकते हैं, अर्थात् फेल होते हैं तो इसका मतलब है शिक्षकों के काम की और अच्छी तरह से देखरेख होनी चाहिए। अगर किसी स्कूल में पास न होनेवालों की संख्या बहुत हों, तो उस स्कूल के प्रबन्ध की देख–रेख होनी चाहिए। अगर सभी स्कूलों में ऐसे पास न होने वालों की संख्या बढ़ती जाय, तो यह समझ लेना चाहिए कि या तो पाठ्यक्रम में कुछ गलती है या अलग–अलग दर्जों के लिए योग्यता का जो माप निर्धारित किया गया है, उसी में कोई दोष है। इन दोषों को तुरन्त ठीक करना चाहिए। पर विद्यार्थियों के किसी एक दर्जे का काम दोहराने से कोई फायदा होता है, ऐसा हम कभी नहीं समझते।

शिक्षा समिति (एज्युकेशन बोर्ड) अपने स्कूलों की योग्यता का निर्णय तीन तरह से कर सकती है—एक तो ऊपर कही हुई सालाना जाँच द्वारा, दूसरे, बुनियादी दस्तकारी के काम में विद्यार्थी की योग्यता द्वारा और तीसरे, स्कूल के विद्यार्थी और शिक्षक आसपास के ग्रामों के जीवन में जो सुधार कर सके हैं, उसके द्वारा। इसके अलावा अगर हर साल जिले के सब स्कूलों के काम की एक प्रदर्शनी की जाय, तो उससे काम की एक अच्छी कसौटी कायम रखने में बहुत मदद मिलेगी।

1. प्रबन्ध

1. तालीम के जो ध्येय हमने ऊपर बताये हैं, उनको प्राप्त करने के लिए बच्चों का सात साल तक स्कूल में रहना जरूरी है। बहुत अच्छी तरह विचार करने के बाद हम इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि लाजिमी (अनिवार्य) तालीम सात साल पूरे होने के बाद ही शुरू होनी चाहिए। हम इस सिद्धान्त को मानते हैं कि जहाँ तक हो सके, लाजिमी तालीम सब बच्चों के लिए एक हो। इसलिए हमारी सिफारिश यह है कि वह तालीम सात साल से चौदह साल तक के हर लड़के—लड़की के लिए अनिवार्य कर दी जाय। लड़कियों के साथ इतनी रियायत कर दी जा सकती है कि 12 वर्ष के बाद अगर उनके माता—पिता चाहें, तो उन्हें स्कूल से अपने घर ले जा सकते हैं।

2. हम अच्छी तरह जानते हैं कि सात साल पूरे होने के बाद बच्चों की लाजिमी तालीम शुरू करने की जो बात हमने की है, ठहराई है, उससे बच्चों के जीवन का एक महत्व का हिस्सा छूट जाता है। उनके ये वर्ष अपने गाँवों के गरीब घरों में बीतेंगे। वहाँ उनके अनपढ़, बेसमझ माँ—बापों को अपनी जिन्दगी काटना ही मुश्किल होता है, वे बच्चों की देखरेख क्या करेंगे? तीन साल तक के बच्चों की तालीम के लिए सरकार की तरफ से या सरकार की मदद से कुछ प्रबन्ध अवश्य होना चाहिए, इसे हम पूरी तरह समझते हैं, पर इस देश की वर्तमान दशा, खास करके आर्थिक दशा को देखते हुए हम इसकी सिफारिश नहीं कर सकते। फिर भी हम चाहते हैं कि सरकार के सामने इसकी जो जिम्मेदारी है, उसे वह भूल न जाय। हमारा भरोसा है कि जब हमारी बुनियादी तालीम की योजना, जिसका घरेलू जीवन से गहरा सम्बन्ध है, अच्छी तरह चल निकलेगी, तब बच्चों को स्कूल जाने से पहले घर पर ही आज से कहीं अधिक तालीम मिल सकेगी। इस योजना से बड़ी उम्रवालों की पढ़ाई के सवाल पर भी सरकार को जल्दी से जल्दी सोचना तो है ही।

3. इस योजना के विभिन्न विषयों की पढ़ाई के लिए जो समय लगेगा, उसकी एक समयसारिणी तैयार करने की भी कोशिश हमने की है। हमारे ख्याल से इस तरह का विभाजन ठीक होगाः—

बुनियादी दस्तकारी	3 घण्टे 20 मिनट
संगीत, चित्रकला और गणित	40 मिनट
मातृभाषा	40 मिनट
सामाजिक और सामान्य विज्ञान	30 मिनट
कसरत—कवायद	10 मिनट
आराम—छुट्टी	10 मिनट
	कुल— 5 घण्टे 3 मिनट

उपरोक्त समय सारिणी में समय का विभाजन कताई और बुनाई को बुनियादी दस्तकारी मानकर किया गया है। दूसरी दस्तकारियों के लिए दूसरी तरह से समय का बँटवारा हो सकता है, पर किसी भी हालत में बुनियादी दस्तकारी के लिए ऊपर दिये हुए समय से अधिक समय नहीं देना चाहिए।

हमारा ख्याल है कि स्कूल साल में 288 दिन काम करेगा। यानी हर महीने में औसतन 24 दिन।

4. बच्चों की तरह–तरह की रूचियों और दिलचस्पियों को देखते हुए हम यह सिफारिश करते हैं कि जहाँ तक हो सके, कम–से–कम स्कूल के आखिरी दो दर्जों में कई तरह की दस्तकारियों को सिखाने का प्रबन्ध होना चाहिए।

5. हमारी राय में हर स्कूल के पास इतनी जमीन होनी चाहिए, जिसमें स्कूल की खेती का काम हो सके और खेल का मैदान बन सके।

6. वैज्ञानिकों की छानबीन से यह साबित हुआ है कि स्कूल के काम में बच्चों के पिछड़ने का प्रधान कारण है, पौष्टिक खुराक की कमी। यह बात तो सभी जानते हैं कि हमारे गाँव के बच्चों को आमतौर पर काफी खाना नहीं मिलता। इसलिए हम यहाँ जोर के साथ यह सिफारिश करते हैं कि इस कमी को पूरा करने के लिए बच्चों को स्कूल के घण्टों में कुछ हलका–सा नाश्ता या जलपान देने का प्रबन्ध किया जाय। हमें भरोसा है कि इतना खर्च उठाने में सरकार को साधारण जनता से काफी मदद मिलेगी।

7. शिक्षकों के वेतन के बारे में महात्माजी ने जो कहा है, उससे हम पूरी तरह सहमत है : ''हो सके तो पचीस रूपये महीने हो, लेकिन बीस रूपये से कम कभी न हो।'' हमारे ख्याल से ऊँचे दर्जे के लिए शायद अधिक योग्यतावाले शिक्षकों की जरूरत हो और शायद उन्हें इससे कुछ अधिक वेतन भी देना पड़े।

8. हम सिफारिश करते हैं कि इस प्रयोग के पहले दो–तीन सालों में अगर जरूरत हो तो कुछ ज्यादा वेतन देकर भी विशेष योग्यतावाले शिक्षक रखे जायँ, ताकि वे चुने हुए स्कूलों में पढ़ाई के इस नये तरीके को और नये पाठ्यक्रम को ठीक तरह अमल में ला सकें और इस योजना में जिन चीजों की कमी रह गयी है, उन्हें पूरा कर सकें। शुरू के इस मुश्किल समय के पार हो जाने पर हमारे तीन साल के ट्रेनिंग स्कूलों में तैयार हुए साधारण शिक्षक भी इस काम को अच्छी तरह चला सकेंगे।

9. हमारी राय में हर दर्जे में बच्चों की संख्या तीस से अधिक नहीं होनी चाहिए। इससे अधिक संख्या होने पर शिक्षक के लिए अपनी जिम्मेदारियों को पूरा करना मुश्किल हो सकता है।

10. शिक्षकों के चुनाव में स्कूल के ही इलाके के लोगों को पहला स्थान देना चाहिए।

11. स्त्रियों को इस पेशे की ओर लाने के लिए खास कोशिश करनी चाहिए और उनकी ट्रेनिंग के लिए खास सहूलियतें और सुविधाएँ होनी चाहिए।

12. शिक्षकों की तालीम के लिए योग्य उम्मीदवारों को चुनने का जो सवाल है, उनकी पूरी–पूरी और अच्छी छानबीन होनी चाहिए और चुनाव के लिए एक ऐसा पक्का तरीका निकालना चाहिए कि तैयार

शिक्षकों में कोई भी अयोग्य न रहने पाये। अगर इस कठिन सवाल पर पूरा ध्यान न दिया गया तो इस योजना का सफल होना मुश्किल होगा। शिक्षा के काम के लिए खास तरह की सामाजिक और नैतिक मनोवृत्ति और गुणों की जरूरत होती है। अतएव जो कोई भी इस पेशे को अपनाना चाहता है, वह इसके योग्य ही है, ऐसा नहीं मान लेना चाहिए। इसलिए शिक्षकों को चुनने में हमें बहुत ध्यान और विचार से काम लेना चाहिए और जहाँ तक हो सके, सिर्फ उन्हीं लोगों को चुनना चाहिए जिनका झुकाव खासतौर पर समाज–सेवा की ओर है।

13. हमारी सलाह है कि सब अध्यापन–मन्दिरों (ट्रेंनिंग स्कूलों) में ऐसा इन्तजाम हो कि वहाँ शिक्षक और विद्यार्थी सब एक साथ रह सकें। उनमें सब जाति और सब धर्म–मजहब के लोग शामिल हो सकें, खाने–पीने और उठने–बैठने में छुआछूत जैसी कोई चीज वहाँ न हो।

14. इन अध्यापन–मन्दिरों में दस्तकारी की तालीम देने के लिए कुशल कारीगर या दस्तकार शिक्षक रखे जा सकते हैं। अगर जरूरत हो तो बुनियादी स्कूलों के शिक्षकों को दस्तकारी की तालीम में मदद देने के लिए और बच्चों की बनायी हुई चीजों को बाजार के लिए तैयार करने के काम में स्थानीय कारीगरों से मदद ली जा सकती है।

15. शिक्षकों की योग्यता को कायम रखने और आगे बढ़ाने के लिए ट्रेनिंग स्कूल और कॉलेजों में धीरे–धीरे ऐसे संक्षिप्त पाठ्यक्रमों का प्रबन्ध करना होगा, जहाँ ये अध्यापक बीच–बीच में आकार अपने ज्ञान को ताजा कर सकें और नयी बातें सीख सकें। संस्कृति, तालीमी हुनर और उद्योग की दृष्टि से ये पाठ्यक्रम कई तरह के होने चाहिए।

16. हर ट्रेनिंग स्कूल के साथ एक बुनियादी स्कूल रहना चाहिए। ये स्कूल इस नयी शिक्षा–योजना के लिए प्रयोगशाला का काम करेंगे, जहाँ शिक्षा की नयी पद्धतियों का प्रयोग और विकास किया जायेगा। इन स्कूलों में खासतौर पर योग्य अध्यापक रखे जायँ और ये अपने क्षेत्र के अन्य स्कूलों के लिए नमूने का काम दें। दूसरे स्कूलों के शिक्षकों को भी यह मौका दिया जाय कि वे यहाँ आकर काम का तरीका, पढ़ाई के साधन और हुनर देखें।

17. इस नयी शिक्षा–योजना के जो खास ध्येय हैं, जैसे– दस्तकारी के जरिये पूरी तालीम देना, पढ़ाई के विषयों का एक के साथ दूसरे से ताल–मेल होना, पढ़ाई का जीवन से निकट सम्बन्ध होना, प्रयोग करके हर चीज सीखने की तालीम देना, बच्चों में अपने मन से काम करने और समाज की तरफ अपनी जिम्मेदारी का ख्याल पैदा करना– वे तब तक हासिल नहीं हो सकते, जब तक शिक्षकों और विद्यार्थियों, खासकर शिक्षकों को इस शिक्षा–योजना के अनुसार निर्धारित की गयी किताबें और दूसरे साधन न दिये जायँ। इसलिए ऐसा ढंग बतानेवाली कुछ नमूने की चीजें, शिक्षकों के लिए किताबें और दिमागी तालीम से मिली हुई दस्तकारी की तालीम का कार्यक्रम बनाना बहुत जरूरी है। इस तरह बच्चों के लिए ऐसी कुछ नयी किताबें लिखने की भी जरूरत है, जो इस नयी योजना की भावना से बिलकुल भरी हों। इस काम में प्रत्येक प्रान्त की शिक्षा समिति और हिन्दुस्तानी तालीमी संघ बहुत मदद कर सकते हैं। जो प्रान्त इन नये ढंग के

स्कूलों को कायम करना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि वे साथ–साथ इन स्कूलों के लिए जरूरी किताबें और दूसरी सामग्रियों को भी जल्दी–से–जल्दी तैयार करने का प्रबन्ध करें।

18. जिस हिस्से में हमने परीक्षा के बारे में चर्चा की है, वहाँ हर प्रान्त की शिक्षा समिति (एज्युकेशन बोर्ड) का जिक्र किया है और यह भी कहा है कि स्कूलों की योग्यता की जाँच करना इस समिति का एक बड़ा काम रहेगा। यहाँ हम सिफारिश करते हैं कि हर प्रान्त की शिक्षा समिति में कुछ सुयोग्य शिक्षाशास्त्री रहें।

इनका काम रहेगा कि वे स्कूल के पाठ्यक्रम को जनता के वास्तविक जीवन के साथ मिलाने के लिए वैज्ञानिक रीति से खोज करते रहें, स्कूल के काम की योग्यता मापने के लिए जाँच के नमूने बनाये जायँ, उनसे शिक्षकों को परिचित रखें, तालीम के तरीके में प्रयोग करते रहें और उसे बराबर आगे बढ़ाते रहें, हमारे देश में या विदेश में जहाँ कहीं शिक्षा के क्षेत्र में अच्छे सफल प्रयोग हुए हों, उनकी खबर शिक्षकों तक पहुँचाते रहें और शिक्षकों को और निरीक्षकों की तालीम की देखरेख करते रहें।

19. ऊपर जिन प्रान्तीय शिक्षा समितियों का हम अभी जिक्र कर चुके हैं, वे सरकारी होंगी। इनके अलावा हम चाहते हैं कि भारतीय (हिन्दुस्तानी) शिक्षा की एक स्वतंत्र, गैर–सरकारी केन्द्रीय संस्था कायम हो। इसके जिम्मे व्यवस्था का कोई काम न हो, इसके लिए केवल शिक्षा, साहित्य, कला, विज्ञान और दस्तकारियों के विशेषज्ञ रहें।

इस संस्था का ध्येय यह रहेगा :–

शिक्षा के क्षेत्र में साधारण नीति और अमली काम के बारे में सलाह देना। हिन्दुस्तान में और हिन्दुस्तान के बाहर शिक्षा के क्षेत्र में जो प्रयोग किये जा रहे हैं, उनके सिद्धान्त और ध्येय पर विचार करना और शिक्षा के विषय में जो दिलचस्पी रखते हों, उनके पास इन विचारों को पहुँचाना।

हिन्दुस्तान के विभिन्न प्रान्तों और रियासतों में और दूसरे देशों में शिक्षा–क्षेत्र में जो कुछ काम हो रहा है, उसकी जानकारी इकट्ठी करना और उसके सम्पर्क में रहना।

शिक्षा की समस्याओं पर वैज्ञानिक रीति से अनुसंधान का प्रबन्ध करना।

शिक्षा के क्षेत्र में काम करनेवालों के लिए छोटी–छोटी किताबें और मासिक पत्र निकालना।

20. यह बात सबको मालूम है कि हमारे देश में जनता की सेवा, सुविधा और सुधार के लिए जितने भी सरकारी विभाग हैं, उनका न एक–दूसरे से कोई सम्बन्ध है, न देश के भावी नागरिकों के हित के लिए उनके द्वारा किसी प्रकार की चेष्टा या प्रबन्ध होता है। इसलिए यहाँ हमारी सिफारिश यह है कि शिक्षा विभाग को इतना अधिकार दिया जाय कि वह देश में खुशदिल, तन्दुरूस्त और कार्यसक्षम नागरिक तैयार करने के लिए दूसरे सब सरकारी विभागों से जरूरत के अनुसार मदद ले सकें।

❁❁❁❁❁❁❁

इकाई क्र. 3

पठन सामग्री क्र. 11

बुनियादी शिक्षा की प्रासंगिकता

कृष्ण कुमार

पिछली पठन सामग्री (नयी तालीम का सुव्यवस्थित स्वरूप—योजना एवं पाठ्यक्रम की रूपरेखा) में आपने बुनियादी शिक्षा को विस्तार में समझा। इसके साथ ही आपके पास वर्तमान में प्रचलित शिक्षा व्यवस्था में अध्यापन अनुभव भी है। अब आपको इस पठन सामग्री को पढ़कर यह चिन्तन करना है कि बुनियादी शिक्षा की आज के परिपेक्ष्य में क्या प्रासंगिकता है?

यह पठन सामग्री 'दिगन्तर खेलकूद समिति' नामक संस्था से प्रकाशित द्वैमासिक पत्रिका 'शिक्षा विमर्श' के अंक मई 98 में प्रकाशित लेख को आवश्यकतानुसार संशोधित करके ली गई है।

गत् 50—60 सालों में शिक्षा के दर्शन में और शिक्षा के दर्शन को इस्तेमाल करने की प्रणालियों में तरह—तरह से बुनियादी शिक्षा का प्रस्ताव अपनी प्रतिछवियाँ पाता रहता है। ये नहीं कि उस प्रस्ताव में जान बूझकर ऐसी बातें कही हों, लेकिन वैसे ही शिक्षा के दर्शन का और खास तौर से इस बीच में जिस तरह का लेखन हुआ है उसमें कहीं न कहीं बुनियादी शिक्षा एक मौजूदगी के रूप में रही है और देश में ही नहीं विदेश में भी। वैसे बुनियादी शिक्षा के प्रस्ताव में ऐसी बात नहीं थी जैसे कि एकदम कोई निराला पदार्थ गांधी जी कहीं से खोज कर लाये हों। जो उन्होंने कहा था वह बड़ी ही, एक सामान्य जीवन के लिए मौजूं सी बात थी। जिनको वे खुद अपनी युवावस्था में दक्षिणी अफ्रीका के दिनों में, जब उन्होंने स्वावलम्बी जीवन के प्रयोग किये थे, आजमा कर देख चुके थे। और उनकी आत्मकथाओं में उन प्रयोगों का जो जिक्र है, उसको आप यदि पढ़े ंतो लगता है कि अरे ! उसके बाद इतने साल लग गये उनको शिक्षा का प्रस्ताव देने में ? थोड़ा आश्चर्य की बात है, यह आश्चर्य कुछ घट सकता है अगर हम इस बात को याद करें कि दरअसल गांधी की राजनीति में एक लम्बा शैक्षिक प्रयोग है। लोगों को अपनी बात समझाने का। लोगों के सामने अपनी बात को, एक बात के रूप में नहीं बल्कि एक किये काम के रूप में रखने का। और यह मान कर चलें कि हम अपना जीवन अपने ढंग से जीयेंगे तो उसकी सुगंध वैसे ही फैलेगी। हमें बताने की जरूरत ही नहीं होगी कि यह सुगंध क्या है? इस तरह के विश्वास गांधी की राजनीति में लगातार उन 50 वर्षों में दिखाई देते हैं जिनके बाद जाकर 1937 में एक उभरते हुए देश के संदर्भ में, देश की कल्पना के संदर्भ में, उन्होंने बुनियादी शिक्षा का प्रस्ताव रखा था।

बुनियादी शिक्षा में तीन बातें हैं, एक तो हाथ का काम स्कूल में हो, दूसरी, स्कूल की शिक्षा स्थानीय परिवेश से जुड़ी हो। बहुत ही आम सी बातें हैं और तीसरी, स्कूल में जो–जो विषय पढ़ाये जायें, जो–जो कौशल बढ़ाये जायें, ज्ञान के जो–जो क्षेत्र वहाँ बच्चों तक लाये जायें, वह अलग–अलग न होकर संगठित हों। उसी तरह से आपस में बंधे हों। क्योंकि इन तीनों बातों को सुनकर आज जो व्यक्ति 22–24 साल का है, उसको एकदम लगेगा कि यह आदमी बासी रोटी हमारे लिये लाया। हमने इन शब्दों को संभाल कर, लटका कर धूप में, सब तरह से करके देख लिया है, ऐसा एक अहसास है। इन तीनों बातों को, खासकर काम, स्थानीयता या स्थानीय परिवेश का महत्व और पाठ्यक्रम को संगठित करने का प्रयास, इन तीनों को अलग–अलग तरह से अलग–अलग संदर्भों में, देश के किसी ना किसी हिस्से में या शायद राष्ट्रीय स्तर पर कई बार करके देख लिया गया है। और एक खास तरह की ऊब इन बातों को सुनकर लोगों को होने लगती है, इसका दोष मैं उनको नहीं देता। क्योंकि ये बातें ही ऐसी हैं जिनके बारें में आज एकदम उत्साहित होना कि ये नई बात होगी, कहना संभव नहीं है बल्कि आज तो शब्दावली अगर नई नहीं हो तो कोई बात सुनने लायक नहीं होती। और इन बातों को बहुत संक्षेप में रखकर यहाँ छोड़ रहा हूँ क्योंकि इन बातों का अर्थ आप सबको पता है। अनुभव के स्तर पर भी और ज्ञान के स्तर पर भी। बस इसमें शायद जोड़ना इतना ही जरूरी है कि गांधी जी के द्वारा दिये गये बुनियादी शिक्षा के मूल प्रस्ताव में इस तीसरे वाले बिन्दु को किसी हस्त–कौशल के संदर्भ में उठाया गया था। इस संगठित रूप की परिकल्पना उन्होंने किसी विचारधारा के संदर्भ में नहीं उठाई थी, ना किसी मनौवैज्ञानिक संदर्भ में उठायी थी, बल्कि एक हस्त–कौशल के संदर्भ में उठाने की बात थी। क्योंकि जो उनका पहला विचार कि हाथ का काम स्कूल में हो, उसका आशय यह नहीं था कि हाथ का काम भी हो, बल्कि हाथ का काम स्कूल का केन्द्रीय विषय हो। वह इतना ज्यादा महत्वपूर्ण हो कि स्कूल के अन्य उपचार, जो तमाम सभी तरह के स्कूल की, ज्ञान की, कौशल की परंपरायें हैं, वो सब हाशिये पर चली जायेंगी, गौण हो जायेंगी और केन्द्रीय महत्व किसी हस्तकौशल का हो, जरूरी नहीं किसी एक हस्त–कौशल का हो, पर कम से कम एक पारंपरिक हस्त–कौशल का अवश्य हो। अच्छा होगा यदि वह हस्त–कौशल ऐसा हो जो स्कूल के बच्चों के परिवेश में उपलब्ध हो। वही हस्त–कौशल बच्चों के स्कूल का केन्द्रीय उद्यम हो और उनके इर्दगिर्द ज्ञान के पाठ्यक्रम के विभिन्न क्षेत्र बुने जायें और इस बुनावट को ही संगठित पाठ्यक्रम का नाम भी बुनियादी शिक्षा के संदर्भ में हम दे सकते हैं। ये बुनावट बच्चे के व्यक्तित्व की किसी सार्वभौमिक मनोविज्ञान की अवधारणा की नहीं है, न ही यह कोई राष्ट्रीय विचार धारा है बल्कि ये बुनावट उस कौशल से निकलनी चाहिये जो कि स्कूल के केन्द्रीय उद्यम के रूप में चुना है। और भी बहुत से आग्रह थे जिनमें से सबका जिक्र करना जरूरी नहीं है। खासतौर पर जो उत्पादकता का आग्रह, दरअसल आप इतिहास पर नजर दौड़ा कर देखेंगे कि और जो आग्रह थे, उनको बाद में बहुत स्थान दिया गया लेकिन इस केन्द्रीय विषय पर ध्यान नहीं दिया गया। अभी

आप सुनते हैं कि स्कूल में एक चीज कही जाती है 'वर्क एक्सपीरेंस' (काम का अनुभव) या कुछ और चीजें जो फैलाई गई हैं 'समाज में उपयोग के लिए उत्पादन कार्य' जिसके प्रत्येक शब्द पर बाकायदा आप संदेह कर सकते हैं। ये तमाम चीजें बुनियादी शिक्षा के प्रस्ताव को अपनाने के बाद उसकी स्मृति में, पाठ्यक्रम में रची गयी और जो अभी तक चली आ रही हैं। इसे अपनाने के बाद एक आदमी की स्मृति जिस तरह की रह जाती है, उस तरह से वो बुनियादी शिक्षा की स्मृति को संजोए हुए है। इसलिये उन तमाम आग्रहों की चर्चा करना जरूरी नहीं है क्योंकि वे तमाम तो किसी न किसी रूप में उपलब्ध हैं जो मूल प्रस्ताव के मद्दे नजर थे। ऐसे ही मातृभाषा का कुछ महत्व शामिल था। स्थानीय परिवेश से जोड़ने की बात से मातृभाषा तो एक तरह से स्वाभाविक तर्क–प्रक्रिया के रूप में आ ही गई थी, उसे कहने की जरूरत नहीं थी, लेकिन फिर भी गांधी जी ने उसे बहुत अलग महत्व दिखाते हुये फिर से कहा। ये तीन बिन्दु जो कि बुनियादी शिक्षा के मूल प्रस्ताव में थे। जिन बिन्दुओं को मैंने केवल पंजीकृत करने के लिहाज से यहाँ पर आपके सामने रख दिया है। इसलिये नहीं कि आप ऊब महसूस करें बल्कि इसलिये कि जिससे ये सनद रहें। बीते हुए वक्त पर बार–बार एक ऐतिहासिक अन्दाज में नजर लौटाये बगैर सहज विश्लेषण की धारा में बहते हुए इस प्रस्ताव की कुछ बातों को परखने के साथ ही इनका मूल्यांकन करें कि शिक्षा के जो प्रमुख संदर्भ हैं उनमें बुनियादी शिक्षा आज कैसे दिखेगी, अगर उसका कोई रूप आज की तारीख में संवारा जाये, निखार के दिखाया जाये, उस पौधे को कहीं भी लगाया जाये, तो उसमें से कैसे पत्ते फूटेंगे? किस तरह का फूल उगने की संभावना है? और उसको सुरक्षित रखने, फलता–फूलता रखने के लिये क्या–क्या उपक्रम करने होंगे ? ये तमाम बहसें उसमें से निकल सकती हैं।

इस प्रक्रिया को, इस परख को, शुरू करने के लिए मैं डिवी के उन चार मानकों को लेना चाहूँगा जो किसी भी शैक्षिक विचार की परख के लिए मुझे लगता है कि पर्याप्त हैं। क्योंकि वो शिक्षा की समग्रता को बहुत सरल, एक चतुर्भुज में, सरल चौखटे में, डालकर दिखाने की क्षमता रखता है। और ये चार कोने हैं **सीखने वाला यानि कि बच्चा, अध्यापक, परिवेश और विषयवस्तु**। डिवी ने इनको चार सामान्य बातें कहा है जो कि शिक्षा के किसी भी दर्शन में, शिक्षा के किसी भी प्रस्ताव में पढ़ी जा सकती हैं या पढ़ी जानी चाहिये, अगर हम उनका विश्लेषण करना चाहते हैं। इनको ही अगर हम मानक के रूप में इस्तेमाल करें, कसौटी के रूप में इस्तेमाल करें और कसौटियों पर बुनियादी शिक्षा के प्रस्ताव की, आज की संभावित रूपरेखा बना लें, तो मैं समझता हूँ कि कुछ रोचक परिणाम बातचीत को आगे बढ़ाने के लिए हमारे सामने आ सकते हैं। सबसे पहले बच्चे की चर्चा, सीखने में प्राथमिक स्तर पर चर्चा कर रहे हैं तो बच्चे की ही चर्चा करें। आज बात करते हैं बच्चा, लड़का या लड़की, तो हमारे मन में, अपनी शिक्षावश, अपने प्रशिक्षणवश, बच्चे की एक ऐसी सार्वभौमिक छवि बन जाती है जो बीसवीं सदी में मनोविज्ञान ने बनाई है। दरअसल मनोविज्ञान शिक्षा से जुड़े हुए हरेक व्यक्ति के लिए एक अनिवार्य विषय, कोई पिछले लगभग

80–90 वर्षों से, रहा है। और न केवल एक विषय रहा है बल्कि शिक्षा व ज्ञान के पाठ्यक्रम पर, खास तौर से शिक्षकों के प्रशिक्षणों के पाठ्यक्रमों पर, बकायदे इसकी चौधराहट का दबदबा रहा है। उसने शिक्षा के दर्शन को, शिक्षा के समाज–शास्त्र को, एक तरह से अपना गृह मानकर पाल रखा है। शिक्षा के किसी भी शिक्षक–शिक्षण महाविद्यालय में, अगर आपका ऐसा दुर्भाग्य हो जैसा कि मेरा जीवन पर्यन्त है। दो घण्टे का दुर्भाग्य आपके जीवन में आये कि आप किसी शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय में प्रवेश करें और वहाँ की हवा सूंघे तो आप पायेंगे कि मनोविज्ञान की गंध बड़ी भारी मात्रा में होगी। अगर आपको उस गंध में जीने का अभ्यास नहीं है तो आप को बाहर जाकर किसी और आदमी से बात करना जरूरी हो जायेगा। शिक्षा में मनोविज्ञान की गंध गाढ़ी गन्ध है और खास तौर से बच्चे के संदर्भ में इस गंध को अच्छी तरह समझ लेने की जरूरत है, अगर हम बुनियादी शिक्षा के संदर्भ में, बच्चे की कोई छवि अपने मन में बनाना चाहें।

मनोविज्ञान एक बहुत ही महत्वपूर्ण शाखा है आत्मिक ज्ञान की। जिन–जिन विषयों के साथ विज्ञान शब्द जुड़ा है, उन–उन विषयों की महिमा तो अपरम्पार है, यह कहकर ही इसकी चर्चा शुरू करनी चाहिये। क्योंकि जिस रूप में हम शब्द से परिचित हैं कि विज्ञान, इस शब्द की दो शताब्दियों में जो छटा है जिसके साये में हम सब जीते हैं, उस छटा के 2–4 बिन्दुओं को याद करके ही ऐसा कोई विषय या इस विषय पर बोलने की हिमाकत करनी चाहिये जो अपने को विज्ञान कहता हो। आज के समय में, ऐसा चलन आज ही नहीं बहुत समय से चल रहा है; आज के समय में कोई ज्ञान तभी महत्वपूर्ण माना जाता है जब वह अपने को विज्ञान कह सके। आप देखते होंगे कि एक तरफ राजनीति करने वाले, दूसरी तरफ उनका अध्ययन करने वाले अपने को राजनीति–वैज्ञानिक कहते हैं। इसी तरह हम सामाजिक–विज्ञान शाखाओं की चर्चा करते हैं। इन तमाम ज्ञानों में यह बात गहराई से, एक मान्यता के तौर पर निहित होती है कि विज्ञान तो वह है जिसमें निहित अवधारणायें सार्वभौमिक स्तर पर सिद्ध की जा सके। और सिद्ध करने के उनके निश्चित तरीके हों। यह नहीं हो सकता कि आप अपने तरीके से सिद्ध करके दिखायें। विज्ञान की दुनिया में सिद्ध करने के खास तरीके होते है जिनको मानकर ही हम किसी विषय को विज्ञान की तरह पढ़ या पढ़ा सकते हैं। मनोविज्ञान उन महत्वपूर्ण विषयों में से एक है जिसने शिक्षा के क्षेत्र में इस सार्वभौमिकता को महत्व दिलाया है, विशेषकर बच्चे की छवि के संदर्भ में। आज जब हम बात करते हैं बच्चे की, हमारे मन में जो दो–तीन प्रमुख बातें आती है वो कहीं न कहीं मनोविज्ञान के द्वारा रचे गये बच्चे की है।

जब मैं कहता हूँ मनोविज्ञान से रचा गया बच्चा तो आशय है कि मनोविज्ञान ने जिस तरह से बच्चे की खोज की है सारी दुनिया में। जिस तरह से उस पर शोध किया है, उस शोध के परिणाम स्वरूप एक बच्चे का प्रारूप, एक मॉडल प्रारूप जन्मा है, जिसमें कुछ विशेषताएँ प्रमुख हो गई, उन विशेषताओं को हम इतनी सहजता से आत्मसात कर चुके हैं कि जब हम बात करते हैं कि 'बच्चा' तो हमारे मन में वो प्रमुख विशेषतायें एकदम, एक विश्वास के स्तर पर उभर आती हैं। कौनसी विशेषतायें– एक तो यह कि बच्चा उस

प्राणी का नाम है जो एकदम स्वतंत्र हो। स्वतंत्र यानि इतना ज्यादा आजाद कि वह किसी भी जिम्मेदारी से दूर हो, यानि जिम्मेदारी और बचपन—इन दोनों के बीच अन्तर्विरोध है। इस मान्यता के आधार पर ही बच्चे की छवि आज हमारे मन में बन गई। अगर ऐसा बचपन जीया जा रहा है जिसमें कुछ जिम्मेदारियाँ बचपन से ही हैं तो उसको सही बचपन या असली बचपन मानने से हम सब कतराते हैं। मैं भी कतराता हूँ, क्योंकि हमारे मन में यह छवि बनी हुई है कि बचपन तो वह है जिसमें जिम्मेदारी नहीं हो, यह तो खेलने खाने का, उन्मुक्त होने का वक्त है। यह तो ऐसा वक्त है जब हम सब तरह खोये हुए हों।

दरअसल सिर्फ मनोविज्ञान पर इस छवि को गढ़ देने का श्रेय देना सही नहीं है। इस छवि को गढ़ने के पीछे पूरा एक इतिहास है, विशेषकर आधुनिक यूरोप का इतिहास। खासतौर से यूरोप के औद्योगिक इतिहास को यहाँ याद रख लेना जरूरी है। पिछले 300 वर्षों में यूरोप का समाज जिन—जिन अनुभवों से गुजरा है, उन अनुभवों से गुजर कर ही उसने बचपन की एक छवि बनाई है। इसमें बच्चे और बड़े के बीच एक द्वैत है। एक आधारभूत सिद्धांत के रूप में माना जाता है कि बड़ा वो है जिसका बचपन समाप्त हो चुका है। और एक बच्चा वह है जो बड़ा नहीं हुआ हो। दोनों में एक प्रमुख फर्क यह है कि बड़ा वो जो जिम्मेदारियों से घिरा हो, जो चिन्ता कर सकता हो, और बच्चा वो जो जिम्मेदारियों से मुक्त हो। सब चिन्ताओं से दूर हो। इन दोनों के बीच एक स्पष्ट टकराव है और इस टकराव को मनोविज्ञान की भाषा में संधि—काल कहा जाता है। उस संधिकाल को मनोविज्ञान की कक्षाओं में किशोरावस्था कह कर पढ़ाया जाता है। किशोरावस्था वह संधिकाल है जिसमें बच्चा बड़ा होने की प्रक्रिया में रहता है और इस दौरान जो टकराहटें, जो समस्यायें उत्पन्न होती हैं, उन्हें एक खास ढंग से रूपायित करना आधुनिक मनोविज्ञान का बड़ा महत्व का विषय रहा है। दरअसल मनोविज्ञान का बहुत हिस्सा ऐसा ही है जो किशोरावस्था की विशेषतायें इस तरह से पढ़ाने में खर्च हो जाता है जैसे कि वो विशेषतायें सार्वभौमिक हो। इन विशेषताओं में सबसे प्रमुख विशेषता तो यह है कि किशोरावस्था में अपनी पहचान का संकट पैदा होता है कि 'मैं कौन हूं'! और वो संकट समाज में उपलब्ध भूमिकाओं में से अपने को विभिन्न भूमिकाओं में रखकर, अपने व्यक्तित्व को समाज में समाहित करने की प्रक्रिया में एक खास पहचान देने से जुड़ा है। किशोरावस्था का यह संकट समझे बिना हम बचपन की वो छवि पूरी तरह से आत्मसात नहीं कर सकते जो मनोविज्ञान ने दी है। यहीं कहीं समाज और विश्व के बीच का द्वैत बहुत महत्वपूर्ण है जो कि आधुनिक समाज शास्त्र और आधुनिक मनोविज्ञान दोनों की पहेली है। जहाँ से यह अवधारणा निकली है कि शिक्षा का एक प्रमुख कार्य है बच्चे का सामाजीकरण करना। इस अवधारणा का आशय यह है कि समाज मूल्यों, विश्वासों, मान्यताओं विभिन्न तौर—तरीकों का एक ऐसा समुच्चय है जिनमें बच्चे को ढाला जाना है। यह प्रक्रिया स्वाभाविक रूप में नहीं घट सकती। यह प्रक्रिया घटाई जाना और शिक्षा को इस तरह से समायोजित करना है कि वो बच्चे का समाजीकरण एक दिये गये समाज में कर सके। यानि बच्चे को अव्वल तो एक स्वतंत्र इकाई के रूप में

यहाँ मान्यता दी है, फिर एक स्वतंत्र इकाई को एक खास समाज व्यवस्था में ढालने की प्रक्रिया। यह पूरा एक शिक्षा दर्शन है जिसको और कोई शब्द देना संभव नहीं होगा। यह दर्शन नहीं, यह दिग्दर्शन है, लेकिन यही है वो दर्शन जिससे हमें ये नौकरी मिली हुई है। जो हम लोग शिक्षक प्रशिक्षण के दौरान समझाते हैं, उसके मोटे–मोटे बिन्दु मैं आपके सामने उभार कर रख रहा हूँ। इसमें बच्चे और समाज के बीच में एक टकराव, बड़े एवं बच्चे होने के बीच में टकराव और इस टकराव को यथा संभव संभालते हुये, यथासंभव इस टकराव से पैदा होने वाली चोटों पर मरहम लगाते हुये, बच्चे को समाज में दीक्षित कर देने का काम शिक्षा को सौंपा। स्कूल एक प्रकार का अस्पताल है जहाँ इस टकराहट से पैदा होने वाली चोटों पर मरहम पट्टी की जाती है। इस अस्पताल की तमाम किस्म की और जिम्मेदारियाँ हैं जो कि पुराने समय में नहीं होती थीं, आज के समय में एकदम मुखर होकर सामने आ रही है। इसलिये क्योंकि टकरावों के चलते ही स्कूल की एक जगह बनी है।

इस सब के साथ एक और चीज को याद कर लें जो यूरोपीय इतिहास के साथ बड़ी महत्वपूर्ण रही है और जिसने आधुनिक बचपन को परिभाषित करने की एक बड़ी ही महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। लेकिन जो अन्तःसलिला है, कभी दिखाई नहीं देती, न हम उसकी चर्चा करते हैं। लेकिन मनोविज्ञान की कक्षाओं में उसको विशेष रूप से समझना होता है, क्योंकि वो आधुनिक मनोविज्ञान के अर्थ में बचपन व किशोरावस्था को समझने की एक बुनियादी अवधारणा है और वो है बुराई की। बचपन वो है जिसे बुराई से दूर रखा जाये। बुराई कौनसी, सबसे ज्यादा बुरी बुराई कौनसी? यूरोपीय संदर्भ में सबसे ज्यादा बुरी बुराई है, आदमी और औरत के संबंध की। बुराई, जिस पर 300 वर्षों के अथक मानसिक संघर्ष से गुजर कर भी यूरोप मुक्त नहीं हो पाया। जब बचपन को एक अबोध अवस्था के रूप में चित्रित किया जाता है और किशोरावस्था को उस संधिकाल के रूप में चित्रित किया जाता है, तो किशोर को जिम्मेदारी और यौन–ज्ञान से अवगत होना पड़ता है। बुनियादी मान्यता यह कहती है कि अबोधावस्था तभी सुरक्षित रह सकती है जब वो इस बुरे ज्ञान से दूर रहे और इसकी चर्चा ना कि जाये। यह उतना ही बुरा है जितना कि किसी बच्चे को जिम्मेदारी दे देना। आमदनी की प्रक्रियाओं में जीने के लिए जो जरूरी उपक्रम है सामाजिक जीवन में, उनमें रखना, दूसरे नंबर की बुराई बन जाता है। इन सब से मुक्त और इन सब से दूर जाती हुई जिन्दगी का हिस्सा–बचपन। उसे बचपन का नाम दिया जाता है जिसमें एक खास तरह की संरक्षित पवित्रता है और जिसको वैसा रखकर हम बड़े अपने को अपराध बोध से मुक्त मानते हैं। यहाँ हमने अपने बच्चों को इतने वर्ष इस बड़े संसार से, इस बुरी जिन्दगी से दूर रखा। दरअसल संसार को बुरा कहने के पीछे भी बड़ा महत्वपूर्ण इतिहास है इस विचार का, जिसे बाल–केन्द्रित शिक्षा के संदर्भ में रूसो का हवाला दिये बिना संदर्भित नहीं किया जा सकता। रूसो ने समाज और प्रकृति के बीच जो द्वैत, अन्तर्विरोध पहचाना था और जिसके तहत उसने प्राकृतिक मनुष्य और नागरिक के द्वैत को परिभाषित किया था, वो उसके द्वारा

प्रस्तावित शिक्षा की कल्पना में बड़ा महत्वपूर्ण साबित हुआ और आगे चलकर तो शायद वही सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण हो गया। यह समाज, मनुष्य को बुराई में दीक्षित करने वाला है। मनुष्य तो केवल प्राकृतिक अवस्था में वैसे रह सकता है जैसा उसको ईश्वर ने बनाया है, यानि उसकी अच्छाई केवल प्राकृतिक अवस्था में ही सुरक्षित है। समाज में जैसे ही वह रहना शुरू करता है, उसके पैरों में बेडियाँ पड़ जाती है और तरह–तरह की बुराईयाँ उसे घेर लेती है। हमें अगर उसे मुक्त करना है तो शिक्षा को बाल–केन्द्रित बनाना होगा।

बाल–केन्द्रित शिक्षा का आशय अन्त में यह निकला कि बच्चे की प्रकृति के अनुरूप शिक्षा को समन्वित करना। ये तमाम विचार आज यहाँ इसलिये बता देना जरूरी है कि बुनियादी शिक्षा के प्रस्ताव में, इन सभी विचारों का उल्टा घटताक्रम निहित है। बुनियादी शिक्षा के प्रस्ताव में, किसी भी तरह से उस को देखेंगे तो यह लगेगा कि यह प्रस्ताव **बच्चे व बड़े** के बीच में द्वैत स्वीकार नहीं करता। यह प्रस्ताव **बच्चे और उसके समाज** के बीच द्वैत स्वीकार नहीं करता। इसलिये यह उन तमाम चीजों को दूर रखने की बात, जो बाल–केन्द्रित शिक्षा की आधुनिक मनोविज्ञान सम्मत अवधारणा में निहित है। खासतौर से जिस मुद्दे को लेकर सबसे ज्यादा झंझट बुनियादी शिक्षा का नाम सुनते ही शुरू हो जाता है वो झंझट है जिम्मेदारी। और खास तौर से किसी चीज को इस तरह से बनाना जिसका समाज में कोई मूल्य हो, कोई मूल्य समाज के अर्थतन्त्र में आँका जा सके, इस तरह से बनाकर संतुष्ट महसूस करना। इस बात की जिम्मेदारी को बुनियादी शिक्षा के प्रस्ताव से अलग करना संभव नहीं है। बाल मजदूरी को लेकर आज जो बहस देश में चल रही है, उस बहस के संदर्भ में बुनियादी शिक्षा का प्रस्ताव एक ऐसा आयाम एकाएक हमारे सामने उपस्थित करता है जिसको देखकर यकायक आप चल रही बहस से बुनियादी शिक्षा के प्रस्ताव की संगति एकदम से नहीं बिठा सकते, आज जब हम बाल–मजदूरी की बहस कर रहे हैं और मान रहे हैं कि प्राथमिक शिक्षा का सार्वजीनीकरण हो ताकि बाल–मजदूरी समाप्त हो। बाल–मजदूरी को किस तरह से परिभाषित किया जाये ये एक अलग मुद्दा है। लेकिन फिर एक राष्ट्रीय एका इस बात को लेकर बना है या बन–सा गया है कि बच्चों को हर तरह के काम से मुक्त करने वाली शिक्षा देना, ये प्राथमिक शिक्षा के सार्वजनीकरण का अर्थ हैं, बल्कि काम से बच्चों को मुक्त करना ही शिक्षा का उद्देश्य है। ऐसी स्थिति में बुनियादी शिक्षा के प्रस्ताव में बहुत सी समस्याएं उत्पन्न होती हैं और उन समस्याओं की ओर इशारा ही मैं यहाँ कर रहा हूँ। जब हम इस पर बहस करना शुरू करेंगे तो ये तमाम सवाल हमारे सामने उपस्थित होंगे। बहुत खतरनाक कामों की चर्चा मैं यहाँ नहीं कर रहा हूँ उन कामों की चर्चा कर रहा हूँ जो सामान्य जीवन में निहित होते हैं, जो हमारे परिवेश में इतने ज्यादा किये जाते हैं कि जब हम बच्चे होते हैं, तब हमारी इच्छा होती है कि हम उन कामों को खुद करके देखें। किसी भी परिवार में, किसी समुदाय में, मोहल्ले में, तमाम तरह के किये जाने वाले काम बच्चे स्वंय करना चाहते हैं । अपने हाथ से करके देखना चाहते हैं

अगर उनके आसपास कोई साइकिल ठीक करने की दुकान है तो वह साईकिल ठीक करना चाहता है। अगर उसके आसपास साड़ी बनाने का कारखाना है तो वह स्वयं कोई छोटा मोटा काम ही करना चाहते हैं। कोई चीज यहाँ से उठाकर वहाँ रखना, इस तरह की एक सहज, स्वतःस्फूर्त इच्छा और जिज्ञासा बचपन में होती है। उसका निषेध प्राथमिक शिक्षा की मौजूदा स्वीकृत नीतियों में अवधारणा के स्तर पर अवश्य निहित है, भले ही हम इस नीति को अभी पूरी तरह से इस्तेमाल न करे सके हों। इस प्रस्ताव में यह निश्चित रूप से निहित है कि बच्चों को कोई काम न दिया जाये, ऐसा काम उनसे न कराया जायें जिसमें कोई जिम्मेदारी हो। इसलिये उन तमाम हस्त–कौशलों का, खेती से जुड़े हुए तमाम कामों का बच्चों से द्वैत (दोहरापन) है। सही बचपन तो वह हो गया जिसमें यह सब नहीं करना पड़े। चाहे वह बकरी की, गाय–भैंस की देखभाल हो, चाहे वो इधर से उधर सामान ले जाना हो। चाहे वह छोटे बच्चों की देखभाल हो, या वो घर में किया जाने वाला काम खुद करके सीखने का मामला हो। चाहे वो रोटी पकाने का हो, चाहे कोई चीज रंगने का हो, कोई चीज बुनने का हो, इन चीजों से बच्चों को दूर रखना है। तब उसकी शिक्षा ठीक तरह से होगी।

दरअसल बुनियादी शिक्षा के विचार में सामाजीकरण की अवधारणा का ही निषेध अन्तर्निहित है, समाजीकरण की अवधारणा यह माँग करती है कि हम यह मानें कि व्यक्ति समाज में धीरे–धीरे दीक्षित किया जाता है। समाज की मान्यतायें उसकी स्वतंत्रता को घेरेंगी और इसलिये उससे इस बात की अनुमति धीरे–धीरे प्राप्त किया जाना है कि वह अपनी स्वतंन्त्रता को इन–इन मुद्दों पर गिरवी रखेगा। समाज का जो तन्त्र इस अवधारणा में निहित है, वह तन्त्र यह माँग करता है कि हर व्यक्ति को एक इकाई के रूप में देखा जाये ओर उसकी अनुमति इस तन्त्र को, जैसा यह है, चलाने के लिए धीरे–धीरे प्राप्त की जाये। इस धीरे–धीरे प्राप्त करने का नाम ही श्रम है। आप बचपन से ही जैसा आप चाहते हैं, हम चाहते हैं कि बच्चे प्रमाणपत्र का महत्व समझ जायें तो हम देखते हैं कि कक्षा एक से ही प्रमाण पत्र लेना शुरू करते हैं हम चाहते हैं कि बच्चे घंटी का महत्व समझ जायें, जब घंटी बजती है तो एक काम छोड़कर दूसरा काम करना चाहिये। घंटी का मतलब यह होता है कि कोई कह रहा है, हमसे ज्यादा कोई शक्तिवान कह रहा है, कि तुम वह काम मत करो, भले ही उसमें तुम्हारी कितनी ही रूचि जागृत हो रही हो। अब वो करो जिसकी यह घण्टी है। तो घण्टी बजना शुरू होती है और बजते–बजते वो हमें वहाँ छोड़ती है, जहाँ पर हम घण्टी को एक घण्टी–केन्द्रित समाज में दीक्षित होने का प्रतीक मान चुके हैं। असली घण्टी वह है जो हमें कोई भी छूट नहीं देती है। 300 वर्षों में उद्योग तन्त्र की घण्टी मनुष्य को बांधने का एक महत्वपूर्ण यंत्र रही है और आधुनिक स्कूल उस घण्टी का महत्व समझाने के लिए 3–4 साल की उम्र से ही बजाना शुरू कर देते हैं, जिससे की 18–20 साल तक पहुँचते–पहुँचते घण्टी का अभ्यास हो जाता है।

ऐसे ही सफलता और विफलता जैसे मुद्दे हैं जिनको लेकर स्कूल हमें समाजीकृत करता है कि हम अपने को इस समाज में एक स्तर बनाकर मान लें। वैसे सबके लिए अवसर समान है लेकिन हम अन्य स्तरों पर जाने में विफल हैं। इसलिये विफलता की सूचना देना और इस तरह देना कि बच्चे को अपनी विफलता का बोध हो जाये, आधुनिक शिक्षा का एक बड़ा महत्वपूर्ण विवाद है। सबको कहीं ना कहीं महसूस हो कि हम यहाँ आकर विफल हो गये, यह विफलता बाँटने की प्रक्रिया होती है जिसको बचपन में हमें सीख लेना होता है। वरना आधुनिक समाज चल नहीं सकता, जैसा कि समाजशास्त्री कहते हैं अगर सबकी महत्वाकांक्षा पूरी तरह से उद्दाम रूप लेने के लिए स्वतंत्र हो जाये तो समाज में अराजकता हो जायेगी। इसलिये महत्वाकांक्षा को ठंडी हवा से थोड़ी ठंडा कर देने का काम स्कूल करता है। वो जिस पैमाने पर करता है इसका अंदाज आपको होगा। मैं एक छोटा सा अंदाज आपकों दे दूँ। यह जो स्कूल (पढ़ाई) छोड़ देने वाला आँकड़ा है, वह तो आपको अच्छी तरह से पता ही होगा कि हमारे देश में कितने बच्चे स्कूल बचपन में छोड़ देते हैं, प्राथमिक स्तर पर व माध्यामिक स्तर पर, मैं एक और ही छोटा आँकड़ा आपको देना चाहता हूँ जिससे पता लगता है कि महत्वाकांक्षा को काबू में रखने का कितना बड़ा उद्यम, एक सामाजिक उद्यम, हमारी शिक्षा व्यवस्था कर रही है। कक्षा 10 व 12 में किस पैमाने पर बच्चों की छंटाई होती है उसका एक हल्का–सा अंदाजा लग सकता है। अगर देशभर में कक्षा 10 में बैठने वाले कुल बच्चों की संख्या जोड़ लें। 1990 में यह संख्या लगभग 88 लाख थी। इस संख्या में से 41 लाख बच्चे उस वर्ष की परीक्षा में पास हुये, यानि 88 में से 41 लाख थे, शेष को घोषित किया गया कि वो दसवीं के बाद नहीं जा सकते। फिर जो बच्चे 41 लाख थे, उनमें से 2 साल बाद 37 लाख 12वीं की परीक्षा में बैठे। उनमें से 17.7 लाख उत्तीर्ण हुए। अब आप देखिये कि कितना कमाल का जादू है इस शिक्षा में, दो साल में 88 लाख में से 17 लाख को छोड़ती है कि तुम आगे जाओ और बाकी को अहसास दिला देती है कि उनके साथ किसी ने अन्याय नहीं किया। उन्होंने खुद अपने साथ अन्याय किया है कि वो फेल हो गये हैं और आगे जाने लायक नहीं है। यानि 88 लाख की जगह अब केवल 17 लाख को हमें आगे की शिक्षा देनी होती है। बाकी सबकों विफलता का बोध इस अहसास के साथ हो जाता है कि हम इसी के लायक थे। ये सफलता और विफलता में समायोजित होने का सिलसिला है। बुनियादी शिक्षा का विचार इस पर काफी चोट करता है। वहाँ जो मामला है वह कुशलता का है, सफलता या असफलता का नहीं, कुशलता का है। आप किसी चीज को बना कर देख सकते हैं कि मैंने ये चीज बनाई, उसमें अच्छाइयाँ और बुराईयाँ हैं। ये तो हर तरफ होती है, उनका मूल्यांकन भी किया जाता है। ये मैंने बनाई और जैसी भी बनाई, मेरे हाथों से बनी हुई हैं, चाहे ये एक कशीदा हो जो मैंने तकिये के गिलाफ पर काढ़ा है। या यह एक छोटा सा रूमाल है जिस पर मैंने तुरपन की है या ये रोटी है जो मैंने बनाई है, कच्ची है पक्की है, जो भी हो, पर मेरी यह एक प्रति छवि है। इस बात का संतोष इस विचार में ही निहित है और इसलिए सफलता और विफलता को ही स्पष्टता से बाँटने की प्रक्रिया इस शिक्षा में दिखाई ही नहीं जा सकती।

ये बात बच्चे के संदर्भ में कहकर अब मैं अध्यापक की बात करूँगा। एक अध्यापक को बुनियादी शिक्षा के विचार में देखें तो क्या दिखाई देगा? बुनियादी शिक्षा के बारे में जो प्रमुख विचार निहित हैं उसमें इस बात का अहसास कर सकते हैं कि जिस तरह की कुशलता की हम बच्चे से अपेक्षा कर रहे हैं, जिस तरह की जिम्मेदारी में मानकर चल रहे हैं कि वह पहले से ही निबद्ध है और जो उसके लिये उचित है, संभव है, कुछ गलत नहीं है जिम्मेदारी देना। वह कोई चीज अपने हाथ से बनाये। जो उसके परिवेश के कौशल से जुड़े। किसी कौशल को सीखे, उसमें दक्षता हासिल करे ओर इस दक्षता की जो साधन–सम्पन्नता महसूस होता है कि मैं यह कर सकता हूँ, मैने यह काम खुद किया। इन तमाम गुणों को अध्यापक के संदर्भ में भी रख कर देखना होगा। तभी हम ऐसे अध्यापक की संकल्पना कर सकते हैं जो बुनियादी शिक्षा के विचार का इस्तमाल करने वाले स्कूल में पढ़ा सकें। उसकों अपनी साधन–सम्पन्नता का बोध हो कि मैं कर सकता हूँ और मैं (जोर देकर) कर सकता हूँ.। इन दोनों में ही स्वावलंबन विचार के रूप में, केन्द्रीय मूल्य के रूप में, बहूत गहराई से विद्यमान है कि मैं कर सकता हूँ। मुझे किसी की दरकार नहीं है कि यह काम तो मैं कर सकता हूँ, यानि कि मैं इसमें इतनी महारत हासिल कर चुका हूँ कि मुझे इसे करने में और गलती दिखाने में कोई संकोच नहीं है। वो काम क्या है, उसकी बात हो सकती है कि काम कौन कर सकता है यद्यपि बुनियादी शिक्षा के मूल प्रस्ताव में काम को मुख्यतः हस्त कौशल के रूप में ही परिभाषित किया गया है फिर भी कोई कारण नहीं बनता कि हम काम को एक ज्यादा बड़े संदर्भ में परिभाषित करें। क्योंकि आखिर बुनियादी शिक्षा का विचार मूलतः जीवन के काम से संबंधित है। काम, काम जो जीवन जीने में मदद करते हैं। वे तमाम काम किये बिना, नियमित रूप से दक्षतापूर्वक किये बिना, जिन्दगी को जीया नहीं जा सकता था। जिम्मेदारी को कोई वक्त दिया जा सकता है, ऐसे कामों में शुरू से ही बच्चों को शामिल रखने का विचार बुनियादी शिक्षा में होता है। इसलिये उन कामों की परिभाषा हम खुली तबियत से कर सकते हैं। अगर स्कूल में सफाई की जाये, शौचालय बनाये रखना है, एक पानी की टंकी है या स्कूल में पानी नहीं है तो पानी का इंतजाम करना, ये तमाम काम छोटे काम है, परन्तु जिनको लेकर आज की शिक्षा व्यवस्था इस तरह हाथ पर हाथ रखे बैठ चुकी है। आपको मालूम होगा, आजाद भारतीय स्कूल, किस तरह स्कूल चलाने के बुनियादी काम को करता है।

एन.सी.ई.आर.टी का छठा सर्वेक्षण अभी हाल ही में आया है। एन.सी.ई.आर.टी के चौथे–पांचवे–छठे, पिछले तीन सर्वेक्षणों के जरिये आप पिछले 10 वर्षों की प्रगति का लेखा–जोखा कर सकते हैं। पानी की उपलब्धता, पेशाब घर की उपलब्धता, ब्लैक बोर्ड की उपलब्धता, इन तीन सर्वेक्षणों में प्रगति का जो ग्राफ बना है, उसे देख कर शायद ही ऐसा कोई व्यक्ति होगा जो स्वयं एन.सी.ई.आर.टी में काम न करता हो और वह गर्व महसूस करे कि हमने ये काम करके दिखाये। इन सब चीजों को लेकर एक तरह की लाचारी है। प्राथमिक स्कूलों में घुसते ही आप महसूस करेंगे। आज तक हम कह रहे हैं कि हमारी स्कूलों में, आधे से ज्यादा स्कूलों में, ऐसी जगह नहीं है जहाँ सम्मान पूर्वक बच्चे किसी पेशाब घर का इस्तेमाल कर सके

इसको लेकर एक विरोधी–सी बहस चली है कि क्या प्राथमिक स्कूलों में जरूरत भी है शौचालय की! शौच जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग है या नहीं, अथवा ये मान कर चलें कि बच्चे तो अबोध होते हैं! बच्चों को इस सुविधा की जरूरत नहीं है।

संविधान में 395 करके एक अनुच्छेद है जिसमें कहा गया है कि राज्य का नीति निर्देशक सिद्धांत यह होगा कि बचपन से ही बच्चों को आजादी और इज्जत के साथ रखने का इन्तजाम हो जाये। अक्सर मेरे मन में यह सवाल उठता है स्कूलों में घूमकर, स्कूलों में बैठकर, यह सोचकर कि यहाँ मेरे लिए भी शौचालय की कोई व्यवस्था नहीं है तो यहां बच्चों के लिए किस तरह की व्यवस्था होगी? और उस व्यवस्था का उपयोग करते हुए वे कैसा महसूस करेंगे ? इस को लेकर एक पूरी बहस की जा सकती है कि अगर गाँवों में ही शौचालय की संस्कृति नहीं है तो स्कूल में क्यों हो? वगैरह। इस को लेकर हम सब अपने–अपने दृष्टिकोण से सोच सकते हैं। मैंने यह उदाहरण सिर्फ इसलिए लिया क्योंकि यह एक ऐसा विशेष मुद्दा है जिसकों लेकर के आधुनिक भारत अपनी तमाम उपलब्धियों के बावजूद काफी डगमगाया है। आधुनिक भारत क्या है? आधुनिक भारत वह है जो स्वतंत्र रूप से उपग्रह अन्तरिक्ष में छोड़ सकता है लेकिन आधुनिक भारत वो नहीं है जो कि अलवर के बस स्टेण्ड के पेशाब घर को साफ कर सके। आधुनिक भारत में पेशाब और टट्टी उतनी ही बड़ी समस्यायें हैं जितनी की आज से 50 वर्ष पूर्व। एक कालेकर समिति बनी थी, विशेष रूप से शौच की समस्या पर विचार करने के लिये। जैसी रिपोर्ट उसने दी थी, उससे भिन्न रिपोर्ट आज तक किसी समिति ने नहीं दी। दिल्ली जैसे महानगर में भी कहते हैं कि शौच की व्यवस्था केवल 12 प्रतिशत लोगों के लिए उपलब्ध है और हमारी देश की शेषतम आबादी किस तरह से जीवन जीने के इन दो बुनियादी कामों को किन परिस्थितियों में करती है? इन परिस्थितियों में हमारे जन–जीवन पर, स्वास्थ्य पर, समूची संस्कृति पर क्या असर पड़ता है? इसके ऊपर विचार करना शुरू करें तो आप हैरान नहीं होंगे कि बुनियादी शिक्षा के प्रस्ताव पर अमल करने वाली एक बहुत बड़ी शिक्षिका माधुरी सहाय ने शौचालयों को बनाने, उनको साफ रखने को इतना महत्व दिया था कि उसको भी उन्होंने एक कौशल का नाम दे दिया। स्वयं गांधी के जीवन में शौच का कितना ज्यादा महत्व है, ये सब आपको अंदाज होगा। उनकी राजनीति के केन्द्र में यह बिन्दु था कि शौच से संबंधित जातियों को मानव समाज किस तरह संवारेगा ? क्या यह व्यवस्था बनी रहेगी कि शौच का काम, उससे जुड़ी हुई विभिन्न प्रकार की बाध्यतायें, पूर्व जातीय व्यवस्था के तहत रखी जायें? या कभी इस प्रकार के काम को इस प्रकार लेंगे कि ये मनुष्य होने के बाद सहज काम हो जाये? इस काम में स्वावलम्बी होना उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि एक डिग्री हासिल करके अपने पैरों पर खड़ा होने लायक आमदनी कमा सकना। अध्यापक का जहाँ सवाल आता है, वहाँ पर स्कूल को चलाने के लिए ये तमाम किस्म के उपक्रम आवश्यक होते हैं। उन सभी उपक्रमों में पहल के, स्वावलम्बन के, अपनी साधन–सम्पन्नता के प्रतीक बुनियादी शिक्षा के विचार में निश्चित रूप से निहित है।

स्कूल में होने वाली सैंकड़ों हजारों घटनाओं को किस प्रकार आज का अध्यापक अपने हाथ में लेता है, उनमें से किन घटनाओं पर एकदम लाचार हो जाता है, इस पर आप सोचना शुरू करें तो आप पायेंगे ऐसी बहुत कम स्थितियाँ है जिनमें हमारा अध्यापक बेचैन महसूस करता है। बल्कि हरेक दूसरी–तीसरी स्थिति उसको या तो लाचार बना देती है या उलझनें पैदा करती है। दिल्ली में हुई एक भारी दुर्घटना में सुना होगा जिसमें कई बच्चे यमुना नदी में डूब गये थे। उक्त घटना का महत्व उतना नहीं है जितना कि इस बात का है कि जब वो बच्चे यहाँ डूब रहे थे, उस समय उनके स्कूल में क्या हुआ? अव्वल तो उनके स्कूल में इस बात का कोई अहसास ही नहीं था कि 120 बच्चे आज नहीं पहुँचेंगे और किसी ने यह महसूस नहीं किया था कि कुछ हुआ है, लेकिन जब डेढ़ घण्टे बाद यह महसूस किया गया और खबर पहुँची तो, चश्मदीद रिपोर्ट है जो कहती है कि हर एक अध्यापक चाहता था कि कक्षायें सामान्य रूप से चलती रहें। केवल बड़ी कक्षाओं के बच्चे चाहते थे और उन्होंने जोर डाला कि नहीं स्कूल बन्द किया जाये और हम वहाँ जाना चाहते हैं जहाँ ये दुर्घटना हुई है। लेकिन लगातार तीसरी घंटी तक अध्यापक एवं प्रिंसिपल यह चाहते रहे कि कक्षायें नियमित चलती रहें। वो तो कहते हैं कि एक लड़के ने आँगन में जाकर घण्टी बजा दी और कई बड़े बच्चे नारे लगाते हुए आँगन में निकल आये और उन्होंने स्कूल बन्द करा दिया और इसके बाद वे आस–पड़ौस के स्कूलों में गये और वहाँ के स्कूलों को भी उन्होंने बन्द कराया। इधर अनेक रिपोर्ट कहती हैं कि अध्यापक स्कूल के कोने में छोटे–छोटे समूह बनाकर बैठे थे। एक अजीब सी घबराहट हुई, जिसका कई स्तरों पर अध्ययन करने की जरूरत है। हमने अध्यापक को किस तरह बनाया? अध्यापक को क्या बनाया?

जब माता–पिता, पत्रकार, तमाम किस्म के प्राणी, नेता, अफसर स्कूल में आने शुरू हुए, पूछने के लिए कि क्या हुआ–क्या नहीं हुआ, तो सारे अध्यापकों के मुंह से निकला ''हमें नहीं पता''। यहाँ तक कि उन बच्चों की सूची तैयार करने के लिए भी कोई अध्यापक तैयार नहीं था जो उस दिन उस बस में सवार थे। जो स्कूल नहीं पहुँचे थे। पहल के अभाव का, साधन सम्पन्नता की विपन्नता का, इससे बड़ा प्रमाण देना, मैं समझता हूँ कि आज के युग में जरूरी नहीं होना चाहिये। यह घटना दिखाती है कि कितनी छोटी–छोटी चीजों को लेकर..... । जिन्दगी और मौत से सामान्य चीज क्या हो सकती है; इसको लेकर भी हम कह सकते हैं, हम इस परिस्थिति का भी सामना कर सकते हैं, अध्यापक को यह अहसास आप का प्रशिक्षण नहीं देता कि कोई बच्चा बीमार हो जाये, किसी बच्चे को चोट लग जाये, इन छोटी–छोटी घटनाओं में भी अध्यापक की पहली प्रतिक्रिया यह होती है कि उसे घर भेज दिया जाये। हम कुछ नहीं कर सकते या हमे करना नहीं चाहिये। और जो छोटी–छोटी तमाम स्थितियाँ आती हैं, उनकी चर्चा करना मुनासिब नहीं लगता है। आज का अध्यापक जिन–जिन कामों के लिए प्रशिक्षित है, रोजमर्रा के काम कि हमें किस तरह पढ़ाना है? हमें गणित कैसे पढ़ानी है और भाषा कैसे पढ़ानी है? सामाजिक अध्ययन कैसे

पढ़ाना है, विज्ञान कैसे पढ़ाना है? इन सब के पढ़ाने के चलते बच्चों की जो जिन्दगी है उस जिन्दगी में मूल्य भी है, कभी चोट भी है, कभी प्यास भी है, कभी गिरना भी है, कभी बीमारी भी है, कभी काम, कभी दूसरे की मदद है, कभी घर पर आई जिम्मेदारी है; इन तमाम विवशताओं को अध्यापक उतना ही दूर रखने का प्रयास करता है जितना की कोई अधिकारी रखता है। इन सब से हमें मतलब नहीं है कि तुम आये हो कि नहीं आये हो।

स्कूलों में एक बहुत बड़ा प्रयोग चलता रहा है भोजन देने का। लेकिन उसको भी हमने इस तरह चलाया है कि यह एक विशेष जिम्मेदारी है, जिसके लिए विशेष स्टाफ, प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्ति उस काम को अपने ढंग से कर सके। स्कूल के काम का, बच्चों के प्रति जिम्मेदारियों का और स्कूल को, एक सामान्य जिन्दगी को ही संस्था बनाने का जिम्मा आधुनिक प्रशिक्षण नहीं दे पाता। बुनियादी शिक्षा के विचार में यह एक बहुत बड़ी चिन्ता का विषय हमारे लिय बनेगा कि हम ऐसे अध्यापक को कैसे रचें कि जो अपने को साधन सम्पन्न महसूस करे, जो इन कक्षाओं में विभिन्न विषयों में इस्तेमाल होने वाली विषय सामग्री को भी रख सके। जो उसको फलानी कम्पनी या फलां जगह से खरीदने के लिए अपने को बाध्य न पाये। जो सरकारी अनुदानों पर, सरकारी बाध्याताओं पर, पूरी तरह से निर्भर ना हो। जो इन तमाम किस्म की, जो आज की आधुनिक शिक्षा, विज्ञान के जरिये शिक्षण–प्रणालियों के जरिये, जो आज जरूरतें हमने पहचानी हैं, एक भरी पूरी कक्षा की, उन जरूरतों को अपने आप पूरा कर सके। और न केवल पूरा कर सके बल्कि सुरूचि–सम्पन्नता से पूरा कर सके।

शायद पुराना बुनियादी शिक्षा का जो माहौल था, उसने साधन–सम्पन्नता पर तो बल दिया लेकिन सुरूचि–सम्पन्नता को शायद उसने नहीं समझा। ऐसा कई जगह देखने पर मिला। सौंदर्य बोध का अहसास, चीजों को इस तरह करना, उनमें एक सादा सौंदर्य हो। वह आखिर एक तरह के खराब कौशल की परम्पराओं का एक बड़ा गहरा बिन्दु है। कुशलता का अर्थ ही यह है कि हस्त– कौशल के संदर्भ में, पुस्तकों के संदर्भ में, कि एक कुशल दस्तकार अपनी कुशलता से एक सुंदर चीज को जन्म देता है। इस सुन्दरता के बोध को अगर फैलाकर समझेंगे तो हमें लगेगा कि स्कूल को अपने ढंग से रखने में एक सुरूचि–सम्पन्नता का अहसास उस अध्यापक को देना होगा। जिसे बुनियादी शिक्षा के विचार में दीक्षित करके स्कूल चलाने का जिम्मा सौंपा है।

अब आते हैं उन दो बचे हुए बिन्दुओं पर जो सबसे ज्यादा संश्लिष्ट हैं और आज की दुनिया में गांधी के दर्शन पर आधारित किसी भी विचार को रूपाने (रोपने) में सबसे ज्यादा बौद्धिक श्रम की मांग करते हैं और वो बिन्दु है : परिवेश और विषय वस्तु। हम परिवेश को किस तरह नियोजित करें और शिक्षा की विषय वस्तु क्या हो? ये दोनों ही सवाल पहले वाले दोनों सवालों की तुलना में ज्यादा जटिल हैं। अव्वल तो इसलिए कि बुनियादी शिक्षा का प्रस्ताव जिस भी रूप में हमारे सामने 40 के दशक में आया और 50 व 60 के दशक में अपनाया गया, इस इतिहास को पढ़कर आप इस तारीख में परिवेश को और विषयवस्तु को

समझने के लिए पर्याप्त जानकारी नहीं प्राप्त कर सकते। आज की दुनिया में इन तमाम चीजों को किस तरह परिभाषित करें? मैं तों सबसे ज्यादा चिन्तित विषय वस्तु के बहुत से मामूली मुद्दों को लेकर हो जाता हूँ। हमने जो यहाँ चर्चा छेड़ी है कहीं ज्यादा गहरी है। मैं स्वास्थ्य को लेकर इस विषय वस्तु में बहुत ज्यादा परेशान रहता हूँ, जब मैं देखता हूँ कक्षाओं में अधिकांश लोग खाँस रहे हैं और हम सब खाँसते हुए शिक्षक बच्चों को कैसे स्वस्थ रखेंगे यह राष्ट्रीय स्तर का बिन्दु है। आप इस समय दिल्ली का अखबार पढ़े तो पायेंगे कि कई स्तरों पर फेफड़ों के जुड़े हुए और छोटे–बड़े रोग ही दिल्ली नगर में स्वास्थ्य की चिन्ताओं के केन्द्र हैं। भला हो प्लेग का, जब वह आता है तो बड़ी चर्चा का विषय बनता है। वरना देखिये स्वास्थ्य की चर्चा का विषय ही खांसी है। ये खाँसी–जुकाम जैसे हमारे सामान्य जीवन के अंग से बन गये हैं और इस हद तक बन गये हैं कि इन्हें अस्वास्थ्यजनक नहीं मानते। अगर ऐसी स्थिति में शिक्षा की विषय वस्तु में स्वास्थ्य जैसे विषय को रखना है तो उसके लिए शिक्षक कैसा होगा? वह किस प्रकार से अपने स्वास्थ्य को सुरक्षित रखेगा कि वो एक आधे घण्टे बिना खांसे बैठ सके। तो यह बात मुझे बहुत ठीक–ठीक और बहुत ही जटिल लगती है क्योंकि ये संभव नहीं लगता। तो इस खांसती हुई दुनिया में ही हमें बुनियादी शिक्षा का पौधा रोपना होगा। और उम्मीद करना होगा कि इस पौधे में से भी फल निकलेगा जिसको खा कर के हम सभी की खाँसी दूर होगी। तब इस पौधे को यहाँ रोपेंगे अथवा आप कोई पौधा बताइए।

विषयवस्तु की मीमांसा परिवेश के संदर्भ में करनी होगी, विषय–वस्तु आज जिस तरह हमारे सामने है, पाठ्यक्रम की कल्पना बहुत ही मुश्किल हो गयी है। अगर आप पिछले 30–35 वर्षों में अपने शिक्षकीय जीवन का ही जायजा लेना शुरू करें, तो आप पायेंगे कि विषय–वस्तु को एक मूल रूप में मान लेने का माहौल रह चुका है।

विषय वस्तु तो वह चीज है, जो दी गयी है और शिक्षक को उसे अपनी कुशलता से प्रदर्शित करना है। शिक्षक होने का अर्थ है, उन कौशलों का प्रयोग करना जिनकी मदद से दी गयी विषयवस्तु को बच्चों को ग्राहय बनाया जा सके। उस विषयवस्तु को जन्म देना शिक्षक का कार्य नहीं है। यद्यपि इस सवाल पर बहुत विचार किया गया है। यदि आप कोठारी–आयोग से लगातार यशपाल समिति तक जो समितियाँ बनी है उन सभी का निचोड़ इकट्ठा करना चाहें तो निचोड़ में कहीं कहीं ऐसे तत्व निकल आयेंगे कि शिक्षक का भी ऐसा जिम्मा है। कुछ लोगों ने पहचाना है कि विषय वस्तु को अपने ढंग से रचे लेकिन कुल मिलाकर जो बात बनी है वो बात यहीं जा कर ठहरी है कि विषय वस्तु को इतना तोड़–मोड़ कर प्रस्तुत करो कि साधारण से साधारण शिक्षक भी यह समझ जाये कि मैं यह बता रहा हूँ वो बताना सारे देश में एक जैसा हो। एक जैसी बात हो रही है देश में, अधिकांश प्रान्तों में, पाठ्यपुस्तकें एक सी मान ली और पाठ्यपुस्तकों से ज्यादा भी इन स्तरों की बात सुनी होगी। आप शायद इन स्तरों के निर्माता हैं। पूरे का पूरा सवाल है विषय वस्तु का, शिक्षा की विषयवस्तु क्या हो सकती है? अगर उसे परिवेश से लें तो उसकी क्या

परिभाषा की जाये? जो परिवेश की सीमाओं के रहते हुये भी सम्भावनाओं के दरवाजे खुले रखती हो। ये बड़े सुन्दर सवाल के रूप में हमारे सामने हैं। इस सवाल पर विचार करें तो एकदम आरंभिक सवाल पर लौटने का आपका मन होगा, जो इस विचार में ही अर्थात प्रस्ताव में शीर्षक में ही निहित है। शुरू से आज हमने चर्चा की, बुनियादी शिक्षा की–किस चीज की बुनियाद ?

किस चीज की बुनियाद हो सकती है शिक्षा? इस आरंभिक सवाल को मद्दे नजर रखकर हमें विषयवस्तु की ओर चलना होगा। अगर बुनियादी शिक्षा बुनियादी है तो किस चीज की बुनियाद? एक विकल्प हमारे सामने दिखायी देगा, अगर आप आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से देखेंगे, जिसको बहुत ही संक्षेप में और शायद बहुत अन्याय के साथ मैंने चित्रित किया था। तो उत्तर निकलेगा कि बुनियाद तो बच्चे के व्यक्तित्व की ही बुनियाद होनी चाहिये। बुनियादी शिक्षा यानी ऐसी शिक्षा जो बच्चे के व्यक्तित्व की बुनियाद रखे। ये मनोविज्ञान सम्मत विवेचना होगी। और इसमें वे तमाम आग्रह, पूर्वाग्रह निहित होंगे, जो मनोविज्ञान में बच्चे की अवधारणा में ही निहित है। बचपन वह समय है जब व्यक्तित्व बनता है और उसके बाद उसको समाज में प्रवेश करना होता है। तो उसकी तैयारी पहले पूरी हो चुकी होनी चाहिये। **बचपन और जीवन** में एक टकराव है, द्वैत है। **बचपन और समाज** में एक टकराव है। **इकाई और समाज** में एक टकराव है। इन सबको मद्देनजर रखकर ऐसी बुनियाद बनाना है जो समाज में जीने के काम आये। यह बचपन की मनोविज्ञान–सम्मत विवेचना है।

क्या एक ऐसे प्रस्ताव में, ऐसे विचार में, जिसमें इन चीजों का पहले से निषेध नहीं हो और बचपन के प्रति एक निरंतरता का अहसास हो, मान्यता के स्तर पर हो, एक ऐसे विचार के संदर्भ में यह कहना उचित होगा कि इसमें बुनियाद व्यक्तित्व की ही बनानी है? और उचित भी होगा तो क्या यह पर्याप्त होगा या इस विचार के बारे में हमें और भी सोचना चाहिए? अगर मामला केवल बच्चे के व्यक्तित्व की बुनियाद बनाने का है तो फिर विषयवस्तु की समीक्षा करने में परिवेश, कौशल, परंपराएं उस ढंग से स्थानीय नहीं हो सकते या उस ढ़ंग से उनका स्थानीय रहना जरूरी नहीं रह जाता, जिस ढ़ंग से वे किसी और विवेचना के अंतर्गत होते हैं। यदि बच्चे के व्यक्तित्व को बनाना है तो प्रश्न यह उठेगा कि बच्चे को कैसे संसार के लिए बनाना है? स्थानीय संसार के लिए या बड़े संसार के लिए, किस तरह की योग्यताएँ, किस तरह की क्षमताएँ देनी हैं? और ये देने वाले कौन होंगे? एक बड़ा सवाल यहाँ बड़े और बच्चे के संदर्भ में खड़ा होता है कि जो विशेषताएँ हम में नहीं हैं, वे हमारे बच्चे कहाँ से पायेंगे? हमारे परिवेश में वे कहाँ से आयेंगी? किनको देखकर हमारे बच्चें वे विशेषताएँ पायेंगे। हम ऐसी विशेषताओं की संकल्पना कर रहे हैं जो हमारे परिवेश में, हमारे समुदाय में अनुपस्थित हैं? आधुनिक शिक्षा की एक बड़ी भारी समस्या रही है, विचार के स्तर पर, कि हम ऐसी विशेषताओं को जन्म देना चाहते हैं जो पहले से समाज में नहीं है, जिनकी केवल कल्पना हमारे मन में है। जबकि बुनियादी शिक्षा का प्रस्ताव ऐसी विशेषताओं की बात कर रहा है जो पहले से हमारे समाज में हैं। इन्हें कहीं से लाया नहीं जाना है, ये पहले से हैं, इन्हें केवल पहचानना, निखारना और

सँवारना है। समाजशास्त्र में जिसे आधुनिकीकरण की अवधारणा कहा जाता है– माडर्नाइजेशन। उसकी एक धारा या एक साधन शिक्षा मानी जाती है, उस पर विचार करेंगे तो सहज ही यह निष्कर्ष निकलेगा कि आधुनिकीकरण की प्रक्रिया कुछ ऐसी विशेषताओं के जन्म देने में निहित है जो फिलहाल समाज में नहीं है, लेकिन जिनको हम इरादे के साथ या कि इन विशेषताओं में निष्ठा होने के कारण पैदा करने का प्रयास कर रहे हैं, ऐसे व्यवहारों को जन्म दे रहे हैं जो अभी नही है लेकिन जिन्हें हमने कहीं से सीखा है, पाया है और जिन्हें अब हम अपने समाज मे ला रहे हैं। इसके चलते जो समस्याएँ आती हैं उनसे समाज कल्याण और शिक्षा विस्तार के कार्यक्रम अपने–अपने स्तर पर जूझते हैं।

बच्चों की शिक्षा को लेकर भी ऐसे कार्यक्रम बनायें जाते हैं जिनमें ये मान्यता छिपी होती है कि इस तरह से बताना, पढ़ना है कि हमें लगे कोई नयी चीज दी जा रही है। जिन चीजों के उदाहरण हम अपने समाज में नहीं पा सकते। यह जो द्वैत, अन्तर्विरोध हैं, इसको मानकर ही आधुनिक शिक्षा की बुनियाद आगे बढ़ती है। बहुत से लोग तो सामाजिक परिवेश से इतना परेशान हो जाते हैं कि अपने बच्चों को दूर भेज देते हैं कि इस परिवेश में तो वे बिगड़ जायेंगे। खासतौर से भारतीय अभिजन। ये आ ही रहा है कि भाई ऐसे स्कूल खोल दो जो बिल्कुल साफ सुथरे इलाकों में चलें, बोर्डिंग स्कूल की कल्पना है। ंभारत सरकार ने जो नवोदय स्कूल खोले हैं, उनमें भी ये परिकल्पना है कि बच्चे को उनके परिवेश से निकाल कर ही उनकी अच्छी शिक्षा संभव हैं स्कूल का परिवेश ऐसा बनाओं कि वह एक आदर्श समाज जैसा लगे। बाकी समाज जैसा है, वैसा रहे। ये बहुत ज्यादा ऐसा भी नहीं है कि ये केवल आधुनिक शिक्षा का दुर्गुण है और यह समस्या पारंपरिक अवधारणा में भी एक स्तर पर मौजूद है। शिक्षा के साथ जो रूपक जुड़ा हूआ है, जो बहुत से स्कूलों में अंकसूची या प्रमाण पत्रों पर छपा रहता है, कहा जाता है कि शिक्षित मनुष्य तो वह है जो कमल के फूल की तरह दिखे।

यह जो द्वैत है शिक्षित मनुष्य और उसके बीच का अशिक्षित संसार, जिसके बीच में ही उसकी छवि फूटती है, खिलती है, पारंपरिक हस्तकौशलों पर आधारित कोई विचार इसे स्वीकार नहीं कर सकता। पारंपरिक दस्तकारियाँ हमारे देश के समाज की धरोहर हैं, छोटी मोटी धरोहर नहीं हैं, बहुत बड़ी धरोहर हैं। इनमें दर्शन के, सौंदर्य के, अनेक स्तर पर आप बहुत लंबे ऐतिहासिक अनुभव के चरण चिन्ह पा सकते हैं, वे कोई साधारण धरोहर नहीं हैं। और यह बहुत बड़ा विश्वासघात है इस धरोहर के साथ कि इन हस्त कौशलों से जुड़े लोगों को हमने निरक्षर कहकर एक राष्ट्रीय समस्या के रूप में चित्रित किया है।

हमारा साक्षरता कार्यक्रम चल ही रहा है। ये तमाम लोग हमारे देश के पिछड़ेपन की निशानी हैं। निरक्षरता कोई बीमारी की तरह है और ये बीमारी उन लोगों में पायी जाती है जो आधुनिक शिक्षा से वंचित हैं। ये वही लोग हैं जिन्होंने इन धरोहरों में दक्षता प्राप्त की है, जो उसे संरक्षित किए हुए है। लेकिन साक्षरता के किसी दस्तावेज से आपको यह अहसास नहीं होगा कि उनके श्रेय को, उनके महत्व को पहचाना और माना गया हो, बल्कि साक्षरता और शिक्षा दोनों की अवधारणा ही इस तरह से बनायी गयी है

कि वह हमें सब तरह की पारंपरिक कलाओं व कौशलों से दूर रखकर विषयवस्तु का निर्धारण करती है। इसलिए वह एक निराली अजूबा सी चीज बनकर रह जाती है, जिसको बच्चे का बाप, उसकी माँ भी नहीं समझ पाते हैं कि ये क्या चीज है जो उसने प्राथमिक स्कूल में जाकर सीखी है। जिन गुणों को सामान्य समाज में जीते–जीते बच्चा प्राप्त कर सकता है, उन्हें वह स्कूल में आकर नहीं पा सकता ।

यहाँ मैं दो मामूली से गुणों की चर्चा करना चाहता हूँ। हस्तकौशलों पर यदि हम नये सिरे से विचार करना शुरू करते हैं तो मुझे लगता है इन गुणों पर लौटकर देखने की जरूरत है। एक गुण है कसावट का गुण। किसी काम को अच्छे से करना, जो कितना ही सरल, कितना ही सादा हो लेकिन उसको अच्छे से करके दिखाना। कौशल की परंपरा में तो यह बुनियादी महत्व का बिन्दु है। कोई चीज बनाना, जैसे मिट्टी का बर्तन तो ऐसे बनाना कि उसमें कोई खोट न रह जाये। अगर 100 घड़े बनाये तो 95 में कोई खोट न रहे। एक खास तरह की कसावट। अगर घड़े के ऊपर जो विन्यास खिलेगा, जो रूप बनेगा, उसकी एक खास तरह की कसावट होगी। इस तरह कौशल पर विचार करें तो आप पायेंगे कि कसावट उसका एक बुनियादी लक्ष्य है।

दूसरी विशेषता है –काम से सामंजस्य।

अगर आप तकली से एक पौनी सूत कातकर देखें तो पता चल जायेगा कि अंतरिक्ष में उपग्रह भेजना ज्यादा सरल है या एक पौनी को सूत में बदलना। एक आदमी के स्तर पर ये कोई आसान काम नहीं हैं। एक पौनी को एकसार सूत में बदलने के लिए बड़ी साधना, लय, बड़ा धैर्य चाहिये। और समय का एक ऐसा बोध चाहिए जिसमें किसी का दबाव न हो। अगर कोई अध्यापक कह रहा है, 'जल्दी करो घंटी बज चुकी है' तो इस घंटी के दबाव में आप सूत नहीं कात सकते। ये तो तभी हो सकता है जब आप तकली और पौनी के बीच ऐसा सांमजस्य देखने के आदी हो जायें। सिर्फ आपकी आँखें नहीं आपके हाथ और अंगुलियाँ, आदी हो जायें तब जाके सूत बनता है।

यह जो सामंजस्य है किसी कौशल में, इस को इस तरह कहकर बताने में मुझे बड़ा असंमजस हो रहा है। दरअसल इसको बताया नहीं जा सकता । इसको करके ही देखा जा सकता है। फिर भी, बताना बहुत जरूरी है क्योंकि इस प्रस्ताव की पैरवी की जानी है। कौशल कई स्तरों पर संगठन की मांग करता है। इन्द्रियों के स्तर पर, दिमाग के स्तर पर, विश्लेषण करता चलता है, आंखों के स्तर पर और समय बोध के स्तर पर आत्म नियंत्रण की मांग करता है और इस तरह यह अध्यापक की भूमिका को वैसे ही परिभाषित कर देता है। अगर आप लकड़ी का काम कर रहे हैं तो आपको सोचना नहीं पड़ता है कि किसी के कहने पर आपको ऐसे काटना है। लकड़ी अपने आप आपको नियंत्रित करने लगती है। जो औरतें स्वेटर बुनती हैं, पुरूषों को तो मैं कम देखता हूँ, महिलाओं पर ही यह आरोप लगाया जाता है कि धूप में बैठकर ये कर रही हैं। आप इस काम को देखें तो पायेंगे कि दक्षता के खास स्तर के बाद कोई बुनने वाला व्यक्ति ऐसा सामंजस्य स्थापित कर लेता है कि उस डिजाइन व पैटर्न को जिसे उसने चुना है, उसको सोच–सोचकर नहीं लाना पड़ता है। वह एक तरह से अपने ही गणित से संचालित होता हुआ वहाँ पर बिखर जाता है।

आपको लगता है कि बहुत सुंदर डिजाईन निकला है। इसके पीछे व्यक्तित्व के बहुत से गुण अपने आप बनते रहते हैं किसी के कहने से नहीं बनते। जो परिवेश उसमें बनता है वह भी किसी के कहने या किसी के दबाव से नहीं बनता—अपने आप बनता है। आप इसको कभी आठ—दस साल के बच्चों के बीच बनता हुआ देखेंगे, कभी देखेंगे यदि ऐसा मौका आयेगा, तो आप पायेंगे कि कैसे जादू की तरह काम हुआ है। जिस चीज को हम बचपन मानते हैं, आजकल तो बच्चे बात—बात पर बाहर भागते हैं। किसी स्कूल का दृश्य देखिए कि बच्चे अध्यापक को परेशान किए हुए हैं, अध्यापक का बहुत समय तो उन्हें नियंत्रित करने में बीत जाता है। उसकी तुलना में आप आठ—दस साल के किसी कौशल सीखे हुए बच्चों के समूह को काम करता हुआ देखें तो बचपन की अवधारणा ही एकदम गलत लगती है। जरूर हमें कोई ऐसी बात बतायी गयी है जिसका आधार ही नहीं है, क्योंकि आठ—दस साल के बच्चे यदि किसी कौशल में दीक्षित हैं, वे जिस संलग्नता और धैर्य के साथ काम करते हैं, तो लगता है कि ये वह बचपन नही है जो हमने मनोविज्ञान की किताबों में पढ़ा है। एक लय हर कौशल में होती है, वह छूट भी देती है और बांधती भी है, किसी अपने ही अन्तर्निहित क्रम से बांधती है। और ऐसा नहीं है कि ये बच्चे फिर खेलते नहीं है, खुशी और स्वतंत्रता महसूस नहीं करते हैं, एक खास लय उसमें होती है। एक जगह लाकर उसको छोड़ दिया, फिर वह लय मांग करती है कि अब थक गये, कुछ और करें। इस तरह की विषयवस्तु को विन्यस्त बनाने वाली शिक्षा में ये चीज अपने आप प्रकट होती है।

समय—सारिणी बनाना बहुत मुश्किल काम होता है यदि आप उस तरह की बनाते हैं जैसे आजकल शिक्षा में बनती है। बहुत सी दिक्कत पैदा हो जाती हैं। क्योंकि इस कौशल के लिए जिस तरह का परिवेश बनाना जरूरी है, जिस तरह का माहौल बनना चाहिये, जिस में उस कौशल की अपनी मांगें, उसकी कसावट महत्वपूर्ण हो जाये तो वह इस तरह की समय सारणियों में नहीं बन सकता। ये एक पीरियड के विषय नहीं है। ये त्रासदी है दरअसल 'समाजपयोगी कार्य' जैसे विषयों की, क्योंकि वे एक पीरियड के विषय हैं। यदि आप ईमानदारी से इसे लागू करेंगे भी तो कहा जायेगा ये इस तरह नहीं हो सकता। ये मजाक हो सकता है। यह एक पद्धति है जिसको समय की सीमाओं में उस तरह नहीं बांधा जा सकता जिस तरह हम स्कूली ज्ञान को बांधते हैं।

तो विषयवस्तु का एक पहलू तो ये है। इससे ज्यादा बड़ा पहलू है आज के संसार का। जब कई क्षेत्रों में हुए वैज्ञानिक और तकनीकी परिवर्तनों के कारण ज्ञान का एक और ही रूप उभर आया है। आज के संसार में स्थानीय परिवेश या स्थानीय ज्ञान परंपराओं को विषयवस्तु के संदर्भ में कैसे परिभाषित किया जाये कि वो उचित दिखे? हम जिस समय में जी रहे हैं वहाँ दो चीजों में आये परिवर्तनों के फलस्वरूप पूरा विश्व ज्ञान की एक लहर में खोया हुआ दिखता है। एक तो मामला है इलेक्ट्रानिकी के क्षेत्र में, प्रौद्योगिकी के विकास का और दूसरा मामला संचार के क्षेत्र में हम जहाँ पहुँचे हैं। इन दो मामलों के मिलने से ज्ञान

आज उन संकल्पनाओं से लगभग मुक्त सा हो गया है जिनमें वह पिछले दो–ढाई हजार सालों से रखा जाता था।

ज्ञान और सूचना का फर्क अगर आप सहज विवेचन के स्तर पर करें तो यही बनता है कि ज्ञान वो है, जिसको रखने की कोई जगह उस आदमी ने बना ली है जो इस ज्ञान को पाना चाहता है। सूचनाओं की तमाम भीड़ है, ये हमारे गिर्द फैला सूचना संसार है जिसको रखने की कोई जगह अभी हमारे मन में नहीं है। यदि कोई जगह बनती है तो सूचनाएँ चीजों से जुड़ जाती हैं। वे कहीं हमारे अनुभवों से जुड़ जाती हैं, अन्य सूचनाओं से जुड़ जाती हैं, जिनको हमने पहले पाया था, तो उस तरह से ज्ञान बन जाती हैं वे सूचनाएँ। यही अंतर बहुत लंबे समय से मानवता की इस अवधारणा को बचाये और बनाये रखने में सहयोग देता रहा है।

वो जगह जिसकी मैंने चर्चा की, उस जगह को ही तो अवधारणा कहते हैं। एक अवधारणा हो तब कोई सूचना उसमें डाली जा सकती है। अवधारणा पहले बनायी जाये या बाद में ये सिलसिला यहाँ से है कि नई सूचना के लिए जगह कैसे बनायी जाये? पूर्व सूचनाओं के आधार पर कैसे एक अवधारणा बनायी जाये, जिसमें कोई नयी सूचना डाल सकें, जिसको सौ–डेढ़ सौ सालों का आधुनिक शिक्षण शास्त्र कहते हैं, वो मुख्यतः इसी बात को लेकर आगे बढ़ा था, और उसकी बहुत–सी देन आज हमारे सामने उपलब्ध है।

सूचनाओं की इस भीड़ में बच्चे को अवधारणाएँ बनाने में कैसे मदद दी जाए, कैसे सूचनाओं को ज्ञान में तब्दील किया जाये, अनुभव में कैसे ढाला जाये कि वह उसके जीवन से जुड़े, अन्य सूचनाओं से जुड़े, और सूचनाओं की भीड़ में रहते हुए भी उसको एक अधिकार बोध हो कि मैं जानता हूँ, मुझमें आकर वे सूचनाएँ जुड़ गयी हैं – इन्हीं सब से तो वे परिभाषाएँ बनी थीं जिनको हमने बालकेन्द्रित शिक्षा में इतना महत्व दिया था।

निश्चित रूप से एक बड़ा सवाल यहाँ खड़ा होता है, पूरा तंत्र है हमारे सामने – विश्व पूंजीवाद का, जो आज कई माध्यमों से और कई बहानों से, इसमें भी कई बहाने हैं जो बकायदे बहुत सवाल व ठोस तर्कों का रूप धारणा कर चुके हैं अपने राजनीतिक अर्थ में व संस्कृति, कई संदर्भों में, जो हमारे स्थानीय बोध को मिटा देने की वकालत करता है। जो स्थानीयता को एक प्रकार से बुरी चीज मानने की वकालत करता है। इस विश्व–पूंजीवाद पर आधारित विश्वग्राम के सामने स्थानीयता के महत्व को किस तरह परिभाषित करें कि वह मूर्खतापूर्ण न लगे? इसमें कोई संदेह नहीं कि ये जो घटना घटी है ये कोई अनायास नहीं घटी है। ये इतिहास क्रम के चलते ही घटी है। इतिहास क्रम को कहाँ से पढ़ना शुरू करें, यदि ये प्रश्न उठता है तो आप इसकी तारीख पहचान सकेंगे कि ये इतिहास क्रम कब शुरू हुआ?

इतिहासक्रम में वह तारीख थी उपनिवेशवाद की। उपनिवेशवाद ही वो ऐतिहासिक अनुभव है, हमारा भी, यूरोप का भी, जिसमें ज्ञान को स्थानीय परिवेश से काटे बगैर शिक्षित मनुष्य की कल्पना नहीं की जा

सकती। बुनियादी शिक्षा के विचार में ये बहुत बड़ी बौद्धिक चुनौती निहित है कि उसकी परिभाषा, उसमें निहित ज्ञान की परिभाषा स्थानीय परिवेश से काटकर नहीं की जा सकती। अगर उसके बारे में ये प्रश्न पैदा होते हैं, क्या ये कौशल बच्चे के अवसरों को कम करेंगे, ये शिक्षा बच्चे की जिन्दगी को सीमित कर देगी? ये सब तात्कालिक सवाल है।

अवसरों की वो तमाम दुनिया जिसमें आधुनिक शिक्षा सभी बच्चों को दीक्षित तो करती है लेकिन पहुँचाती बहुत कम को है। शेष में निराशा और विफलता का एक बड़ा माहौल रचती है, इससे समाज–व्यवस्था को चलाए रखती है, जिसमें समान अवसर का अहसास तो बना रहता है लेकिन कभी ये महसूस नहीं होता, गाहे बगाहे अपनी विवशता का बोध जरूर हो जाता है। तमाम सूचना तंत्र जो हमसे कहता है कि अब अपने अनुभव से हाथ से कोई चीज बनाकर, अपने आसपास के पेड़ का परीक्षण करके, ज्ञान पाने की आवश्यकता नहीं है, अब तो हर ज्ञान कम्प्यूटर से उपलब्ध है, हर ज्ञान उधर से आ गया है। यह ज्ञान है या कुछ और है– उस पर सोचना है।

बुनियादी शिक्षा के संदर्भ में मामला बहुत आसान है क्योंकि वहाँ मामला पूरी तरह से अनुभव का है। वे अनुभव जो बच्चों को सामूहिक स्तर पर होते हैं। अगर पेड़ का ज्ञान पाना है तो अपने स्कूल के इर्द–गिर्द के उगे पेड़ों का विभिन्न मौसमों में परीक्षण करके पाया जायेगा, वह बुनियादी शिक्षा के विचार के संदर्भ में वैध ठहराया जा सकता है। शेष ज्ञान को एक विशिष्ट तरह की सूचना माना जा सकता है, जिसका कोई संबंध समाज से, व्यक्तित्व से नहीं बन सकता।

बुनियादी शिक्षा का विचार किसी संदर्भ में बुनियादी है तो वह समाज–रचना के संदर्भ में ही है। व्यक्तित्व के संदर्भ में ही नहीं, समाज की पुनर्रचना के संदर्भ में भी है। गांधी का जीवन और विचार एक निषेध है उस दुनिया का, जो उपनिवेशवाद के जरिये बनी। वह बहुत बड़ी असहमति थीं और असहमति की शिक्षा अगर बुनियादी शिक्षा नहीं देती, तो वह बुनियादी शिक्षा नहीं कहला सकती। शायद यह बहुत बड़ी कमी रह गयी जो कि आजादी के बाद, जो पहले बीस–तीस वर्षों में बुनियादी शिक्षा बनी, उसमें यह कमी रह गयी, क्योंकि उसमें असहमति की जगह नहीं थी। असहमति का कोई स्थान ही नहीं रहने दिया गया। बल्कि राज और समाज के बीच असहमति के जो मुद्दे पैदा हो सकते थे उन्हें पहले ही पोंछ दिया गया, मिटा दिया गया।

एक बहस यहाँ से शुरू हो सकती है कि बुनियादी शिक्षा के संदर्भ में राज की क्या भूमिका हो? बुनियादी शिक्षा अंततः मनुष्य के समाज की स्वायत्तता का बहुत ही तेज आवाज में किया गया उद्घोष है। किसी भी राज व्यवस्था को, समाज के साथ विनम्रतापूर्वक, आदरपूर्वक सामंजस्य करने की चुनौती है। इसलिए राजतंत्र से, राजतंत्र द्वारा लिये गये निर्णयों से निरंतर एक तरह का द्वन्द्वात्मक रिश्ता बनाने का विचार बुनियादी शिक्षा में अन्तर्निहित है। अगर बुनियादी शिक्षा ऐसे बच्चों को जन्म नहीं दे पाती जो बनते हुए माहौल से असहमत हो सकते हैं तो जरूर उनकी बुनियादी शिक्षा में कोई बहुत बड़ी कमी है। ऐसी शंका करना हमेशा उचित है। आज अगर हम इस बीज को फिर से रोपना चाहते हैं तो इन सब जिम्मेदारियों को समझना होगा और अपने बीच बातचीत और बहस का विषय बनाना होगा।

❁❁❁❄❁❁❁

भारत का राज पत्र
असाधारण
भाग–2 – खण्ड 1
प्राधिकार से प्रकाशित

नई दिल्ली बृहस्पतिवार अगस्त 27, 2009/भाद्र 5, 1931

विधि एवं न्याय मंत्रालय

बच्चों की निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का अधिकार अधिनियम 2009

संख्या 35 2009

6 से 14 साल के सब बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा प्रदान किए जाने हेतु एक अधिनियिम

भारतीय गणराज्य के साठवें वर्ष लोकसभा द्वारा निम्नानुसार पारित

अध्याय – 1
प्रस्तावनारुप

1. (1) इस अधिनियम को बच्चों की निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा अधिनियम, 2009 जाना जाए

(2) जम्मू और काश्मीर को छोड़ कर यह सम्पूर्ण भारतवर्ष पर लागू होगा।

(3) यह केन्द्रीय सरकार के शासकीय राजपत्र में नोटिफाई होने के तारीख से प्रभावित होगा।

2. जब तक कि संदर्भ अलग न हो, इस अधिनियम में

(अ) उपयुक्त सरकार का अर्थ है

(1) केन्द्रीय सरकार अथवा संघीय क्षेत्र (जहाँ विधान सभा नहीं है) के प्रशासक के द्वारा स्थापित और संचालित स्कूल से सम्बन्धित।

(2) ऊपर के क्लॉज या खण्ड (1) में बताये गए स्कूल के अलावा ऐसे स्कूल जो (।) किसी राज्य की सीमा में हों या राज्य सरकार (ठ)

संघीय क्षेत्र जहाँ विधानसभा हो, ऐसे संघीय क्षेत्र की सरकार।

(ब) केपिटेशन शुल्क का अर्थ है इस प्रकार का दान या अंशदान या भुगतान जो स्कूल द्वारा अधिसूचित शुल्क के अलावा हो।

(स) 'बच्चा' का अर्थ है छः से चौदह वर्ष का स्त्री अथवा पुरूष बच्चा

(द) 'वंचित वर्ग के बच्चे' से तात्पर्य है ऐसे बच्चे जो अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, सामाजिक और शैक्षणिक अर्थ में पिछड़े वर्ग या ऐसे वर्ग जिन्हें उपयुक्त सरकार ने अध्यादेश द्वारा सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, भौगोलिक, भाषागत, लिंगगत या अन्य वजह से चिन्हित किया हो।

(ई) कमजोर वर्ग से सम्बन्धित बच्चे से तात्पर्य है ऐसे बच्चे जो ऐसे माता–पिता या अभिभावक के हो जिनकी वार्षिक आय उपयुक्त सरकार के अध्यादेश में वर्णित न्यूनतम सीमा से कम हो।

(एफ) प्रारम्भिक शिक्षा से तात्पर्य है पहली कक्षा से आठवीं कक्षा तक की शिक्षा

(जी) बच्चे से सम्बन्धित अभिभावक से तात्पर्य है वह व्यक्ति जिसके पास बच्चे की देखभाल और संरक्षण का जिम्मा है इसमें नैसर्गिक अभिभावक अथवा अदालत अथवा कानून द्वारा घोषित या निर्धारित संरक्षक भी शामिल है।

(एच) स्थानीय प्राधिकारी का अर्थ है म्यूनिसिपल कॉर्पोरेशन अथवा म्यूनिसिपल काउसिंल अथवा जिला परिषद् या नगर पंचायत या पंचायत जिस नाम से भी वह जानी जाती हो। इसमें वे प्राधिकरण भी शामिल हैं जिन्हें किसी अधिनियम के तहत किसी नगर, टाउन या गांव में स्कूल को प्रशासित करने का अधिकार प्राप्त हो।

(आइ) 'बाल अधिकार संरक्षण हेतु राष्ट्रीय आयोग' का अर्थ है बच्चों के अधिकार अधिनियम 2005 की धारा 3 के अन्तर्गत गठित बाल अधिकार संरक्षण आयोग।

(जे) 'अधिसूचना' का अर्थ है शासकीय राजपत्र में प्रकाशित अधिसूचना

(के) पेरेन्ट (अभिभावक) का अर्थ है बच्चे का नैसर्गिक या सौतेला या दत्तक पिता या माता

(एल) 'निर्दिष्ट' का अर्थ है इस अधिनियम के अन्तर्गत बनाये गए नियमों द्वारा निर्दिष्ट

(एम) अनुसूची का तात्पर्य है इस अधिनियम में नत्थी की गई अनुसूची

(एन) स्कूल से आशय है ऐसा मान्य स्कूल जो प्रारम्भिक शिक्षा प्रदान करता हो जिसमें शामिल है

(1) किसी उपयुक्त सरकार अथवा स्थानीय प्राधिकारी के स्वामित्व वाला, द्वारा स्थापित अथवा नियंत्रित स्कूल ;

(2) सहायता प्राप्त स्कूल जिसे उपयुक्त सरकार या स्थानीय प्राधिकारी से खर्चा चलाने के लिए पूरी तौर पर अथवा आंशिक सहायता प्राप्त होती हो ;

(3) विशिष्ट कोटि / श्रेणी के स्कूल और

(4) ऐसा स्कूल जिसे उपयुक्त सरकार या स्थानीय प्राधिकारी से खर्चा चलाने के लिए किसी भी तरह की मदद न मिलती हो

(ओ) चयन प्रक्रिया से तात्पर्य स्कूल में बच्चों के नामांकन के लिये अपनाये जाने वाले किसी बच्चे को चुनने के लिये अपनायी जाने वाली चयन प्रक्रिया से है जो कि क्रम रहित है।

(पी) स्कूल के संदर्भ में ''विशिष्ट कोटि / श्रेणी का स्कूल'' से तात्पर्य है केन्द्रीय विद्यालय, नवोदय विद्यालय, सैनिक स्कूल या ऐसे स्कूल जिनका खास उद्देश्य हो जो उपयुक्त सरकार द्वारा जारी अधिसूचना में स्पष्ट किया गया हो

(क्यू) बाल अधिकार संरक्षण हेतु राज्य आयोग का तात्पर्य है बाल अधिकार हेतु आयोग अधिनियम, 2005 की धारा 3 के तहत गठित राज्य आयोग।

अध्याय – 2

निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा का अधिकार

3. (1) 6 से 14 साल के हर बच्चे को अपने पड़ोस के स्कूल में निःशुल्क और अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा को पूरा होने तक प्राप्त करने का अधिकार होगा। (2) उपखण्ड (1) को ऐसे समझाया जाए कि अपनी प्रारम्भिक शिक्षा को पाने और पूरा करने में किसी बच्चे को किसी तरह का शुल्क या खर्चा भरने की जरूरत नहीं है। साथ ही वैसे अशक्त बच्चे जिनकी परिभाषा पर्सन्स विद डिसेबिलिटी एक्ट 1996 की धारा 2 में दी गई है उन्हें भी उक्त अधिनियम के पांचवे अध्याय के अनुसार निःशुल्क और अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा का अधिकार होगा।

4. 6 वर्ष से ज्यादा उम्र के ऐसे बच्चे जिनका किसी स्कूल में दाखिला नहीं हो पाया है या दाखिल हैं पर प्रारम्भिक शिक्षा को पूरा नही कर पाये हैं तो उन्हें अपनी उम्र के मुताबिक उपयुक्त कक्षा में दाखिला दिया जाएगा।

   यदि उम्र के अनुसार कक्षा में दाखिल नही हो पाये हैं तो दूसरे बच्चों के बराबर आने के लिये विशेष प्रशिक्षण का अधिकार होगा जैसा की प्रस्तावित किया जायेगा।

   इस प्रकार के दाखिले में 14 वर्ष की उम्र हो चुकने के बाद भी निःशुल्क और अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा को पूरा करने पर उसका अधिकार बना रहेगा।

5. (1) अगर किसी स्कूल में प्रारम्भिक शिक्षा पूरी होने का प्रावधान नहीं है तो बच्चे को धारा–2 के उपखण्ड (3) और (4) में बतलाये गए स्कूलों को छोड़कर किसी अन्य स्कूल में अपनी प्रारम्भिक शिक्षा को पूरी करने हेतु तबादला पाने का अधिकार है।

   (2) अगर किसी बच्चे को किसी कारण से एक स्कूल से दूसरे स्कूल में जाने की जरूरत पड़ती है चाहे अपने ही राज्य के या राज्य के बाहर के स्कूल में तो ऐसी दशा में धारा 2 के उपखण्ड (3) और (4) को छोड़कर अन्य स्कूल में तबादला लेने का उसे अधिकार है।

   (3) इस तरह के अन्य स्कूल में जब किसी बच्चे को दाखिला लेने की जरूरत होती है तो जिस स्कूल में बच्चे का पिछला या आखिरी दाखिला हुआ है उस स्कूल प्रधानाध्यापक को उसे शीघ्र ट्रान्सफर प्रमाण–पत्र जारी करना होगा साथ ही यह भी कि अन्य स्कूल द्वारा दाखिला देने के मामले में प्रमाण–पत्र का देर से प्रस्तुत किया जाने को दूसरे स्कूल के द्वारा दाखिले में देरी करने या मना किए जाने का कारण नहीं बनाया जायेगा। साथ ही यह भी कि ट्रान्सफर प्रमाण–पत्र जारी करने वाले प्रधानाध्यापक पर उसके ऊपर लागू सेवा नियमावली के अनुसार अनुशासनात्मक कार्यवाही की जा सकेगी।

अध्याय – 3

उपयुक्त सरकार, स्थानीय प्राधिकार एवं अभिभावकों के कर्तव्य

6. इस अधिनियम के प्रावधानों के क्रियान्वयनों के लिए उपयुक्त सरकार और स्थानीय प्राधिकारी को अपने क्षेत्र और पड़ोस की सीमा के भीतर जहाँ स्कूल नहीं है वहां इस अधिनियम के लागू होने के तीन साल की अवधि के भीतर स्कूल स्थापित करना होगा।

7. (1) केन्द्र सरकार और राज्य सरकार दोनों की साथ–साथ जिम्मेदार है कि वे इस अधिनियम के प्रावधानों के कार्यान्वयन के लिए धन का प्रावधान करें।

(2) अधिनियम के प्रावधानों को अमल में लाने के लिए केन्द्र सरकार पूंजीगत और आवर्ती खर्च का आकलन बनाएगी।

(3) केन्द्र सरकार राज्य सरकार के साथ परामर्श कर उपखण्ड–2 में बताए गए खर्च का निश्चित प्रतिशत राज्य सरकार को सहायता अनुदान के तहत प्रदान करेगी।

(4) इस अधिनियम के प्रावधानों के क्रियान्वयन के लिए केन्द्र सरकार राष्ट्रपति से उपखण्ड (डी) के खण्ड 3 के अनुच्छेद 250 के अन्तर्गत वित्त आयोग का ध्यान आकृष्ट करने हेतु निवेदन कर सकती है ताकि वे राज्य सरकार को उक्त आदेश हेतु अतिरिक्त धन का प्रावधान करे जिससे राज्य सरकार खुद को प्राप्त होने वाले धन को अधिनियम के प्रावधानों पर खर्च कर सके।

(5) उपखण्ड (4) में वर्णित शर्तों के बावजूद राज्य सरकार उपखण्ड (3) में वर्णित मदो पर केन्द्र सरकार द्वारा प्राप्त होने वाली धनराशि को ध्यान में रखते हुए तथा अपने संसाधनों के मद्देनजर इस अधिनियम के प्रावधानों के क्रियान्वयन हेतु धन का प्रावधान करने के लिए उत्तरदायी होगी।

(6) केन्द्र सरकार

(अ) शैक्षणिक प्राधिकारी के सहयोग से धारा 29 के तहत राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा विकसित करेगी।

(ब) शिक्षकों के प्रशिक्षण हेतु मानकों को विकसित करेगी और उन्हें प्रभावी बनाएगी

(स) नवाचार के उन्नयन, शोध, नियोजन और क्षमता वृद्धि हेतु राज्य सरकार को तकनीकी सहायता एवं संसाधन प्रदान करेगी।

8. उपयुक्त सरकार

(अ) प्रत्येक बच्चे को निःशुल्क एवं अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा प्रदान करेगीः बशर्ते कि बच्चे के माता–पिता या अभिभावक ने यदि बच्चे का दाखिला ऐसे स्कूल में कराया है जो ऐसे स्कूल से भिन्न है जिसका स्वामित्व उपयुक्त प्राधिकार के पास है या उससे परोक्ष या अ परोक्ष रूप से

आर्थिक सहायता प्राप्त है, तो वे ऐसे स्कूल में प्रारम्भिक शिक्षा पाने पर होने वाले खर्च की प्रतिपूर्ति का दावा नहीं कर सकेंगे।

स्पष्टीकरण – 'अनिवार्य शिक्षा' इन पदों का अर्थ है उपयुक्त सरकार का ऐसा दायित्व

(1) जो छ से चौदह साल की उम्र के हर बच्चे को प्रारम्भिक शिक्षा प्रदान करने का है।

(2) छ से चौदह साल तक के हर बच्चे का अनिवार्य दाखिला, उपस्थिति एवं प्रारम्भिक शिक्षा की पूर्ति को सुनिश्चित करने का है।

(ब) खण्ड 6 में वर्णित पड़ोस के स्कूल की उपलब्धता सुनिश्चित करना

(स) यह सुनिश्चित करना कि किसी भी आधार पर कमजोर वर्ग और वंचित वर्ग के बच्चों को भेदभाव के चलते प्रारम्भिक शिक्षा पाने और उसे पूरा करने से रोका न जाए।

(द) आधारभूत संरचना, जिसमें स्कूल भवन शामिल है, शिक्षकगण एवं सीखने के उपकरणों को प्रदान करना

(इ) खण्ड 4 में वर्णित विशेष प्रशिक्षण सुविधा प्रदान करना

(फ) प्रत्येक बच्चे के दाखिले, उपस्थिति और प्रारम्भिक शिक्षा को पूरा करने की प्रक्रिया का अनुश्रवण करना

(जी) अनुसूची में बतलाये गए मानकों के अनुसार अच्छी गुणवत्तापूर्ण प्रारम्भिक शिक्षा पूर्ति सुनिश्चित करना

(एच) प्रारम्भिक शिक्षा हेतु समायोजित तरीके से पाठ्यक्रम और अध्ययन के विषय निर्धारित करना

(आइ) शिक्षको के लिए प्रशिक्षण सुविधा उपलब्ध कराना

9. हर स्थानीय प्राधिकारी

(अ) हर बच्चे को निःशुल्क और अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा की उपलब्धि सुनिश्चित करेगा। बशर्ते कि बच्चे के माता–पिता या अभिभावक ने यदि बच्चे का दाखिला ऐसे स्कूल में कराया है जो ऐसे स्कूल से भिन्न है जिसका स्वामित्व उपयुक्त प्राधिकार के पास है या उससे परोक्ष या अपरोक्ष रूप से आर्थिक सहायता प्राप्त है, तो वे ऐसे स्कूल में प्रारम्भिक शिक्षा पाने पर होने वाले खर्च की प्रतिपूर्ति का दावा नहीं कर सकेंगे।

(ब) खण्ड 6 में वर्णित पड़ोसी स्कूल की उपलब्धि सुनिश्चित करेगा।

(स) यह सुनिश्चित करना कि किसी भी आधार पर कमजोर वर्ग और वंचित वर्ग के बच्चों को भेदभाव के चलते प्रारम्भिक शिक्षा पाने और इसे पूरा करने से रोका न जाए।

(द) उनके कार्य/अधिकार क्षेत्र में निवास करने वाले 14 साल तक के बच्चों के अभिलेख (रिकार्ड) का रखरखाव करना, जैसा कि प्रस्तावित किया जाय।

(ई) अपने कार्य / अधिकार क्षेत्र के भीतर आने वाले प्रत्येक बच्चे के दाखिले, उपस्थिति और प्रारम्भिक शिक्षा को पूरा कराने की प्रक्रिया का अनुश्रवण करना।

(फ) आधारभूत संरचना प्रदान करना जिसमें स्कूल भवन, शिक्षकगण एवं सीखने के उपकरण भी शामिल हैं;

(जी) खण्ड 4 में वर्णित विशेष प्रशिक्षण सुविधा प्रदान करना

(एच) अनुसूची में बतलाये गए मानकों के अनुसार अच्छी गुणवत्ता पूर्ण प्रारम्भिक शिक्षा की पूर्ति सुनिश्चित करना;

(आई) प्रारम्भिक शिक्षा हेतु समायोजित तरीके से पाठ्यक्रम और अध्ययन के विषय निर्धारित करना;

(जे) शिक्षकों के लिए प्रशिक्षण सुविधा उपलब्ध कराना;

(के) प्रवासी परिवारों के बच्चों का दाखिला सुनिश्चित करना;

(एल) अपने अधिकार क्षेत्र में आने वाले पड़ोसी स्कूल के परिचालन का अनुश्रवण करना;

(एम) शैक्षणिक सत्र निश्चित करना;

10. हर माता पिता या अभिभावक का यह कर्तव्य होगा कि वह अपने बच्चे या आश्रित का दाखिला पड़ोस के स्कूल में करे या कराने के लिये तैयार रहे।

11. तीन साल से अधिक उम्र के बच्चों को प्रारम्भिक शिक्षा हेतु तैयार करने के लिए उपयुक्त सरकार बच्चों के आरम्भिक देखरेख के साथ उनके 6 वर्ष की उम्र होने तक पूर्व स्कूल शिक्षा प्रदान करने के लिए आवश्यक व्यवस्था बना सकती है।

अध्याय – 4

स्कूलों और अध्यापकों के उत्तरदायित्व/जिम्मेदारी

12. (1) इस अधिनियम के तहत, स्कूल –

(अं) जैसा कि सेक्शन 2 के खंड (एन) के उप खंड 1 के अनुसार स्कूल अपने यहाँ दाखिला लिए हुए सब बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा प्रदान करेगा।

(ब) जैसा कि सेक्शन 2 के खंड (एन) के उप खंड 2 के अनुसार स्कूल अपने यहाँ दाखिला प्राप्त बच्चों की निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की इस अनुपात तक सुविधा प्रदान करेगा जो अनुपात स्कूल की वार्षिक सहायता अथवा अनुदान की राशि का स्कूल के आवर्ती खर्चे के बीच है जो न्यूनतम पच्चीस तो अवश्य हो।

(स) जैसा कि सेक्शन 2 के खंड (एन) के उप खंड 3 व 4 के अनुसार स्कूल कक्षा 1 की कुल छात्र संख्या का पच्चीस प्रतिशत पड़ोस के कमजोर और वांचित वर्ग के बच्चे होंगे जिन्हें निःशुल्क और अनिवार्य एलिमेन्टरी शिक्षा पूरे होने तक प्रदान की जाएगी। साथ ही यह भी कि अगर सेक्शन 2 के खंड (एन) में वर्णित स्कूल पूर्व स्कूल शिक्षा भी प्रदान करता है तो इस पूर्व स्कूल शिक्षा के मामले में भी ऊपर के खंड (अं) से (स) के प्रावधान लागू होंगे।

(2) जैसा कि सेक्शन 2 के खंड (एन) के उप खंड 4 के अनुसार स्कूल जो निःशुल्क और अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा प्रदान करता है (सेक्शन 1 के उपखंड (स) के मुताबिक) उसे राज्य के द्वारा किये जा रहे प्रति बच्चे खर्च अथवा बच्चे से इस हेतु लिया गया शुल्क, दोनों में से जो कम होगा, उसकी प्रतिपूर्ति की जाएगी। साथ ही यह भी यह प्रतिपूर्ति सेक्शन 2 के खंड (एन) के उप खंड 1 में बतलाए गए स्कूल द्वारा वहन किए गए प्रति बच्चा खर्च से अधिक न हो। और यह भी कि यदि कोई स्कूल किन्हीं विशेष तथा विशिष्ट बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने हेतु पहले से बाध्य है क्योंकि इसे भूखण्ड, भवन या अन्य उपकरण की सुविधाएं उपलब्ध है या तो बिना मूल्य चुकाए या कंसेशनल दर पर, तो इस स्थिति में इस उपकार के प्रतिपूर्ति पाने का हक सीमित हो जाएगा।

(3) हर स्कूल उपयुक्त सरकार या स्थानीय प्राधिकारी द्वारा मांगी गई सूचना प्रदान करेगा।

13 (1) कोई भी स्कूल या व्यक्ति बच्चे का दाखिला देते समय कैपिटेशन शुल्क नहीं लेगा न ही बच्चे या उसके माता–पिता या अभिभावक को चयन की प्रक्रिया हेतु बाध्य करेगा।

(2) अगर कोई स्कूल या व्यक्ति उप खण्ड (1) में वर्णित प्रावधान के खिलाफ

(अ) कैपिटेशन शुल्क प्राप्त करता है तो उसे कैपिटेशन शुल्क के दस गुने तक जुर्माना भरना होगा।

(ब) बच्चे को किसी तरह की चयन की प्रक्रिया हेतु बाध्य करता है तो उसे पहली गलती पर पच्चीस हजार रूपये तक की सीमा तक जुर्माना भरना होगा और हर बाद वाली गलती पर पचास हजार रूपये तक जुर्माना देना होगा।

14 (1) प्रारम्भिक शिक्षा के लिए बच्चे की उम्र का निर्धारण बच्चे के जन्म–प्रमाण पत्र के आधार पर होगा जो जन्म मृत्यु और विवाह पंजीकरण अधिनियम 1886 के प्रावधानों के अनुसार या ऐसे अन्य निर्धारित दस्तावेज के अनुरूप होगा।

(2) आयु के सबूत के अभाव में दाखिला देने से मना नहीं किया जाएगा।

15. बच्चे का दाखिला स्कूल में शैक्षणिक वर्ष के आरम्भ में या निर्धारित बढ़ी हुई समयसीमा के भीतर होगा साथ ही यह भी कि बढ़ी हुई समय सीमा के बाद भी दाखिला मांगे जाने पर उसे मना नहीं किया जाएगा। यह भी ध्यान रहे कि बढ़ी हुई समय सीमा के बाद दाखिला प्राप्त बच्चे का अध्ययन उपयुक्त सरकार द्वारा निर्धारित तरीके से पूरा किया जाएगा।

16. दाखिला प्राप्त किसी बच्चे को किसी कक्षा में रोका नहीं जाएगा अथवा प्रारम्भिक शिक्षा पूरी होने से पहले स्कूल से बाहर नहीं निकाला जाएगा।

17. (1) किसी बच्चे को शारीरिक रूप से दंडित या मानसिक उत्पीड़न नहीं किया जाएगा।

(2) जो कोई उपखण्ड (1) के प्रावधानों का उल्लंघन करता है वह उस व्यक्ति पर लागू होने वाले सेवा नियमों के तहत अनुशासनात्मक कार्यवाही के लिए उत्तरदायी होगा।

18. (1) उपयुक्त सरकार अथवा स्थानीय प्राधिकारी के स्वामित्व वाले या उनके द्वारा नियंत्रित स्कूलों के अलावा कोई भी स्कूल इस अधिनियम के प्रभावी होने के बाद न तो स्थापित हो सकेगा और न ही कार्य कर सकेगा यदि उसने उपयुक्त प्राधिकारी से इस सम्बन्ध में निर्धारित प्रारूप पर आवेदन देकर मान्यता प्राप्त नहीं करली है।

(2) उपखण्ड (1) में वर्णित प्राधिकारी मान्यता का प्रमाण–पत्र निर्धारित प्रारूप, समयसीमा और तरीके से निर्गत करेगा। साथ ही यह भी कि यदि खण्ड 19 के मुताबिक मानकों और मापदण्डों का अनुपालन इसी स्कूल द्वारा नहीं किया जा रहा तो उसे मान्यता नहीं प्रदान की जाएगी।

(3) मान्यता की शर्तो के उल्लंघन पर निर्धारित प्राधिकारी लिखित आदेश द्वारा मान्यता वापस ले सकेगा। साथ ही यह भी कि कौन से अन्य पड़ोस के स्कूल में इस अमान्य स्कूल के बच्चे दाखिला ले सकेंगे। यह भी ध्यान रहे कि निर्धारित तरीके से उस स्कूल को न्यायसंगत अवसर दिए बगैर किसी भी स्कूल की मान्यता वापस नहीं ली जाएगी।

(4) उपखण्ड (3) के अन्तर्गत जिस तारीख से मान्यता वापस लिया जाना प्रभावी है, उसके आगे स्कूल नहीं चलाया जा सकेगा।

(5) कोई भी व्यक्ति जो बगैर मान्यता प्रमाण–पत्र प्राप्त किए बिना स्कूल संचालित करता है या मान्यता के वापस लिए जाने के बाद भी स्कूल संचालित करता है, वह जुर्माने के लिए दायी होगा जो एक लाख रूपये तक जा सकता है और लगातार उल्लंघन की दशा में जब तक यह उल्लंघन जारी होगा प्रतिदिन दस हजार रूपये की दर से जुर्माना देय होगा।

19 (1) खण्ड 18 के अन्तर्गत किसी भी स्कूल की न तो स्थापना होगी या न मान्यता दी जायेगी जब तक वह अनुसूची में निर्दिष्ट मानकों और मानदण्डों को पूरा नहीं करता हो।

(2) इस अधिनियम के लागू होने से पहले के किसी स्कूल द्वारा अनुसूची में बतलाए गए मानकों और मानदण्डों का अनुपालित होना नहीं पाया जाता है तो इस अधिनियम लागू होने से तीन वर्ष की अवधि में अपने ही खर्च पर उन्हें अनुपालित करने की व्यवस्था करेगा।

(3) उपखण्ड 2 में वर्णित मानकों और मापदण्डों को निश्चित अवधि के भीतर यदि कोई स्कूल अनुपालित करने में असमर्थ रहता है तो खण्ड (1) के उपखण्ड (1) में निर्दिष्ट प्राधिकारी उसी खण्ड के उपखण्ड (3) में बतलाए तरीके के अनुसार उक्त स्कूल की मान्यता वापस ले लेगा।

(4) उपखण्ड (3) के अन्तर्गत मान्यता वापस लिए जाने के प्रभावी तारीख के बाद वह स्कूल नहीं चलाया जा सकेगा।

(5) कोई भी व्यक्ति जो मान्यता वापस लिए जाने के बाद स्कूल संचालित रखता है वह जुर्माने के लिए दायी होगा जो एक लाख रूपये तक जा सकता है और लगातार उल्लंघन की दशा में जब तक यह उल्लंघन जारी रहेगा प्रतिदिन दस हजार रूपये की दर से जुर्माने के लिए दायी होगा।

20. केन्द्रीय सरकार अधिसूचना के जरिए अनुसूची में कुछ मानकों और मानदण्डों को जोड़ कर अथवा उन्हें छोड़ते हुए संशोधन कर सकती है।

21. (1) सेक्शन 2 के खंड (एन) के उप खंड 4 में वर्णित स्कूल के अलावा स्कूल में एक प्रबन्धन समिति गठित होगी जिसमें स्थानीय प्राधिकारी के निर्वाचित प्रतिनिधि, स्कूल में दाखिला प्राप्त बच्चों के माता–पिता या अभिभावकों और अध्यापकों का प्रतिनिधित्व होगा –

बशर्ते कि ऐसी समिति के कम से कम तीन चौथाई सदस्य माता पिता अथवा अभिभावक वर्ग से होंगे।

बशर्ते कि वंचित और कमजोर वर्ग के बच्चों के मातापिता या अभिभावको को आनुपातिक ढंग से प्रतिनिधित्व दिया जाएगा।

बशर्ते कि ऐसी समिति का 50 प्रतिशत महिलाएं होंगी।

(2) स्कूल प्रबन्धन समिति के कार्यकलाप निम्नवत् होंगे

(अ) स्कूल के संचालन का अनुश्रवण;

(ब) स्कूल के विकास की योजना को तैयार करना तथा इसकी अनुशंसा करना;

(स) उपयुक्त सरकार या स्थानीय प्राधिकारी या किसी अन्य श्रोत से प्राप्त अनुदान के इस्तेमाल का अनुश्रवण करना और

(द) अन्य निर्धारित किए जा सकने वाले कार्यो का संचालन;

22 (1) धारा 21 की उपधारा (1) के अन्तर्गत गठित स्कूल प्रबन्धन समिति निर्धारित तरीके के अनुसार स्कूल विकास योजना तैयार करेगी।

(2) उपखण्ड (1) के अनुसार बनाई गई स्कूल विकास योजना उपयुक्त सरकार अथवा स्थानीय प्राधिकारी द्वारा बनाई जाने वाली योजनाओं और दिए जाने वाले अनुदानों का आधार होगी।

23 (1) शैक्षणिक प्राधिकारी द्वारा निर्धारित न्यूनतम अर्हता जो कि केन्द्रीय सरकार द्वारा अधिसूचित हो, के आधार से अध्यापक के तौर पर नियुक्ति के योग्यता मानी जाएगी।

(2) अगर किसी राज्य में शिक्षकों के प्रशिक्षण प्रदान करने वाली यथेष्ट संस्थाएं नहीं हैं या उपखण्ड (1) में निर्धारित न्यूनतम योग्यता धारक शिक्षक काफी संख्या में नहीं मिल रहे हैं तो केन्द्र सरकार, यदि आवश्यक समझे, तो अधिसूचना के जरिए ऐसे समय तक, जो पांच वर्ष से अधिक नहीं होगा, अध्यापक की नियुक्ति के बाबत न्यूनतम योग्यताओं की आवश्यक शर्तो में ढिलाई ला सकती है।

बशर्ते कि शिक्षक इस कानून के शुरुआत में उपखण्ड 1 में वर्णित न्युनतम योग्यता वे पॉच साल में उस न्युंनतम योग्यता प्राप्त कर लेंगे।

(3) वेतन एवं भत्ते का भुगतान, शिक्षकों को सेवा नियमावली के शर्तो के मुताबिक होगा जैसा कि निर्धारित किया जाएगा।

24 (1) खण्ड 23 के उपखण्ड (1) के अनुसार नियुक्त अध्यापक निम्नांकित कार्य करेगा :–

(अ) स्कूल में नियमित रूप से समय की पाबन्दी के साथ अपनी उपस्थिति बनाए रखे।

(ब) खण्ड 29 के उपखण्ड (2) के प्रावधानों के मुताबिक पाठ्यक्रम को चलाए और पूरा करे।

(स) निर्दिष्ट समयवधि में समूचा पाठ्यक्रम पूरा करे।

(द) हर बच्चे के सीखने की क्षमता का आकलन करते हुए जरूरत पड़ने पर उसे अतिरिक्त शिक्षण प्रदान करे।

(ई) माता पिता या अभिभावकों के साथ नियमित बैठक आयोजित करे ताकि बच्चों की उपस्थिति की नियमितता, सीखने की क्षमता, सीखने की प्रगति और आवश्यक जानकारी उन्हें दी जा सके।

(एफ) वे अन्य कार्यकलाप ; जैसा कि निर्धारित किया जाएगा।

(2) उपखण्ड (1) में वर्णित कार्यों को करने में यदि कोई शिक्षक कोई चूक करता है या उन्हें पूरा नहीं करता है तो उस पर लागू होने वाले सेवा नियमों के तहत उस पर अनुशासनात्मक कार्यवाही की जाएगी। साथ ही यह भी कि इस तरह की अनुशासनात्मक कार्यवाही से पहले शिक्षक के पक्ष को सुने जाने का न्यायसंगत अवसर प्रदान किया जाएगा।

(3) निर्धारित तरीके के अनुसार शिक्षक की शिकायत का समाधान किया जाएगा।

25. (1) इस अधिनियम के लागू होने के छः माह की अवधि में उपयुक्त सरकार या स्थानीय प्राधिकारी यह सुनिश्चित करेगा कि अनुसूची में वर्णित छात्रःशिक्षक अनुपात को हर स्कूल में ठीक तरह बनाए रखा जा रहा है।

(2) उप खण्ड (1) में वर्णित छात्र शिक्षक अनुपात को बनाए रखने के लिए स्कूल में नियुक्त किसी शिक्षक से किसी अन्य स्कूल कार्यालय में कार्य नहीं लिया जाएगा न ही खण्ड 27 में वर्णित कार्यो के अलावा किन्तु शिक्षण से सम्बन्ध नहीं रखने वाला कोई कार्य कराया जाएगा।

26. उपयुक्त सरकार के या स्थानीय प्राधिकारी के स्वामित्व वाले या नियंत्रित या परोक्ष या अपरोक्ष रूप से इनके द्वारा वित्तपोषित स्कूल के नियुक्त करने वाले अधिकारी को यह सुनिश्चित करना है कि उसके नियंत्रण के स्कूल में कुल स्वीकृत स्टाफ की पृष्ठभूमि में शिक्षक की रिक्तियां 10 प्रतिशत से अधिक न जाए।

27. दस वर्षीय जनगणना, आपदा और निर्वाचन स्थानीय, राज्य विधान सभा या लोकसभा के कार्य के अलावा किसी भी शिक्षक को गैर शिक्षण कार्य में नहीं लगाया जाएगा।

28. कोई भी शिक्षक निजी ट्यूशन अथवा निजी शिक्षण के कार्य में संलिप्त नहीं होगा।

अध्याय – 5

प्रारम्भिक शिक्षा का पाठ्यक्रम और इसका पूरा किया जाना

29 (1) प्रारम्भिक शिक्षा हेतु पाठ्यक्रम और मूल्यांकन की विधि उपयुक्त सरकार के अध्यादेश द्वारा निर्धारित शैक्षणिक प्राधिकारी द्वारा किया जाएगा।

(2) उपखण्ड (1) के अनुसार पाठ्यक्रम और मूल्यांकन विधि को तय करने वाली शैक्षणिक प्राधिकारी इन बातों पर ध्यान देगा –

(अ) संविधान के निहित मूल्यों से इसकी अनुरूपता;

(ब) बच्चे का समग्रता में विकास;

(स) बच्चे के ज्ञान, संभावित क्षमता और प्रतिभा का विकास;

(द) शारीरिक एवं मानसिक योग्यताओं का पूर्णतम सीमा तक विकास;

(ई) बाल–केन्द्रित और बाल सुलभ तरीके से विभिन्न क्रियाकलापों, अन्वेषण और खोज के माध्यम से सीख उत्पन्न करना;

(फ) जहाँ तक हो सके पढ़ाई का माध्यम बच्चे की मातृभाषा हो;

(जी) बच्चे को भय, सदमा और चिन्ता मुक्त बनाना और उसे अपने विचारों को खुल कर कहने में सक्षम बनाना;

(एच) बच्चे के ज्ञान की समझ और इस व्यवहार में लाने की योग्यता का व्यापक और निरन्तर मूल्यांकन;

30 (1) प्रारम्भिक शिक्षा को पूरा करने से पहले किसी बच्चे को बोर्ड की परीक्षा पास करना जरूरी नहीं होगा।

(2) प्रारम्भिक शिक्षा को पूरा करने वाले हर बच्चे को निर्धारित तरीके और प्रारूप पर प्रमाण पत्र प्रदान किया जाएगा।

अध्याय – 6

बाल अधिकार का संरक्षण

31 (1) खण्ड 3 के तहत गठित राष्ट्रीय बाल अधिकार संरक्षण आयोग तथा राज्य बाल अधिकार संरक्षण आयोग (बाल अधिकार संरक्षण आयोग अधिनियम 2005 के तहत) उक्त अधिनियम के तहत उनके द्वारा किए जाने वाले कार्यो के अलावा निम्न कार्य भी करेंगे।

(अ) इस अधिनियम के तहत दिए गए अधिकारों की जांच और समीक्षा और इनके प्रभावी क्रियान्वयन हेतु अपनाये जाने वाले उपायों की अनुशंसा करना।

(ब) निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा के बच्चे के अधिकार से सम्बन्धित शिकायतों की जांच करना, एवं

(स) उक्त बाल अधिकार संरक्षण आयोग अधिनियम के खण्ड 15 एवं 24 में किए गए प्रावधानों के मुताबिक आवश्यक कार्यवाही करना

(2) धारा (ब) और उप धारा (स) में वर्णित बच्चे की निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा के अधिकार से सम्बन्धित किसी मामले में जांच करते समय भी उक्त आयोगों को वही शक्तियाँ प्राप्त हैं जो बाल अधिकार संरक्षण आयोग अधिनियम के खण्ड 14 और 24 के अन्तर्गत उन्हें प्राप्त हैं।

(3) जहाँ किसी राज्य में यदि बाल अधिकार संरक्षण आयोग गठित नहीं हुआ है, उपयुक्त सरकार उपखण्ड (1) के (अ) से लेकर (ब) धाराओं में वर्णित कार्यो के संचालन हेतु एक प्राधिकारी का गठन कर सकती है जिस बावत शर्तें निर्धारित की जा सकती हैं।

32 (1) खण्ड 31 में वर्णित तथ्यों के रहते हुए भी कोई व्यक्ति इस अधिनियम के तहत बच्चे के अधिकार से सम्बन्धित तकलीफ को उचित कार्य क्षेत्र वाले स्थानीय प्राधिकारी के समक्ष लिखित शिकायत कर प्रस्तुत कर सकता है।

(2) उपखण्ड (1) के तहत शिकायत प्राप्त करने के उपरान्त स्थानीय प्राधिकारी सम्बद्ध पक्षकारों को न्यायसंगत अवसर प्रदान करने के बाद तीन महीने की अवधि में मामलें में निर्णय लेगा।

(3) स्थानीय प्राधिकारी के निर्णय से असन्तुष्ट व्यक्ति राज्य बाल अधिकार संरक्षण आयोग या खण्ड के उप खण्ड (3) में वर्णित प्राधिकारी के पास अपील दाखिल कर सकता है।

(4) उपखण्ड 3 के तहत अपील राज्य बाल अधिकार संरक्षण आयोग अथवा खण्ड 31 उपखण्ड (3) के तहत निर्दिष्ट प्राधिकारी के पास दाखिल की जा सकती है।

33 (1) केन्द्र सरकार अधिसूचना के जरिए राष्ट्रीय सलाहकार परिषद् गठित करेगी जिसमें 15 से अधिक सदस्य नहीं होंगे। सदस्यों में प्रारम्भिक शिक्षा और बाल विकास के विशेषज्ञ और व्यवहारिक ज्ञान सम्पन्न व्यक्तियों में से चुने हुए लोग होंगे।

(2) राष्ट्रीय सलाहकार परिषद् केन्द्र सरकार को इस अधिनियम का क्रियान्वयन प्रभावी तरीके से करने के लिये परामर्श देना का कार्य भी करेगा।

(3) राष्ट्रीय सलाहकार परिषद् के सदस्यों के भत्ते और नियुक्ति की अन्य सेवा शर्तें निर्धारित की जाएंगी।

34 (1) राज्य सरकार अधिसूचना के जरिए राज्य सलाहकार परिषद् गठित करेगी जिसमें 15 से अधिक सदस्य नहीं होंगे सदस्यों में प्रारम्भिक शिक्षा और बाल विकास के विशेषज्ञ और व्यवहारिक ज्ञान सम्पन्न व्यक्तियों में से चुने हुए लोग होंगे।

(2) राज्य सलाहकार परिषद् राज्य सरकार को इस अधिनियम का क्रियान्वयन प्रभावी तरीके से करने के लिये परामर्श देना का कार्य भी करेगा।

(3) राज्य सलाहकार परिषद् के सदस्यों के भत्ते और नियुक्ति की अन्य सेवा शर्ते निर्धारित की जाएंगी।

अध्याय – 7

अन्य प्रासंगिक बातें

35 (1) इस अधिनियम के प्रावधानों के क्रियान्यवन हेतु केन्द्र सरकार उपयुक्त सरकार और स्थानीय प्राधिकारी को संबंधित मार्गदर्शन जारी कर सकती है।

(2) उपयुक्त सरकार स्थानीय प्राधिकारी को या स्कूल प्रबन्धकारिणी समिति को इस अधिनियम के प्रावधानों के क्रियान्वयन हेतु संबंधित मार्गदर्शन या जैसा उपयुक्त समझे वैसा दिशानिर्देश जारी कर सकती है।

(3) स्थानीय प्राधिकारी को या स्कूल प्रबन्धकारिणी समिति को इस अधिनियम के प्रावधानों के क्रियान्वयन हेतु संबंधित मार्गदर्शन या जैसा उपयुक्त समझे वैसा दिशानिर्देश जारी कर सकती है।

36. उपयुक्त सरकार की अधिसूचना द्वारा प्राधिकृत अधिकारी से पूर्व–स्वीकृति लिए बिना खण्ड 13 के उप खण्ड (2) खण्ड 18 के उपखण्ड (5) और खण्ड 19 के उपखण्ड (5) में वर्णित दण्डित हो सकने वाले अपराधों हेतु किसी व्यक्तिपर न्यायिक प्रक्रिया नहीं चलाई जा सकेगी।

37. इस अधिनियम अथवा इसके बावत बनाये गए नियमों के पालन में सच्चे विश्वास के साथ केन्द्र सरकार, राज्य सरकार, केन्द्रीय बाल अधिकार संरक्षण आयोग, राज्य बाल अधिकार संरक्षण आयोग, स्थानीय प्राधिकारी, स्कूल प्रबन्धन समिति और इस अधिनियम से जुड़े किसी व्यक्ति द्वारा किए गए कार्य पर कोई मुकदमा या वैधिक प्रक्रिया नहीं चलाई जा सकेगी।

38 (1) उपयुक्त सरकार अधिसूचना के जरिए इस अधिनियम के प्रावधानों के क्रियान्वयन हेतु नियम बना सकती है।

(2) ऊपर वर्णित सब सामान्य और खास बातों के मद्देनजर ये नियम नीचे लिखी सब बातों या इनमें से किसी के बारे में होगें :–

(अ) खण्ड 4 के पहले प्रोवीजो के मुताबिक विशेष प्रशिक्षण प्रदान करने और उसकी समय–सीमा से सम्बन्धित;

(ब) पड़ोस के स्कूल की स्थापना हेतु क्षेत्रफल और सीमाएं (खण्ड 6 के तहत)

(स) खण्ड 9 के क्लॉज (क) के अनुरूप 14 वर्ष तक के बच्चों के प्रलेखों (रिकार्ड) के रखरखाव के तरीके से सम्बन्धित

(द) खण्ड 12 के उपखण्ड (2) में वर्णित खर्चे की प्रतिपूर्ति की सीमा और तरीका

(ई) खण्ड 14 के उपखण्ड 1 के तहत बच्चे की आयु के निर्धारण हेतु कोई अन्य दस्तावेज

(एफ) खण्ड 15 के तहत दाखिले हेतु बढ़ाई गई समय सीमा और बढ़ी हुई समय सीमा के बाद दाखिला होने की दशा में अध्ययन पूरा करने का तरीका

(जी) खण्ड 18 के उपखण्ड (1) के तहत मान्यता प्रमाण–पत्र प्राप्त करने हेतु आवेदन के प्रारूप और आवेदन देने का तरीका

(एच) खण्ड 18 के उपखण्ड (2) के तहत मान्यता प्रमाण–पत्र प्राप्त करने हेतु आवेदन के प्रारूप तथा उनके देने के तरीके के बाबत

(आई) खण्ड 18 उपखण्ड 13 के दूसरे प्रोविजो के मुताबिक सुनवायी के अवसर प्रदान करने के तरीके के बारे में

(जे) खण्ड 21 के उपखण्ड (2) के क्लॉज (द) के तहत स्कूल प्रबन्धन समिति के अन्य कार्यो के बारे में

(के) खण्ड 22 के उपखण्ड (1) के तहत स्कूल विकास योजना तैयार करने का तरीका

(एल) खण्ड 23 उपखण्ड (3) के तहत शिक्षक को दिए जाने वाले वेतन भत्ते और सेवा की शर्तो के बावत

(एम) खण्ड 24, उपखण्ड (1) के क्लॉज (एफ) के तहत शिक्षक द्वारा किए जाने वाले कार्यो की सूची

(एन) खण्ड 24 उपखण्ड (3) के तहत शिक्षकों की शिकायतों के समाधान का तरीका

(ओ) खण्ड 30 के उपखण्ड (2) के अनुसार प्रारम्भिक शिक्षापूर्ति के प्रमाण–पत्र का प्रारूप और तरीका

(पी) खण्ड 31 के उपखण्ड 3 के मुताबिक राष्ट्रीय सलाहकार परिषद् के सदस्यों की नियुक्ति की शर्ते तथा उन्हें मिलने वाले भत्तों से सम्बन्धित

(क्यू) खण्ड 33 के उपखण्ड 3 के मुताबिक राष्ट्रीय सलाहकार परिषद् के सदस्यों की नियुक्ति की शर्तो तथा उन्हें मिलने वाले भत्तों के बारे में

(आर) खण्ड 34 के उपखण्ड 3 के मुताबिक राज्य सलाहकार परिषद् के सदस्यों की नियुक्ति की शर्तो तथा उन्हें मिलने वाले भत्तों के बारे में

(3) इस अधिनियम के तहत केन्द्र सरकार द्वारा हर नियम, खण्ड 20 और 23 के अन्तर्गत जारी हर अधिसूचना संसद के दोनों सदनों के सामने रखी जाएगी (जब वह सेशन में होंगे) कुल 30 दिन के लिए। यह अवधि एक सेशन अथवा दो और अधिक सेशन से मिलाकर भी हो सकती है। अगर दोनों सदन नियम या अधिसूचना में किसी प्रकार के संशोधन पर सहमत है या असहमत है तो नियम या अधिसूचना इसी संशोधित स्वरूप में प्रभावी मानी जाएगी अन्यथा नहीं। इस संशोधन या निरस्तीकरण का पिछली किसी भी नियम या अधिसूचना की वैधता या कार्यवाही पर कोई असर नहीं पड़ेगा न हीं उससे प्रभावित माना जाएगा।

इस अधिनियम के तहत राज्य सरकार द्वारा हर नियम, हर अधिसूचना विधानसभा/मंडल के सामने रखी जाएगी।

अनुसूची
स्कूल हेतु मानक एवं मापदंड
(देखें 19 और 25)

क्र सं	विषय	मानक और मापदण्ड	
1	शिक्षकों की संख्या (अ) पहली से पांचवी कक्षा तक	दाखिला प्राप्त बच्चे	शिक्षकों की संख्या
		साठ तक;	दो
		इकसठ से नब्बे के मध्य;	तीन
		इक्यानवे से एक सौ बीस के मध्य;	चार
		एक सौ पचास से ऊपर बच्चों पर ;	पांच और एक प्रधानाध्यापक
		दो सौ से ऊपर बच्चों पर	छात्र शिक्षक अनुपात चालीस से अधिक नहीं (प्राधानाध्यापक को छोड़ कर)
	(ब) छठी से आठवीं कक्षा तक	(1) कम से कम एक शिक्षक प्रति कक्षा ताकि प्रत्येक के लिये कम से कम एक शिक्षक हो जाए - (1) विज्ञान और गणित; (2) सामाजिक विज्ञान; (3) भाषाओं के लिए कम; (2) प्रति पैतींस बच्चे पर एक शिक्षक ; (3) जब बच्चों का दाखिला सौ से ऊपर हो (1) एक पूर्णकालिक प्रधानाध्यापक (2) निम्न के लिये अंशकालिक अनुदेशक (इन्स्ट्रक्टर) (अ) कला शिक्षण (ब) स्वास्थ्य और शारीरिक शिक्षण (स) कार्य शिक्षण	

3	कार्यदिवसों की न्यूनतम संख्या / शैक्षणिक घन्टे प्रति शैक्षणिक वर्ष	(1) पहली से पांचवी कक्षा तक दो सौ कार्य दिवस। (2) छठी से आठवीं कक्षा तक दो सौ बीस कार्य दिवस। (3) पहली कक्षा से पांचवी कक्षा तक प्रति शैक्षणिक वर्ष आठ सौ शैक्षणिक घंटे। (4) छठी कक्षा से आठवीं कक्षा तक प्रति शैक्षणिक वर्ष एक हजार शैक्षणिक घंटे।
4	शिक्षक के लिए प्रति सप्ताह कार्य घन्टों की न्यूनतम संख्या	पैंतालिस शैक्षणिक घन्टे जिनमे तैयारी के घन्टे भी शामिल हैं
5	सीखने-सिखाने की सामग्री	हर कक्षा में आवश्यकतानुसार प्रदान की जाएगी
6	पुस्तकालय	हर स्कूल में एक पुस्तकालय होगा जहाँ दैनिक समाचार, पत्र पत्रिकाएं और कहानियां समेत हर विषय पर पुस्तकें होंगी।
7	खेल कूद के उपकरण	हर कक्षा को आवश्यकता अनुसार प्रदान किए जाएंगे।

टी0के0 विश्वनाथन

सचिव, भारत सरकार

इकाई क्र. 4 आधुनिक समाज में शिक्षा से अपेक्षाएँ

निर्देश–सम्पूर्ण विषय वस्तु के लिए 'विकासोन्मुखी भारतीय समाज में शिक्षा एवं शिक्षक की भूमिका (पुराने पाठ्यक्रम से अध्ययन करें)

❁❁❁❁❁❁❁

इकाई क्र. 5 – वैकल्पिक सोच व प्रयोग

(शासकीय तंत्र में प्रयोग)

पठन सामग्री क्र. 13

प्राशिका

(प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम)

बच्चों के सहज विकास के साथ तालमेल बिठाते हुए स्कूलों में प्राथमिक शिक्षण के काम को आयोजित करने के अनेकों प्रयास देश–प्रदेश में और बाहर भी बहुत गंभीरता से किए जा रहे हैं। एकलव्य संस्था द्वारा भी इस दिशा में एक कार्यक्रम के निर्माण की शुरुआत सन 1983 से की गई। होशंगाबाद जिले के बच्चों के साथ भाषा, गणित और अन्य बौद्धिक क्रियाओं से संबंधित सर्वे के आधार पर बच्चों, शिक्षकों, विश्वविद्यालयीन स्त्रोत व्यक्तियों व अन्य संगठनों के कार्यकर्त्ताओं के साथ चर्चा–परिचर्चा, विचारों के परीक्षण, साहित्य व सामग्री की खोजबीन और समीक्षा के बाद इस कार्यक्रम का प्रस्ताव स्वरूप लेने लगा।

यह पठन सामग्री रत्न सागर प्रा.लि. द्वारा प्रकाशित 'प्राशिका, एकलव्य का प्राथमिक शिक्षा में अभिनव प्रयोग' नामक पुस्तक से आवश्यक संशोधन कर ली गई है।

यह कार्यक्रम सन 1987 में मध्यप्रदेश शासन की स्वीकृति और राज्य शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद के सहयोग से होशंगाबाद के हरदा विकास खण्ड और बैतूल के आदिवासी बहुल विकासखण्ड शाहपुर में चुनी हुई सात शालाओं में और आगे जा कर सन 1987 से पच्चीस शालाओं में एकलव्य द्वारा विकसित प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम प्रयोग के तौर पर लागू हुआ। कक्षा एक से कक्षा पांच तक की शिक्षण–सामग्री व पाठय पुस्तकों का विकास, परीक्षण, व संशोधन होता गया। शिक्षक–प्रशिक्षण का स्वरूप और बच्चों के सतत मूल्याकन एवं बोर्ड परीक्षा का स्वरूप भी विकसित हुआ। जुलाई 1995 से 2002 तक शाहपुर विकास खण्ड की सभी शालाओं में इस कार्यक्रम का क्षेत्र परीक्षण हुआ। क्र

प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम यानी प्राशिका का सूत्रपात वर्ष 1983 में हुआ था। कार्यक्रम के बीज उन चर्चाओं के दौरान पड़े थे जो होंशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम (होविशिका) में जुड़े समूह के कुछ सदस्यों और दिल्ली विश्वविद्यालय के भाषाविज्ञान विभाग के कुछ शिक्षकों व छात्रों के बीच हुई थी। मिडिल स्कूल के बच्चों में पढ़कर समझने व लिखने के हुनर का जो स्तर था उसे लेकर गहरी चिंता, या यों कहें कि निराशा थी। यह साफ़ था कि इन छात्रों की भाषाई क्षमताएँ बढ़ाने के लिए संजीदा प्रयास करने होंगे। इस बात से सभी इत्तफाक रखते हैं कि छठी कक्षा के एक बारह वर्षीय छात्र में इतनी न्यूनतम क्षमता होनी चाहिए कि वह सरल हिंदी के किसी पाठ को अपने आप पढ़–समझ सके और समुचित व सुसंगत ढंग से अपने आपको व्यक्त कर सके।

समेकन

बच्चों की भाषाई व गणितीय क्षमताओं की छानबीन और संभावित विकल्पों की खोज लगभग वर्ष 1986 तक एक–दूसरे से स्वतंत्र चलती रहीं। ऐसा लगने लगा कि दो परस्पर स्वतंत्र कार्यक्रम उठाए जाएंगे– एक भाषा पर केंद्रित और दूसरा गणित पर केंद्रित परन्तु भाषा व गणित शिक्षण के साझा सिद्धांतों, भाषा व गणित दोनों को सीखने में निहित समान संज्ञान क्षमताओं के विकास की संभावना और ऊपर वर्णित स्कूली हालातों के मद्देनजर भाषा समूह धीरे–धीरे एक एकीकृत पाठ्यक्रम की ओर बढ़ने लगा।

वर्ष 1986 के आसपास भाषा व गणित पर काम कर रहे समूहों ने प्राशिका के लिए रास्ता साफ़ कर दिया और स्कूलों में एक आजमाइशी एकीकृत पाठ्यक्रम शुरू किया गया – एक बैतूल जिले में शाहपुर में तथा दूसरा होशंगाबाद जिले में हरदा में।

वर्ष 1987 में 7 स्कूलों में कक्षा 1 में शासकीय पाठ्यक्रम के स्थान पर प्राशिका कार्यक्रम लागू किया गया– 4 स्कूल शाहपुर में थे तथा 3 स्कूल हरदा में।

वर्ष 1989 तक यह संख्या बढ़कर 25 हो गई। राज्य शासन ने ये स्कूल पूरी तरह प्राशिका को सौंप दिए अर्थात् प्राशिका इन स्कूलों में नवाचारी शिक्षण सामग्री आज़मा सकता था, शिक्षक प्रशिक्षण शिविर आयोजित कर सकता था, शिक्षण पद्धति में बदलाव कर सकता था और मूल्यांकन की नई विधियाँ विकसित कर सकता था। अब चलते हैं प्राशिका की दुनिया में–

प्राशिका की दुनिया

प्राशिका एक ऐसा अनूठा उदाहरण है जिसमें बच्चों, शिक्षकों, सामाजिक कार्यकर्ताओं, विश्वविद्यालयों के छात्रों, शिक्षकों, शिक्षाविदों व प्रशासन का सक्रिय व उत्पादक योगदान रहा। उपरोक्त सर्वेक्षण तथा कार्यक्रम का भावी विकास इन सब लोगों के बीच गतिशील व निरन्तर सम्पर्क–सहयोग की बदौलत ही संभव हुआ। वर्ष 1986–92 के दरम्यान प्राशिका ने इन स्कूलों में जो कुछ किया, उसकी कहानी आगे दी गई है।

मान्यताएं व सिद्धांत– प्राशिका में शिक्षार्थी तथा उनके सीखने की प्रवृत्ति, पाठ्यक्रम, पाठ्यसामग्री, शिक्षकों एवं मूल्यांकन सम्बंधी कुछ मान्यताएँ व सिद्धांत निहित थे, जो इस प्रकार है–

शिक्षार्थी– शिक्षार्थी अर्थात बच्चों के सम्बंध में निम्नांकित मान्यताएँ व सिद्धांत इस कार्यक्रम के मूल में थे–

- हर बच्चे में ज्ञान अर्जित करने की अनन्त क्षमता होती है।
- स्कूल में बच्चे काफी ज्ञान से लैस होकर पहुँचते हैं। यह ज्ञान, सारे सीखने की बुनियाद है।
- रचनात्मक व सार्थक शिक्षण तभी संभव है जब बच्चों व शिक्षक के बीच गतिशील अन्तर्क्रिया हो। यह समझना गलत है कि बच्चे खाली घड़े है जिनमें ज्ञान भरा जाना है।
- यह जरूरी है कि बच्चे की प्रकृति का आदर किया जाए।

सीखने की प्रवृत्ति– सीखने की प्रवृत्ति के संदर्भ में निम्नांकित मान्यताओं व सिद्धांतों को कार्यक्रम के केनद्र में रखा गया था–

- सीखना कोई ऐसी कतारबद्ध प्रक्रिया नहीं है जिसमें एक के बाद एक चीजें निश्चित क्रम में जुड़ती जाएँ। यह हमेशा उपयुक्त नही होता कि किसी जटिल चीज़ को टुकडों में बाँटकर चरण दर चरण सिखाया जाए और उम्मीद की जाए कि सारे टुकडों को अलग–अलग सीखने की इस प्रक्रिया से पूरी चीज की समझ आ जाएगी।
- सामूहिक चिंतन, सामूहिक विचार–विमर्श तथा ताक्रिक व्याख्या तलाश करने की प्रक्रिया से उम्दा शिक्षण हो सकता है।
- इनपुट व आउटपुट के बीच तत्काल किसी कार्यकारण सम्बंध की उम्मीद करना खतरनाक है। बच्चों के सीखने की रफ्तार में काफी अन्तर होते हैं। उनके सीखने के रास्ते कई बार एक जैसे होते हैं। बच्चा/बच्ची जो भी सीखेगा/सीखेगी उसमें अपना नवाचार जरूर जोड़ देगा/देगी।
- गलतियों को भटकाव न मानकर सीखने की प्रक्रिया का अनिवार्य कदम मानना चाहिए।
- सीखने का काम सीखने वाले के सामाजिक–सांस्कृतिक परिवेश से जुड़ा होता है। शिक्षण में संदर्भयुक्त से संदर्भमुक्त सामग्री की ओर क्रमिक विकास होना चाहिए।

पाठ्यक्रम एवं पाठ्यसामग्री कुछ मान्यताएँ निम्नांकित थे–

- सीखने वाले की जरूरतें और आकांक्षाएं पाठ्यक्रम निर्माण प्रक्रिया का मूल बिन्दु हैं।
- सीखने में संज्ञानात्मक तत्वों का एक निश्चित क्रम होता है। पाठ्यक्रम का तालमेल बच्चे की संज्ञान सम्बंधी अवस्था से होना चाहिए।
- पाठ्यक्रम में जानकारी या हुनर रूपी उत्पाद की बजाय प्रक्रिया पर बल दिया जाना चाहिए। इससे बच्चे को मात्र जानकारी रटने की बजाय उसे समझने में मदद मिलेगी। इससे बच्चे में विश्लेषण का हुनर भी विकसित होगा।
- एक मायने में ज्ञान एकीकृत होता हे। इस ज्ञान की विभिन्न ''विषयों' में विभाजन बनावटी है। एक ही सामग्री का उपयोग प्रायः कई मकसद से किया जा सकता है, जैसे भाषा सम्बंधी हुनर, गणितीय कौशल के विकास या सामाजिक जागरूकता के विकास हेतु।
- पाठ्यक्रम में गतिशीलता होनी चाहिए। पाठ्यक्रम मात्र निर्धारित पाठ्यपुस्तकों से बंधा न हो। इसमें स्कूल के बाहर की दुनिया के लिए भी स्थान होना चाहिए और बच्चे व शिक्षक की सृजनशीलता के लिए भी।
- पाठ्य–सामग्री बच्चों के संज्ञान स्तर की हो तथा उसमें भावी विकास के लिहाज़ से पर्याप्त चुनौती हो।
- जानकारी–आधारित सामग्री तोता रटंत को बढ़ावा देती है और सीखने की प्रक्रिया में बाधा बनती है।

- सामग्री ऐसी हो जो बच्चों के परिवेश, उनकी संस्कृति व उनके इतिहास के प्रति संवेदनशील हो। अलग–अलग क्षेत्रों के बच्चों की रूचियां और पूर्व अनुभव अलग–अलग हो सकते हैं। सामग्री में ऐसी गुंजाइश होनी चाहिए कि उसे परिस्थिति के अनुरूप ढाला जा सके।
- फंतासी, हास्य तथा शब्दों से खिलवाड़ सीखने की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं तथा सामग्री का निर्माण करते समय इन्हें अछूत नहीं माना जाना चाहिए।
- पत्थर, बीज, टहनी, रेत, पानी जैसी कुदरती रूप से उपलब्ध सामग्री का इस्तेमाल करना जरूरी है। इसी प्रकार से समुदाय विशेष में प्रचलित कविताओं, कहानियों, पहेलियों, मुहावरों आदि का भी इस्तेमाल किया जा सकता है। जो भी नई सामग्री जोड़ें वह सस्ती, आसानी से उपलब्ध, लचीली तथा बारम्बार उपयोग के लायक होनी चाहिए।
- किसी भी सामग्री की संभावनाओं की छानबीन सावधानीपूर्वक की जानी चाहिए। एक ही सामग्री–सेट से कई उद्वेश्य पूरे किए जा सकते हैं।
- सामग्री में काफी निहित लचीलापन हो ताकि विभिन्न क्षमताओं वाले बच्चे अलग–अलग बिन्दुओं से शुरू करके इनका उपयोग कर सकें। सामग्री ऐसी हो कि बच्चे बार–बार आसान व बुनियादी अवधारणाओं के संपक्र में आ सकें।

13. शिक्षक

- यदि अवसर मिले तो शिक्षक आश्चर्यजनक रूप से नवाचारी और सृजनशील हो सकते हैं। उन्हें कठोरता से निर्धारित कार्यक्रम में नहीं बांधा जाना चाहिए।
- शिक्षा से जुड़े सभी मुद्दों पर शिक्षकों का योगदान प्राप्त किया जाना चाहिए और उसका सम्मान किया जाना चाहिए। पाठ्यक्रम, शिक्षण सामग्री व शिक्षण पद्धति के नियोजन में उनका हाथ होना चाहिए।
- शिक्षकों को नए विचारों, पद्धतियों व सामग्रीयों से परिचित कराने तथा उनके अनुभवों से सीखने के लिए जरूरी है कि प्रशिक्षण भागीदारीपूर्ण तथा अन्तर्क्रिया पूर्ण (दो तरफा अन्तर्क्रिया पूर्ण) हो।
- शिक्षक की भूमिका मूलतः मददगार की होनी चाहिए।

14. मूल्याकंन सम्बंधित कुछ मान्यताएँ

- मूल्याकंन या आकलन समग्र होना चाहिए। इसमें सीखने–सिखाने से सम्बंधित हर पहलू शामिल होना चाहिए, न कि मात्र सीखने वाले।
- मूल्याकंन से हमें शिक्षार्थी व शिक्षक की क्षमताएं व कमजोरी दोनों समझने में मदद और तदनुसार शिक्षण सामग्री व कार्यक्रम के नियोजन में मदद मिलनी चाहिए।
- मूल्याकंन ऐसा न हो कि शिक्षार्थी डर जाए। उसे अपने बचाव का पूरा अवसर मिलना चाहिए। मूल्यांकन पीड़ादायक नहीं, खुशनुमा और दोस्ताना प्रक्रिया होनी चाहिए।

- एकमुश्त सालाना इम्तहान प्रणाली भयावह बन ही जाती है। समय–समय पर विभिन्न सामान्य गतिविधियाँ, सामूहिक चर्चा, घर पर करने के कार्य आदि मूल्याकंन के आधार बनने चाहिए।
- मूल्यांकन का मकसद बच्चों को रोकना नहीं होना चाहिए। सतत् मूल्याकंन पाठ्यक्रम में निहित फीडबैक का आधार बन सकता है।
- बच्चे का मूल्याकंन हमेशा किसी बाहरी कसौटी के आधार पर नहीं किया जाना चाहिए। मूल्यांकन का आधार उसका अपना विगत प्रदर्शन और पूरी कक्षा का प्रदर्शन होना चाहिए।
- कई बच्चे किसी एक पहलू में 'कमजोर' होते हैं मगर हो सकता है कि वे किसी अन्य पहलू मे ंमजबूत साबित हों। कोई बच्चा/बच्ची अगर समस्याएँ सुलझाने में सिद्धहस्त हो सकता/सकती है तो कोई अन्य चित्र बनाने या कहानी कहने में।
- मूल्यांकन के लिए जो गतिविधियाँ चुनी जाएँ वे आमतौर पर कक्षा में की जाने वाली गतिविधियों से अलग तो हों, मगर उसी स्तर और उसी किस्म की हों।

पाठ्यक्रम–

प्राशिका का पाठ्यक्रम एक ऐसा धुरी था जिसके इर्द–गिर्द कार्यक्रम के शेष पहलू निर्मित थे। पाठ्यक्रम बनाने की प्रक्रिया में स्कूलों की भौतिक परिस्थितियों, मौसमों के वार्षिक चक्र, कृषि व वाणिकी कार्य और त्योंहारों, बच्चों व शिक्षकों की सांस्कृतिक व सामाजिक–आर्थिक पृष्ठभूमि का ध्यान रखा गया था और इसके अलावा बाल विकास, भाषा सीखने, गणित आदि के बारे में जो आधुनिक विचार हैं, उनका उपयोग पाठ्यक्रम में किया गया।

वर्ष 1986 से 1992 के दरम्यान प्राशिका में कक्षा 1 से 2 का कक्षावार पाठ्यक्रम विकसित किया गया। पाठ्यक्रम दो हिस्सों में बंटा था– कक्षा 1 व 2 का पाठ्यक्रम का एक हिस्सा और कक्षा 3, 4 व 5 का पाठ्यक्रम दूसरा हिस्सा था। दोनों हिस्सों की संकल्पना अलग–अलग ढंग से की गई थी। अतः दोनों हिस्सों की सामग्री विषयवस्तु व स्वरूप के लिहाज़ से अलग–अलग किस्म की थी। प्राशिका के सामने सबसे पेचीदा समस्या यह रही कि कैसे एक ओर हुनर–समूहों (कक्षा 3 से 5 तक के पाठ्यक्रम को विषयों के स्प में नहीं बल्कि हुनर के रू‍प में परिभाषित किया गया था) के आधार पर एक पाठ्यक्रम बनाया जाए और फिर उसके आधार पर अलग–अलग विषयों की स्थापना की जाए। यह सही है कि कुछ बुनियादी हुनर ऐसे हैं जो विषयगत सीमाओं से स्वतंत्र है ंमगर साथ ही हर विषय की दुनिया को समझने की अपनी विशिष्ट मूल अवधारणाएँ भी हैं।

कक्षा 1 व 2 का पाठ्यक्रम–

कक्षा 1 व 2 का पाठ्यक्रम बनाने की केंद्रीय बुनियाद यह है कि उन हुनर व क्षमाताओं को पहचाना जाए जिनके आधार विशिष्ट अवधाराणाओं के विकास का रास्ता खुल सकता है।

इन कक्षाओं में बुनियादी लक्ष्य ये थे–

1. बच्चों की हिचक दूर हो और वे सक्रिय रूप से कक्षा की गतिविधियों में भाग लेने लगें।
2. उनकी समझ का स्तर उठाने हेतु हर संभव प्रयास किया जाए।
3. उन हुनर व अवधाराणाओं का विकास किया जाए जो भाषा व गणित के बुनियादी हुनर सीखने के आधार हैं।
4. कविताओं, कहानियों, भूमिका निर्वाह, पहेलियों आदि के जरिए भाषा से समृद्ध संपक्र का अवसर उपलब्ध कराया जाए।

इन दोनों कक्षाओं के पाठ्यक्रम चरणबद्ध थे। कक्षा 1 के पाठ्यक्रम में तीन चरण थे। जबकि कक्षा 2 में दो चरण। इन चरणों का एक निश्चित क्रम था। ये चरण मोटे तौर पर ताक्रिक व गणितीय क्षमताओं के विकास के पियाजेवादी ढांचे में वर्णित क्रम पर आधारित थे। यह तो स्पष्ट था कि बच्चे विविध ठोस चीजों के साथ अन्तक्रिया के जरिए ही क्रमशः औपचारिक क्रिया अवस्था तक पहुंचेंगे।

कुछ बुनियादी तत्व ये थे–

1. खुद खोज करने का तरीका।
2. खुद करके व अनुभूति से सीखना।
3. परिचित से अपरिचित की ओर बढ़ना।
4. ज्ञान के बुनियादी ढांचों की क्रमबद्धता।

कुछ ऐसी क्षमताएँ हैं जो पढ़ने या गणित जैसे अमूर्त हुनर अर्जित करने से पूर्व आएंगी। इससे पहले कि बच्चा सार्थक ढंग से पढ़ या लिख सके, यह जरूरी होगा कि उसका संपक्र ढेर सारी ऐसी भाषाई सामग्री से हो जो उसे रोचक लगे और जो उसे प्रेरित करे कि वह इसका उपयोग अपने सहपाठियों के साथ बातचीत में करे। इसी प्रकार से जोड़, गुणा आदि जैसी अमूर्त क्रियाएँ सीखने से पहले जरूरी होगा कि वह छँटाई व तुलना, एक–एक की संगति, गुणधर्मों के आधार पर समूहीकरण, 'एक और' की अवधाराणा तथा संख्या, दूरी के संरक्षण आदि से परिचित होने की पूर्व शर्त पूरी कर ले। यदि जानकारी को बगैर समझे जमा किया गया, तो शिक्षार्थी इसके आधार पर कोई उपयोगी सामान्यीकरण नहीं कर पाएगा और न ही जानकारी के विभिन्न टुकड़ों के बीच के परस्पर सम्बंध समझ पाएगा।

शुरूआत में पाठ्यक्रम को महीनेवार खाके में बनाया गया था किन्तु आगे चलकर इसे चरणों में बाँट दिया गया ताकि क्रियान्वयन में लचीलापन आ सके। लिहाजा पाठ्यक्रम मात्र एक कंकाल थे। स्कूल के हालात तथा बच्चों की जरूरतों के मद्देनजर शिक्षक इस पर मांस का आवरण चढ़ा सकते थे। यानी यह मुमकिन था कि देहाती व शहरी स्कूलों में, परिस्थिति के अनुसार, अलग–अलग समय पर अलग–अलग पहलुओं पर बल दिया जा सकता था।

कक्षा 1 के पहले चरण में खास तौर से इस बात पर ध्यान दिया गया था कि जिस समुदाय के बीच कार्यक्रम चल रहा था, वहाँ 'स्कूल' व 'स्कूल जाना' अपेक्षाकृत नई चीजें हों। यहाँ ऐसी कोई जोरदार बाहरी प्रेरणा नहीं है कि जिसकी वजह से बच्चे स्कूल जाएँ। अतएव स्वयं पाठ्यक्रम में ही यह प्रेरणा उपलब्ध कराने का प्रयास किया गया था। यह भी देखा गया कि स्कूल के क्रियाकलापों में भाग लेने के

लिए जिस ढंग के सामाजीकरण की जरूरत होती है वह इस समुदाय में मौजूद नहीं थी। इसलिए कक्षा 1 के पहले चरण में कोशिश यह था कि बच्चा/बच्ची नियमित रूप से स्कूल आने में रूचि लेने लगे, कक्षा की बनावट को समझ और कक्षा की गतिविधियों में भाग लेने की स्थिति में पहुँच पाए।
पाठ्यक्रम में कई गतिविधियों का उल्लेख थे। इनमें हाथों के बारीक कामकाज से लेकर ठोस वस्तुओं की मदद से जोड़ना–घटाना या लिखित सामग्री से परिचित होना शामिल था।

पूरी कोशिश का एक अहम् पहलू यह था कि शिक्षार्थी पर संज्ञानात्मक बोझ न पड़े। पाठ्यक्रम के लक्ष्यों का निर्धारण इस आधार पर नहीं किया गया कि बच्चों को क्या हासिल कर लेना चाहिए, बल्कि इस आधार पर किया गयौ कि सामान्यतः क्या हासिल किया जा सकता है। अतः यह अपेक्षा नहीं थी कि कक्षा 1 में बच्चे 20 तक की गिनती से आगे जाएँगे। यह भी उम्मीद नहीं थी कि कक्षा 1 में वे पढ़ना सीख जाएँ। ठोस, मौखिक व अवलोकनात्मक गतिविधियों के अलावा खुशी–खुशी नामक एक कार्यपुस्तिका भी थी। इसका इस्तेमाल कक्षा 1 आधी बीत जाने तक शुरू नहीं किया जाता था।

कक्षा 3 से 5 तक के पाठ्यक्रम

पाठ्यक्रम की वैकल्पिक संकल्पना कार्यक्रम के दूसरे भाग यानी 3, 4 व 5 में और स्पष्ट होती थी। इस भाग में पाठ्यक्रम को विषयों के रूप में नहीं, बल्कि हुनर के रूप में परिभाषित किया गया था। ये हुनर निम्नानुसार थे–

1. समझ
2. अभिव्यक्ति व लिपिबद्ध करना
3. अवलोकन
4. समस्या सुलझाने और विश्लेषण की क्षमता
5. स्थान (जगह) की समझ
6. सृजनशीलता
7. गणितीय हुनर
8. सामाजिक हुनर
9. हस्त कौशल

इस हुनर–आधारित पाठ्यक्रम में उम्मीद यह थी कि कक्षा 5 के अन्त तक बच्चे इन कौशलों का 'अभ्यास' कर चुके होंगे। लक्षित–स्तर (इष्ट–स्तर) को भी जानकारी या 'ज्ञान' के स्तर के रूप में परिभाषित न करके, प्रक्रियाओं व गतिविधियों के रूप में ही परिभाषित किया गया था। वास्तव में ऐसी कोई अपेक्षा नहीं थी कि 'बच्चा जान जाएगा कि़ ˉ . . . .' वगैरह।
सामग्री का निर्माण, प्रशिक्षण का डिजाइ़न तथा स्कूलों में क्रियान्वयन का काम ऐसी बातों पर आधारित रहा है, जैसे ज्यादा 'प्रासंगिक' जानकारी किसे माना जाए, कितनी जानकारी' बाहरी स्त्रोतों' से दी जाए और कितनी जानकारी 'स्वरचित' हो, या क्या किसी विषय–विशेष में खोज पद्धति हेतु किसी जानकारी विशेष की जरूरत है।

प्राशिकानुमा नज़रिए में महज़ जानकारी के लिए जानकारी देने के खिलाफ एक स्पष्ट रूझान था। बगैर समझे याद की गई जानकारी को उपलब्धि का सूचक नहीं माना गया। क्योंकि जानकारी और विवरण इसी हद तक महत्व रखते हैं कि इनसे अवलोकन, समझ व विश्लेषण के हुनर को पैना बनाने में मदद मिलती है। ये वे हुनर हैं जिनकी मदद से बच्चे आगे की कक्षाओं में ज्यादा अमूर्त विचारों को पकड़ सकेंगे। ये हुनर उन बच्चों के लिए भी स्वतः शिक्षण में मददगार होंगे जो कक्षा 5 के बाद स्कूल छोड़ देंगे। इस पद्धति का एक फायदा यह भी है कि इससे बच्चों में विभिन्न विषयों के परस्पर सम्बंधों का अहसास बनता है।

प्राशिका में सृजनात्मक और 'गैर–कामकाजी' क्षमताएं या हुनर विकसित करने का प्रयास था। ये हुनर कहानियों में फंतासी भी हो सकता है और संख्याओं के विन्यास (पैटर्न) की खोज का भी हो सकता है। इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण बात यह कि प्राशिका में शिक्षार्थी के सोच व चिंतन को बहुत महत्व दिया गया। यह तत्व पाठ्यक्रम के हर पहलू में तथा सामग्री में झलकता है।

स्कूलों में जिस तरह से 'विषयों' की सीमाओं में 'जानकारी' और ज्ञान पर जोर दिया जाता है, उससे हटकर प्राशिका में ऐसे हुनर, क्षमताओं और उद्वेश्यों पर जोर दिया गया जो उन विषयों के मूल में है और जो उन विषयों को आपस में जोड़ते हैं। मिसाल के तौर पर अभिव्यक्ति व मुखरता सम्बंधित खण्ड में मात्र लिखित भाषा नहीं बल्कि मौखिक भाषा, हावभाव से अभिव्यक्ति, चेष्टओं, भूमिका–निर्वाह, चित्रकारी आदि को भी शामिल किया गया। इसी प्रकार से अवलोकन और अवलोकनों के रिकॉर्डिंग में प्रकृति के अलावा सामाजिक परिघटनाओं या प्रयोग/गतिविधियों को शामिल किया गया। यह स्वतः स्पष्ट था कि उपर वर्णित नौ बिंदुओं में भाषा, गणित, विज्ञान, समाज विज्ञान जैसे 'विषय' भी समा जाएंगे।

बहरहाल, यह उल्लेख करना जरूरी है कि कार्यपुस्तिका की किसी एक इकाई में या किसी एक गतिविधि में अलग–अलग किस्म और अलग–अलग स्तर के हुनर हो सकते हैं, अलग–अलग किस्म की जानकारी हो सकती है, इनके परस्पर सम्बंधों की बात हो सकती हैं। ये सारे तत्व एक ही स्त्रोत से, आपस में गुंथे हुए उभरते हैं। उदाहरणार्थ, स्कूल व आसपास के क्षेत्र का नक्शा बनाने की गतिविधि में लम्बाई नापने, पैमाने की प्रांरभिक अवधारणा, त्रिआयामी यथार्थ को दो आयामों में प्रस्तुत करने की अवधारणा, विभिन्न किस्म के पेड़, कीड़े–मकोड़ो और अन्य जीव–जन्तुओं का अध्ययन, गांव के अलग–अलग मोहल्लों में रहने वाले विभिन्न समुदायों का स्थान, विभिन्न किस्म की जमीनें व उनकी मिल्कियत आदि सब कुछ शामिल हो सकता है। प्राशिका में एकीकृत शिक्षण की जो अवधारणा थी, यह उदाहरण उसके सबसे नजदीक है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि प्राशिका में सीखने का यही एकमात्र ढंग है। ('विषयवार' वर्णन आगे किया गया है।) एकीकरण निम्नलिखित स्तरों पर किया गया था–

1. विषयगत सीमाएँ क्षीण हैं। हुनर को प्राथमिकता देने की वजह से ज्ञान की रूढ़िगत विभाजन रेखाएँ धूमिल पड़ गई हैं। मसलन जल चक्र, भोजन चक्र, कारखाना उत्पादन पद्धति आदि की प्रक्रियाओं के रेखाचित्र को वाक्यों के रूप में व्यक्त करने की क्षमता को भाषा या विज्ञान या यहाँ तक कि गतिण (गणना के फ्लो चित्र) भी माना जा सकता है।

2. इसी प्रकार से स्कूली ज्ञान और स्कूल से बाहर के रोजमर्रा ज्ञान के बीच का विभाजन भी क्षीण है। हुनर का अभ्यास ऐसी चीजों पर किया जाता है जो 'बच्चे के परिवेश की है तथा उनके समाज में प्रासंगिक हैं।'

यानी प्राशिका का कक्षा 3 से 5 तक का पाठ्यक्रम हुनर आधारित व एकीकृत था जिसमें जानकारी को प्राथमिकता न दिए जाने के बावजूद बच्चों को सार्थक विषयवस्तु देने का प्रयास किया गया ।

शिक्षक प्रशिक्षण–

प्राशिका एक खुले व लचीले पाठ्यक्रम की बात करता है। इसमें पाठ्यक्रम की एक मोटी–मोटी रूपरेखा ही निर्धारित की गई थी। ऐसे कोई विशिष्ट अभ्यास या चरण निर्धारित नहीं किए गए जो बच्चे को पढ़ना, सीखने या गणितीय हुनर हासिल करने में समर्थ बनाएँ। गतिविधियाँ और अभ्यास विकसित करना तथा जरूरत होने पर जानकारी देना शिक्षक को करना होता था और वे सक्षम थे। एक मायने में साथी पाठ्य सामग्री पुस्तक में नहीं दी गई थी। जो कुछ पाठ्य सामग्री के माध्यम से पूरा किया जाता था उसमें शिक्षक जानकारी व ज्ञान के आंशिक स्त्रोत के बतौर कार्य करते थे अपेक्षा की जाती थी कि शिक्षक विभिन्न गतिविधियां तैयार करेंगे, उनके क्रियान्वयन का ध्यानपूर्वक अवलोकन करेंगे और फीडबैक के आधार पर गतिविधियों में बदलाव व रद्दोबदल करेंगे। बच्चे के समान ही, शिक्षकों की सृजनशीलता में भी प्राशिका की गहरी आस्था थी। शिक्षक से उम्मीद थी कि वे सीखने वालों की सामान्य जरूरतों का आकलन भी करेंगे और साथ ही निजी विकास हेतु उपयुक्त अवसर भी उपलब्ध कराएंगे।

कार्यक्रम की अपेक्षा थी कि बच्चे सक्रिय रहें और कक्षा की गतिविधियों से सम्बंधित निर्णयों में भागीदार हों। शिक्षक को सीखने की प्रक्रिया में भागीदार और मार्गदर्शक (अगुआ) साथ–साथ होना पड़ेगा। इसके लिए उसे चित्र बनाने, गाने, खेलने, नकल उतारने आदि को लेकर जो झिझक है, उन्हें छोड़ना होगा। उसे बच्चों के मिज़ाज के प्रति संवेदनशील होना पड़ेगा तथा मुश्किल हालातों में भी सीखने को एक आनन्दायक व सार्थक गतिविधि बनाना होगा।

ज़रूरत

प्राशिका की प्राथमिक शिक्षा की अवधारणा सचमुच शिक्षक से कठिन अपेक्षाएँ करती है। शिक्षकों से अपेक्षा है कि वे नवाचार की प्रक्रिया में सतत् भागीदार बनेंगे और बच्चों, सीखनें की प्रक्रिया तथा पाठ्यक्रम सम्बंधी अपने विचारों पर पर्नुविचार करेंगे।

उनमें बच्चों को लेकर एक ऐसी समझ होनी चाहिए जिसके तहत–

1. बच्चों के साथ उनका रिश्ता ज्यादा बराबरी पर आधारित हो, जो आमतौर पर हमारे समाज में वयस्कों का नहीं होता।
2. बच्चों के ज्ञान का उपयोग करने का खुलापन हो तथा बच्चों को जिम्मेदार व्यक्ति मानने की तैयारी हो। साथ ही बच्चे की भाषा व संस्कृति के प्रति संवेदनशीलता भी जरूरी है।
3. बच्चों की समझ उनकी सीखने की प्रक्रिया और उस समझ की अभिव्यक्ति का महत्व जानें।
4. बच्चों द्वारा स्वयं खोज पद्धति से सीखने के महत्व की समझ हो।

❁❁❁❊❁❁❁

इकाई क्र. 5

पठन सामग्री क्र. 14

लोक जुंबिश : शैक्षिक प्रबंधन का जनतंत्रीकरण

लोक जुंबिश का आरंभ 1992 में हुआ था। उसके मूल में राजस्थान में शिक्षा के परिदृश्य को बदल देने की साहसी दिशादृष्टि थी। यह स्वीडीश एजेंसी (सीडा) भारत सरकार और राजस्थान सरकार द्वारा समर्पित परियोजना थी। तीनों इसे 3:2:1 के अनुपात में धन समर्थन देते थे।

लोक जुंबिश के सामने एक मुख्य चुनौती गांव के लोगों को, विशेषकर औरतों को शिक्षा के क्षेत्र में लाना था। एक दूसरी बड़ी चुनौती थी ऐसी सार्थक शिक्षा प्रबंध प्रणाली का विकास जो संकीर्ण कठोरताओं और कमियों से बचकर चल सके।

जनता को शिक्षा के लिए संगठित करने में 'शाला का मानचित्रण (School Maping)' तकनीक लोक जुंबिश का महत्वपूर्ण योगदान था। यह शुरूआती था जिसमें लोक जुंबिश कार्यकर्ताओं (या किसी स्थानीय गैर सरकारी स्वयंसेवी संस्था) द्वारा समुदाय के उन लोगों से संपर्क साधने से होती है जो अपने गांव में शिक्षा का स्तर उठाने में रूचि रखते हैं। इन लोगों के समूह को ''प्रेरक दल'' कहा जाता था, और इन्हें शाला का मानचित्रण के काम की संक्षिप्त ट्रेनिंग दी जाती थी जिसे ये लोग लोक जुंबिश कार्यकर्ताओं अथवा स्थानीय गैर सरकारी स्वयंसेवी संस्था के साथ मिलकर करते थें। स्कूल मैंपिग का आशय गाँव के हर घर को एक सादे नक्शे पर दृश्यांकित करना था। इसे करते समय पूरे गांव से संपर्क साधने का, बातचीत का अवसर रहता था। नक्शा तैयार हो जाने के बाद यह जानना आसान हो जाता था कि गांव के किस परिवार को विशेष सहायता की आवश्यकता है तथा गांव में किस तरह की स्कूली सुविधाओं की आवश्यकता है। प्रेरक दल तथा गांव के लोग मिलकर इस मानचित्रीकरण से प्राप्त आंकड़ों के आधार पर प्रस्ताव तैयार करते थे। प्रायः ये प्रस्ताव दो मुद्दों से संबंधित होते थे– नए स्कूलों तथा अनौपचारिक शिक्षा केन्द्रों की आवश्यकता तथा इस समय चल रहे संस्थानों में सुधार लाना। ये प्रस्ताव प्रखंड स्तर की समिति को भेज दिए जाते हैं जो इस संबंध में स्वीकृति देने का अधिकार रखती है।

इस प्रकार स्कूल मैंपिंग तकनीक, एक सामान्य (अशिक्षित भी) गांववासी को फील्ड सर्वेक्षण में भाग लेने का अवसर देती थी और वह भी सुधार के प्रस्ताव पेश कर सकता था। यह क्रिया अपने आप में व्यक्तित्व क्षमता निर्माण का बहुत बड़ा कार्यक्रम था। गांव के समुदाय द्वारा तैयार किए गए प्रस्तावों पर तुरंत एकमत होने से लोगों का आत्मविश्वास भी बढ़ता है।

स्कूल मैंपिंग के साथ–साथ गांव के स्तर पर सूक्ष्म नियोजन से गांव के हर बच्चे के बारे में यह जानकारी लेना संभव हो जाता था कि प्राथमिक शिक्षा के मामले में उसकी भागीदारी का स्तर क्या है। लोक जुंबिश कार्य संस्कृति ब्लॉक स्तर पर ऊंचे स्तर की स्वायत्तता तथा आजादी पर बल देती थी। इससे स्थानीय स्तर पर कई प्रकार के नए–नए विचार आधारित कार्यक्रम व पहलकदमियां संभव हुई हैं। उदाहरण के लिए दो–तीन प्रखंड अधिकारियों ने एम.वी.फाउंडेशन कैपों में एक महीना बिताने के बाद, यह प्रस्ताव

रखा कि उनके अपने प्रखंडों में लड़कियों के लिए आवासीय कैंप स्थापित किए जाएँ। इस पहलकदमी का इतना स्वागत हुआ कि एक समय में इस तरह के सोलह कैंप स्थापित हो चुके थे। दूसरा उदाहरण भरतपुर के कमन प्रखंड का है जहाँ मुसलमानों की बड़ी आबादी है और अनेक अभिभावक अपने बच्चों (विशेषकर लड़कियों) को इस बिना पर घरों में बैठाए रखते थे कि मौलवी लोग पढ़ाई को ठीक नहीं समझते। यहाँ प्रखंड अधिकारियों ने मौलवियों से बात करने की सोची। और बातचीत के दौरान मालूम हुआ कि उन्हें कुछ ऐतराज नहीं है पर वे अपने बच्चों को निम्न स्तर वाले स्कूलों में पढ़ने के लिए नहीं भेजना चाहते थे। उनकी शिकायत थी कि स्थानीय अध्यापक मुसलमानों के विरूद्ध भेदभाव बरतते हैं। मौलवियों की इच्छा थी कि उर्दू को भी पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया जाए। आज 120 गाँवों में से 84 गाँवों में सुचारू ढंग से संचालित स्कूल हैं और मुसलमान बच्चे भी बड़ी संख्या में पढ़ते हैं। इस तरह की सफलताएँ अन्यत्र भी, इस प्रकार की पहलकदमियों और प्रयोगों को प्रेरणा देती है। उन्हें लोक जुंबिश प्रक्रिया से निरंतर आकलन का तरीका अपनाकर अधिक विकसित किया जा सकता है।

लोक जुंबिश औरतों को शक्ति प्रदान करने पर भी बल देती थी। प्रेरक दल के साथ–साथ उन महिलाओं की भी पहचान की जाती थी जो गांव में महिला समूह की अगुआई कर सकें। ये महिलाएँ लोक जुंबिश के सारे विचार–विमर्श में भाग लेती थीं। महिला कर्मियों को कार्य करने का लोक जुंबिश की नीति थी। पढ़ने की इच्छा रखने वाली (लेकिन अवसर वंचित) अनेक निरक्षर महिलाओं को ''वीमेनस रेसीडेंशियल इंस्टीट्यूट फॉर ट्रेनिंग एडं ऐजुकेशन'' नाम के दो संस्थानों ने प्रशिक्षित किया है। उनमें से अनेक आंगनबाड़ी कर्मियों, एन.एफ.ई. प्रशिक्षकों तथा ऐसे ही दूसरे रूपों में काम कर रही है। अनेक कार्यकर्त्ताओं को लोक जुंबिश के स्टाफ में भी रख लिया गया था।

अनौपचारिक शिक्षा, जिसे ''सहज शिक्षा'' कहा जाता है, के प्रति लोक जुंबिश की कार्य नीति एन. एफ. ई. की मुख्य प्रणाली से एकदम अलग थ।यह पाठ्यक्रम पूरे पांच वर्ष चलता था। बच्चे को अपने ढंग से, अपनी गति से पढ़ने की पूरी छूट होती थी और उसे कक्षा पांच तक पूरा समर्थन दिया जाता था। प्रति एन.एफ.ई. केंन्द्र पर आने वाला वार्षिक खर्च लगभग 20,000 रूपये बैठता था (सरकारी एन.एफ.ई. केंद्र का कोई पांच गुना ज्यादा बैठता है) और इन केंद्रों को तथा वहाँ काम करने वाले प्रशिक्षकों को पूरा ध्यान और समर्थन दिया जाता था।

लोक जुंबिश की कुछ अपनी समस्याएँ और कमजोरियाँ भी थी। यद्यपि बच्चों के दाखिले और उनके स्कूल में बने रहने की दर में बढ़ोत्तरी हुई , पर लोक जुंबिश स्कूलों के छात्रों की उपलब्धियाँ साधारण थी। मुख्य धारा की स्कूली प्रणाली पर लोक जुंबिश का प्रभाव भी आशा से कम ही रहा। यह एक महत्वपूर्ण मुद्दा है, क्योंकि लोक जुंबिश एक अस्थायी परियोजना थी। महिलाओं को अधिक अधिकार देने का लक्ष्य भी आंशिक रूप से ही प्राप्त हुआ (एक आकलन से पता चला कि नमूना गाँवों में महिला समूह की कुछ ही सदस्याएँ सक्रिय थीं)। कुल मिला कर, लोक जुंबिश कार्य की गति आशा से धीमी रही। लेकिन इससे अब तक मिली सफलताओं का महत्व कम नहीं हो जाता। जैसा कि एक स्वतंत्र आकलन रिपोर्ट में कहा गया है– इस परियोजना ने उच्च संवेदनशीलता और यथार्थ में बहुत कठिनाई में काम करने की योग्यता दर्शाई है।

एम.वी. फाउंडेशन : बाल मजदूरी का खात्मा

हैदराबाद (आंध्र प्रदेश) के निकट शंकरापल्ली मंडल लगभग 30 गाँवों का एक समूह है। यहाँ के गरीब परिवारों के थोड़े ही बच्चे कभी स्कूल गए होंगे, वे सदा ही घर में तथा खेतों में अपने माता–पिता का हाथ बँटाते रहते थे। बहुत सारे बच्चे पैसों के लिए दूसरे धंधों में भी लगे हुए थे। लड़कियों के समूहों को 'कनकाम्बरम'' कुंजों में नारंगी फूल बीनकर उनकी मालाएं बनाते हुए देखा जा सकता था। जिले के बड़े फार्मों पर अनेक छोटे बच्चे बंधुआ मजदूरों के रूप में काम करते थे। ये बच्चे कभी स्कूल जाने के सपने भी नहीं देख सकते थे– बहुत ही गरीब थे उनके परिवार।

1987 से एम.वी. फांउडेशन इस सपने को सच बनाने में जुटा हुआ है। एम.वी. फाउंडेशन ''अनौपचारिक शिक्षा प्रणाली'' में हेरफेर करने में विश्वास नहीं रखता। जहाँ स्कूलों के समय मजदूर बच्चों की सुविधा के अनुसार निश्चित किए जाते हैं। इसके विपरीत यह बाल मजदूरी की जंजीरे तोड़ने में आस्था रखता है– बाल मजदूरी को खत्म करने का एक मात्र तरीका है– बच्चे को स्कूल में वापस भेजना।

अलग–अलग आयु वर्गों के लिए एम.वी. फाउंडेशन ने अलग–अलग नीतियां अपनाई हैं। इनमें पांच से आठ वर्ष आयु वर्ग के उन बच्चों की समस्या का समाधान सबसे आसान है। इस आयु वर्ग के बच्चे या तो बेकार घूमते हैं अथवा मां–बाप की थोड़ी बहुत मदद कर देते हैं। इन बच्चों की उम्र इतनी होती है कि इन्हें आसानी से औपचारिक स्कूल में प्रवेश दिलाया जा सकता है। बात सिर्फ इतनी है कि, बच्चों को पढ़ना चाहिए, इस बात के लिये माँ–बाप को राजी करना और फिर यह देखना कि वह दाखिल हो जाये। 9 से 14 आयु वर्ग के कुछ बड़े बच्चों की समस्या ज्यादा जटिल होती है। उनमें अनेक पक्के बाल मजदूर बन चुके होते हैं। और माँ–बाप उन्हें पैसे कमाने का स्त्रोत मानने लगते हैं।

ऐसे बच्चों के लिए अनौपचारिक शिक्षा की रणनीति अपनाई गई लेकिन ऐसे शिक्षा केंद्र लोकप्रिय नहीं हो सके। जो बच्चे वहाँ पढ़ने आते थे तो बहुत थके हुए होते थे और अनियमित भी थे। अनौपचारिक शिक्षा केंद्र उन्हें तभी आकर्षित कर सका जब उन्हें ऐसे रचनात्मक केद्रों में विकसित किया गया, जहाँ नन्हें मजदूर आराम कर सकते थे। केंद्र ऐसा उत्प्रेरणा केंद्र बन गया जहाँ बच्चों को रिहायशी ग्रीष्म शिविर में शामिल होने के लिए राजी कर लिया गया। ये ग्रीष्म शिविर एम.वी.फाउंडेशन के कार्य के आधार स्तंभ है।

लड़के–लड़कियों के लिए अलग–अलग ग्रीष्म शिविर लगाए जाते हैं और उनकी अवधि तीन से नौ महीने के बीच होती है। पढ़ाई के समय का अनुशासन कठोर है– सुबह 9 से शााम 5 बजे तक। शाम को लाइब्रेरी, समीक्षा, और होमवर्क की सभा होती हैं। रोजमर्रा के काम पूरे करने के लिए बच्चों को विभिन्न समूहों में बांट दिया जाता है (बर्तनों की सफाई, झाडू लगाना आदि)। व्यस्त कार्यक्रम के बावजूद शिविर का वातावरण, उल्लासपूर्ण होता है। बच्चों को मारना मना है और डाँटने पर भी समीक्षात्मक सभा में प्रतिवाद उठ सकता है। पढ़ाई के स्तर से बच्चें आतंकित नहीं होते। इसका अच्छा उदाहरण हे उनकी प्रथम पाठ्य पुस्तक। इसमें केवल 30 प्रचलित शब्दों की सूची है जिन्हें बच्चे स्वयं सुझाते हैं। नाचना, गाना, सिक्के और माचिस की तीलियाँ, लोककथाएँ और मुहावरे–इन सबका प्रयोग करके छोटे बच्चों को शिविर की समाप्ति के बाद औपचारिक स्कूल में प्रवेश की दृष्टि से तैयारी कराई जाती है। कुछ कक्षा 3 में जाते हैं तो कुछ कक्षा 4 व 5 में।

इन बच्चों को, जो अशिक्षित परिवारों से आते हैं, उनकी पढ़ाई में समर्थन देना जारी रखा जाता है। उन्हें समाज कल्याण होस्टलों में रखा जाता है। उनके स्थानीय स्कूल में भी एम.वी. फाउंडेशन के स्वयंसेवक होते हैं। वे गाँव वालों को इस बात का ध्यान रखने को कहते हैं कि स्कूल में पर्याप्त सुविधाएँ हों और अध्यापक बच्चों को जिम्मेदारी की भावना से पढाएँ। यह उदारहण असामान्य नहीं है कि दो सरकारी अध्यापक पूरा वेतन पाएं और एम.वी.एफ. के स्वयंसेवक तथा दो स्थानीय स्वयंसेवक (प्रतिमाह केवल 800 रूपए तन्ख्वाह) सब एक ही स्कूल में पढ़ाते हैं। यह एम.वी.एफ फाउंडेशन की केवल एक रणनीति है, जिस कारण संस्था ने बिरादरी को इस काम में शामिल करने में सफलता पाई है और प्रतिबद्ध स्थानीय स्वयंसेवकों का सहयोग प्राप्त किया है। उन्होंने वर्तमान स्कूल व्यवस्था का समानांतर संगठन खड़ा करने का प्रयास नहीं किया है।

एम.वी.एफ. स्थानीय साधनों का रचनात्मक उपयोग करना चाहता है। इसके स्वयंसेवक आदर्शवादी युवा स्त्रियां और पुरूष हैं। जो स्वयं भी वंचित सामाजिक वर्गों से होते हैं। वे अच्छी तरह जानते हैं कि औपचारिक शिक्षा कैसा गौरव और आत्मविश्वास प्रदान कर सकती है। इन बेरोजगार युवकों को आवारा कहने के बजाय एम.वी.फाउंडेशन उनकी ऊर्जा का उपयोग बच्चों को स्कूल भेजने में, शिविरों के संचालन में, बच्चों को पढ़ाने में और इसे सुनिश्चित करने में रहता है कि स्कूल व्यवस्था सुचारू रूप से चलती रहे। स्थानीय साधनों का एक अन्य कल्पनाशील उपयोग है ग्रीष्म शिविर लगाने के स्थान। ये बेकार पड़ी सरकारी इमारतों में लगाए जाते हैं। इनके लिए कोई अनुमति नहीं ली जाती –एम.वी. फाउंडेशन केवल सरकार को सूचित कर देता है कि इन भवनों को अस्थायी उपयोग में लाया जाएगा। उसी भाव से माता–पिता (भू–स्वामी और प्रतिष्ठानों के मालिक भी) जैसे–तैसे बच्चों के मित्र बना लिए जाते हैं। माँ–बाप शुरू–शुरू में कुछ घबराए हुए और अनिच्छुक रहते हैं। कुछ तो आत्महत्या करने की धमकी तक दे डालते हैं। लेकिन अधिकांश लोग शिविरों में अपने बच्चों के उल्लास से प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाते। वे सामंजस्य बैठाते हैं, और काम की जिम्मेदारियों का बंटवारा इस ढंग से करते हैं ताकि बच्चा स्कूल जा सके। वे लड़कियों का विशेष समर्थन करते हैं।

पश्चिमी राजस्थान में मरूशालाएँ

मरूशाला (रेगिस्तान विद्यालय) ऐसा वैकल्पिक स्कूल है जिसकी अवधारणा उरमूल ट्रस्ट, पश्चिमी राजस्थान के रेगिस्तान में कार्यरत एक गैर सरकारी स्वयंसेवी संस्था ने प्रस्तुत की थी। यह परियोजना 1992 में शुरू हुई थी और इस समय 6 मरूशालाएं काम कर रही हैं।

पश्चिमी राजस्थान में साक्षरता की दर, विशेषकर महिलाओं में, बहुत कम है। हर वर्ष ढाणियों (इंदिरा गांधी नहर के कमांड क्षेत्र में नए बने मोहल्ले) की ओर मौसमी संक्रमण के समय स्कूलों में न जाने वाले बच्चों की संख्या बहुत अधिक बढ़ जाती है। उस समय अनेक बच्चे खेतों में काम करते हैं। कृषि कैलेंडर का अनुसरण करके मरूशाला यह सुनिशचित कर लेती है कि बच्चे पारिवारिक मजदूरी के काम में सहयोग करते हुए भी पढ़ते रह सकें। सभी मरूशालाएँ उन स्थानों पर हैं जहाँ कोई दूसरा स्कूल नहीं है।

बच्चों को 3 वर्ष की आयु से मरूशालाओं में प्रवेश दे दिया जाता है। लेकिन पढ़ाई उनके छह वर्ष का होने पर ही शुरू होती है। छात्रों को हिंदी, गणित और पर्यावरण विज्ञान पढ़ाते हैं। इस पाठ्यक्रम का निर्माण दिगांतर–जयपुर की एक गैर सरकारी स्वैच्छिक संस्था– ने किया है। दिगांतर अध्यापकों के नियमित प्रशिक्षण और आकलन की व्यवस्था भी करती है। अन्य स्कूलों की तुलना में मरूशाला में टीचिंग ऐड्स काफी संख्या में उपलब्ध होते हैं। सामान्य स्कूलों की तुलना में यहाँ छात्र/अध्यापक अनुपात भी काफी कम है।

मरूशाला के छात्र स्वयं कार्यविधि तैयार करते हैं। यद्यपि अध्यापक अगले दिन के लिए कार्यक्रम बनाते हैं पर वे छात्रों की रूचि के अनुसार उसमें परिवर्तन कर देते हैं। छात्रों और अध्यापकों के बीच ताल–मेल का भाव रहता है। छात्रों को इस बात का प्रशिक्षण दिया जाता है कि वे आंख मूंद कर किसी बात को स्वीकार न करें और उनमें जिज्ञासु भाव जानने की इच्छा को बढ़ावा दिया जाता है। उन पर हर दिन होमवर्क का बोझ नहीं लादा जाता। उन्हें साप्ताहिक होमवर्क दिया जाता है। और पाठ्यक्रम इस तरह बनाया जाता है जिसे वे आसानी से समझ सकें।

मरूशालाओं में पढ़ाई सहज परिवेश में होती है। बच्चों के मन में स्कूल जाने की इच्छा बनी रहती है और वे प्रायः ही समय से पहले स्कूल पहुँच जाते हैं। स्कूल का समय समाप्त होने के काफी देर बाद तक भी वहाँ रहते हैं और दूसरे बच्चों के साथ खेलते रहते हैं। कोई फीस नहीं ली जाती पर अभिभावक अपनी मर्जी से कुछ आर्थिक सहयोग दे देते हैं। मरूशालाओं में अलग–अलग कक्षाएँ नहीं हैं लेकिन बच्चों के पढ़ाई का स्तर जाँचा जाता है। अपनी सीखने की गति के अनुसार बच्चा एक से दूसरे समूह में प्रवेश करता है। वहाँ त्रैमासिक टैस्ट लिए जाते हैं और वे सामान्य स्कूल की प्रक्रिया से संचालित किए जाते हैं। वैसे टेस्टों पर कोई ज्यादा जोर नहीं दिया जाता ताकि बच्चे उनसे आतंकित महसूस न करें।

मरूशालाओं में बच्चों को शारीरिक दंड नहीं दिया जाता। वैसे अगर कुछ बच्चे दूसरे बच्चों के काम मे बाधा डालते हैं तो, उन्हें हल्के ढंग से डांट–डपट दिया जाता है। अध्यापक अभिभावकों से उनके घर जाकर और स्कूल में नियमित मिलते रहते हैं और उन्हें बच्चों की प्रगति की जानकारी देते रहते हैं। इस तरह की भेंट से अध्यापक उन बच्चों को भी स्कूल में लाने में सफल होते हैं जो अनेक कारणों से स्कूल नहीं आते।

लेकिन कुछ माँ–बाप इस कहावत में विश्वास करते हैं कि अगर बच्चों को पीटना छोड़ दे तो वे बिगड़ जाते हैं। इसलिए वे मरूशाला की बच्चों को न पीटने वाली नीति को ठीक नहीं समझते। मरूशाला में प्रशिक्षित बच्चे जब औपचारिक स्कूल की कक्षा 6 में प्रवेश करते हैं, तो उनके सामने नई स्थिति से सामंजस्य बैठाने की समस्या भी आती है। मरूशालाओं के विपरीत, औपचारिक स्कूल प्रणाली अनुपालन, तथा बच्चों की विभिन्न कुशलताओं को पल्लवित होने का अवसर न देने में विश्वास रखती है। मरूशालाओं में पढ़ने के बाद औपचारिक स्कूल में आने वाले बच्चे इस अंतर से दिग्भ्रमित से हो जाते हैं। पाठ को रटने तथा ऐसी ही दूसरी बातों का भी उन में उत्साह नहीं होता। लेकिन मरूशालाओं में पढ़े हुए बच्चे चाहे जिस भी स्कूल में जाएँ, उनका प्रदर्शन अच्छा ही रहता है।

इसका अर्थ यह नहीं कि इस क्षेत्र में बाल मजदूरी समाप्त हो गई। लेकिन आंदोलन ने जड़े जमा ली हैं– लोग इसका समर्थन कर रहे हैं। 1992 में किए गए एक सर्वेक्षण में एम.वी.एफ. फाउंडेशन ने शंकरापल्ली मंडल में 5–14 आयु वर्ग के कुल 10.661 बच्चों में से स्कूल न जाने वाले बालकों की संख्या 5. 550 बताई थी। दो वर्षों के अंदर ही एम.वी.एफ. उनमें से 4.190 को स्कूलों में भेजने में सफल हुई। एम.वी. फाउंडेशन का निष्कर्ष है कि गरीब माँ–बाप अपने बच्चों को स्कूल भेजना चाहते हैं और बहुत समय से बाल मजदूर रहे बच्चों को भी स्कूल प्रणाली में शामिल किया जा सकता है।

लोकप्रिय कार्यक्रम

अलगाव की भावना को मिटाना

जब स्कूल ठीक ढंग से अपनी भूमिका नही निभाते तब लोग कभी–कभी उनके विरूद्ध कदम उठाते हैं। कभी–कभार इसके लिए वे गैर सरकारी स्वैच्छिक संस्थाओं या सरकारी संस्थानों द्वारा उत्प्रेरित किए जाने की भी प्रतिक्षा नहीं करते। जनता के ये कदम अनेक रूप ले सकते हैं–

कुछ मामूली कदम जैसे अतिरिक्त कक्षा के निर्माण के लिए धन इकट्ठा करना, प्रखंड शिक्षा अधिकारी के पास शिकायते लिख भेजना।

यथार्थवादी दृष्टि से देखें तो ऐसे उदाहरण अधिक नहीं है। सुविधा संपन्न बस्तियों में अभिभावक खामोश नहीं बैठते, उन्हें पता होता है कि कैसे ठीक किया जाय। अखबारों में मध्यमवर्गीय लोगों के पत्र प्रकाशित होना असामान्य बात नहीं है जिनमें पढ़ाई के तौर तरीकों, दाखिले की प्रक्रिया, परीक्षाफलों आदि जैसे मुद्दों पर नाराजगी दर्शाई जाती है। लेकिन वंचित क्षेत्रों और वर्गों के अभिभावकों के लिए अपनी आवाज उठाना और सही कानों तक पहुंचाना अधिक कठिन होता है। उनकी प्रवृत्ति सरकारी स्कूलों की स्थिति को अपनी दूसरी विसंगतियों की तरह स्वीकार करने की बन जाती है और अगर न सहा जा सके तो व्यवस्था के सुधार के लिए लड़ने के बजाय वहां से दूर हो जाने में भलाई समझी जाती है। जब तक यह सुनिश्चित न किया जाए कि शिक्षा प्रणाली का प्रशासन तंत्र अभिभावकों की शिकायतों पर अवश्य ध्यान दे, तब तक अभिभावकों की निराशा और पलायनवादी प्रवृत्ति में सुधार की संभावना नहीं।

फिर भी समय–समय पर माता–पिता (अथवा बच्चे) जैसे तैसे पर्याप्त ऊर्जा और मिलकर कुछ करने कि आशा का भाव जुटा लेते हैं। निस्संदेह स्कूल व्यवस्था की निष्क्रियता को चुनौती देने वाले प्रेरक उदाहरण कभी–कभी अखबारों के माध्यम से नजर में आ जाते हैं और अनेक खबरें भी नहीं बन पाते। इस अनुभाग में हम ऐसे ही कुछ प्रेरक सार्वजनिक प्रयासों को प्रस्तुत कर रहे हैं। शायद एक दिन ये चिंगारियां ज्वाला बनकर भड़क उठें।

एम.वी.एफ. अनुभव के कुछ संकेत

1. बाल मजदूरी का उन्मूलन और स्कूली शिक्षा के सार्वजनीकरण का मतलब एक ही है।
2. कामगर बच्चों के मां–बाप ऐसा सामंजस्य बैठाने को तैयार हैं जिससे उनके बच्चे स्कूल जा सकें।
3. बाल मजदूरी के अधिकतर मामलों में बाल मजदूर की आमदनी कोई ऐसा बड़ा कारक नहीं है कि जिसके चलते मां–बाप बच्चे को स्कूल न भेजना चाहें।
4. शिक्षा के सार्वजनीकरण अभियान में सरकारी संस्थानों के उपयोग का कोई विकल्प नहीं है क्योंकि गैर सरकारी स्वैच्छिक संस्थाएं आवश्यक स्तर पर आधारभूत ढांचा नहीं उपलब्ध करा सकती।
5. प्रारंभिक शिक्षा के सार्वजनीकरण के अभियान में गांव वालों को शामिल करने की काफी गुंजाइश है।

शांता सिन्हा

लोकशाला

अक्टूबर 1997 की सर्दियों का एक धूप खिला खुशनूमा दिन। करपी पंचायत (जिला जहानाबाद, बिहार) के छह गाँवों के सैकड़ों लोग करपी गाँव में एक शामियाने के नीचे एकत्र हुए। यह क्षेत्र किसानों तथा गाँवों के सभ्रांत–समृद्ध लोगों के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले वर्ग (और जाति) आधारित संगठनों के बीच हिंसक मुठभेड़ों के लिए कुख्यात है। लेकिन उस दिन लोग वहाँ एक दूसरे ही उद्देश्य से एकत्र हुए थे। वे अपने गाँवों में प्रारंभिक शिक्षा की स्थिति पर 'लोग संसद' के आयोजन में इकट्ठे हुए थे।

इस सभा से पहले, स्थानीय स्वयंसेवी युवक समूहों ने अपने गाँव में सरकारी स्कूलों का सर्वेक्षण किया था और रिपोर्ट तैयार की थीं जो अब वहाँ प्रदर्शित की जा रही थी। पास की पंचायतों के सरपंचों के अलावा और कोई विशिष्ट व्यक्ति वहाँ मौजूद नहीं था। हर रिपोर्ट पढ़ी जाते समय लोग पूरे ध्यान से सुनते थे। स्कूल की स्थिति, सीखने का निम्न स्तर, बच्चों के साथ अध्यापक के संबंध, स्कूल से बाहर जाने वाले बच्चों की ऊंची दर आदि पर गरमागरम बहस हो रही थी।

किस विषय में क्या कदम उठाया जाए–यह निश्चय किया गया। छह में से एक गाँव पर विशेष ध्यान दिया गया क्योंकि वहाँ स्कूल ही नहीं था। जब बात–चीत चल रही थी तो एक लड़के ने एक बड़े–बूढ़े को एक पर्ची थमा दी। बूढ़े ने सभा को बताया कि एक सरकारी स्कूल के अध्यापक ने, जो स्कूल से अनुपस्थित रहने के मामले में बहुत बदनाम था, वादा किया है कि वह आगे से बच्चों को नियमित रूप से पढ़ाया करेगा।

किसी ने संकेत किया कि भीड़ में कुछ महिलाएं भी मौजूद हैं। उनसे विशेष रूप से सभा में भाग लेने को कहा गया। जल्द ही वहाँ मुसहर (बिहार में सबसे नीचे मानी जाने वाली जातियाँ में एक) जाति की कोई 50 महिलाएँ आ गई और उन्होंने विचार विमर्श में सक्रिय भाग लिया। अंत में एक संकल्प पत्र (स्वयं से एक संकल्प) पढ़कर सुनाया गया। संकल्प के एक अंश में यह था –आगे से सारी बातचीत में औरतें भी भाग लिया करेंगी।

लगभग उसी समय, हजारों किलोमीटर दूर, दिल्ली की जहांगीरपुरी इलाके में झोपड़ पट्टी के 275 निवासी, जिनके बच्चों को सरकारी स्कूलों में दाखिला देने से मना कर दिया गया था, एक ''दाखिला उत्सव'' मनाने के लिए एकत्र हुए। उन्होंने सरकार को एक सम्मिलित प्रतिवेदन दिया उस प्रतिवेदन पर उनके अंगूठों की छांपे लगी हुई थी। फलस्वरूप दिल्ली नगर निगम ने स्कूलों को आदेश जारी किया कि वे इन बच्चों को दाखिल करे। देवीटोला प्रखंड, धुबड़ी जिला, असाम में 11 पंचायतों के ग्रामीण युवक स्कूल पाठ्यक्रम में बिरादरी के हस्तक्षेप की दृष्टि से अपने गांवों के इतिहास का दस्तावेज तैयार करने में लगे थे। वाल्मीकि पथर, करद जिला, महाराष्ट्र के सरकारी स्कूल की कक्षा में बच्चे, एक खेतिहर मजदूर से (जो उस दिन के लिए अध्यापक बना था) सीख रहे थे कि धरती पर समानांतर रेखाएं कैसे खींची जा सकती है।

उधर, भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों के 12 अध्यापक, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के एक फैलोशिप के तहत ऐसी सामुदायिक पहलकदमियों से जुड़े अनेक व्यापक मुद्दों पर अपने विषयात्मक पेपर्स को तैयार करने में जुटे थे। ये लोकशाला पहलकदमियों के कुछ उदाहरण हैं जो प्रारंभिक शिक्षा के सार्वजनीकरण की एक वैकल्पिक राह की ओर संकेत करते हैं।

लोकशाला का आरंभ मार्च 1995 में भारत जन विज्ञान जत्था द्वारा हुआ। यह ऐसा अखिल भारतीय जन विज्ञान नेटवर्क है जिसे दिल्ली विश्वविद्यालय के शिक्षा विभाग से शैक्षिक समर्थन प्राप्त है। इसे सरकारी

स्कूल प्रणाली में सामाजिक हस्तक्षेप की राष्ट्रव्यापी प्रक्रिया के रूप में परिकल्पित किया गया। आज यह विभिन्न राज्यों में दस प्रखंड स्तर की ''एडवांस्टड फील्ड लेबोरेटोरीज'' में कार्यरत है। हर प्रखंड भू–सांस्कृतिक दृष्टि से अनूठा है। हर प्रयोगशाला सामाजिक हस्तक्षेप की दृष्टि से, एक विकास प्रखंड के सब स्कूलों को शिक्षा प्रणाली से उपांग की तरह से देखती है।

लोकशाला की प्रक्रिया उन निष्कर्षों पर आधारित है जो हाल की दशाब्दियों में देश में किए गए स्वदेशी प्रयोगों से निकले हैं। एक निष्कर्ष यह है कि, अगर स्कूलों का परिवेश, सीखने की दृष्टि से संतोषजनक हो, तो गरीब माँ–बाप अपने बच्चों को पढ़ने भेजना चाहते हैं। यह मिथक है कि गरीब माँ–बाप शिक्षा का महत्व न समझने के कारण अपने बच्चों को स्कूल नहीं भेजते या कि वे बच्चों की शिक्षा के बजाय उनके द्वारा की गई मजदूरी के पैसों में ज्यादा रूचि रखते हैं। लोकशाला दृष्टिकोण के अन्य मूलभूत सिद्धांत इस प्रकार हैः

1. आसपास के स्कूलों पर आधारित एक सामान्य स्कूल प्रणाली (इसकी सिफारिश कोठारी आयोग ने भी की थी)।
2. सबके लिए शिक्षा की सुलभता और उसकी गुणवत्ता को संभव बनाने के लिए यह अनिवार्य है कि स्थानीय जनता का नियमित हस्तक्षेप हो जो आगे चलकर निर्णय लेने की प्रक्रिया में उनकी सक्रिय भागीदारी का रूप ले सके।
3. सरकारी स्कूल प्रणाली में परिवर्तन लाने की दृष्टि से राष्ट्रव्यापी सामाजिक हस्तक्षेप का आरंभ समाज के उन वर्गों से होना है जिसके बच्चे या तो बिलकुल ही स्कूल नहीं जाते या कम उम्र में ही स्कूल जाना छोड़ देते हैं।
4. ऐसे समुदायों की महिलाएँ इस सामाजिक हस्तक्षेप में पहल करेंगी और उसकी अगुवाई की भूमिका निभाएंगी।
5. संगत पाठ्यक्रम के पुननिर्माण में बिरादरी भी सहयोग करेगी। नया पाठ्यक्रम इस तरह बनेगा कि उसमें अंतर्राष्ट्रीय सामाजिक–राजनीतिक यथार्थ प्रतिबिंबित हो और उसके माध्यम से वर्तमान मुद्दों के प्रति आलोचनात्मक चेतना उभरे।
6. ''ज्ञान की दुनिया'' निश्चित रूप से ''काम की दुनिया'' से जुड़ी हुई होनी चाहिए ताकि ज्ञान उपयोगी और संगत बने।
7. छोटी उम्र में सभी बच्चों को उनकी मातृभाषा में शिक्षा दी जानी चाहिए, वैसे क्षेत्र की मुख्य भाषा का क्रमिक ज्ञान भी पाठ्यक्रम में शामिल हो सकता है।
8. लोकशाला इस बात पर भी बल देती है कि शिक्षा समाज का ही उपांग है, कोई स्वतंत्र चीज नहीं है। इसलिए सब बच्चों के लिए अच्छे स्तर की शिक्षा सुलभ बनाने का संघर्ष अनिवार्य रूप से उस लड़ाई से जुड़ा है जो वंचना, कुपोषण और अस्वास्थ्य की स्थितियों को समाप्त करने के लिए लड़ी जा रही है। अगर निरंतर असमानता की स्थिति, गरीबी और शोषण जैसे मूलभूत सामाजिक प्रश्नों की उपेक्षा की जाती है तो इसका सीधा दुष्प्रभाव उन जन–आकांक्षाओं पर पड़ेगा जो शांतिपूर्ण, न्यायोचित और मानवीय समाज का निर्माण होते देखना चाहती है।

लोकशाला टोली

रिटायर्ड क्लर्क एक निष्ठावान अध्यापक बना

दानासिंह वह आदमी है जो एक लक्ष्य लेकर चल रहा है। उसका पूरा जीवन संघर्ष में बीता–बचपन में अनाथ हो गया। उसने बड़ी कठिनाईयाँ झेलकर अपने को शिक्षित बनाया। पढ़ाई के बीच में ही उसे कई बार स्कूल छोड़ना भी पड़ा । कक्षा 8 के बाद वह 7 वर्ष तक यूँ ही भटकता रहा, दिहाड़ी मजदूर तथा दूसरे काम करता रहा। इस दौरान स्वाध्याय की कोशिश में भी लगा रहा। अंततः वह हायर सेकेंड्री की परीक्षा पास करने और बीकानेर के कृषि विश्वविद्यालय में चपरासी की नौकरी पाने में सफल रहा। बाद में उसने लोअर डिवीजन क्लर्क की परीक्षा भी पास कर ली और फिर अपन डिवीजन क्लर्क की भी।

दानासिंह 21 वर्ष बाद रिटायर हुआ और अपने गाँव (दक्षिणी राजस्थान) लौट गया। उसने वंचित बच्चों को पढ़ाने का फैसला किया। वह हाई स्कूल छात्रों को ट्यूशन पढ़ाता है और उनसे 25 रूपए महीना लेता है। इसके साथ ही स्कूल छोड़ चुके बच्चों को भी पढ़ाता है। शुरू–शुरू में तो यह सब उसने अपने भरोसे किया; एक रिटायर्ड हेडमास्टर से भी कुछ मदद ली। बाद में उसे अनौपचारिक शिक्षा केंद्र चलाने के लिए एक स्थानीय संगठन से सहायता मिली।

दानासिंह उत्साह और लगन के साथ पढ़ाते हैं। उसका घर, जिसमें शिक्षा केंद्र चलता है, स्कूल को ध्यान में रखकर ही बनाया गया था। कल्पनाशील चाट्र्स, मानचित्र और टीचिंग ऐड्स (ज्यादातर हाथ से बनाई हुई) क्लास रूम को सुसज्जित हैं। हर छात्र–छात्रा को उसके नाम वाला रंगीन कार्ड दिया जाता है। स्कूल में आने के बाद हर छात्र अपना कार्ड उठाकर दानासिंह को दे देता है। इससे हाजिरी का रिकार्ड रखने में आसानी होती है और बच्चे भी पढ़ने और लिखने का महत्व समझ सकते हैं। बच्चे दो वर्षो मे ही लिखना–पढ़ना सीख जाते हैं हालांकि केंद्र प्रतिदिन केवल दो घंटे के लिए ही चलता है।

माँ–बाप भी दानासिंह के केंद्र को पसंद करते हैं। कुछ बच्चे इसलिए आते हैं कि वे दिन में काम करते हैं लेकिन बाकी बच्चे तो यहाँ के आकर्षक परिवेश की वजह से खींचे चले आते हैं। कुछ अभिभावक अपने बच्चों को सामान्य स्कूल में भेजने से पहले कुछ वर्षों तक केंद्र में शिक्षा दिलाते हैं, क्योंकि उन्हें मालूम है कि बच्चे दानासिंह के साथ रहकर जल्दी सीखेंगे। इस वर्ष केंद्र में शिक्षित 31 बच्चों ने स्थानीय स्कूल की 1 से 4 कक्षाओं में प्रवेश लिया। इस समय केंद्र में में पढ़ने वाले 27 बच्चों में से 16 लड़कियाँ हैं।

अधिकांश अध्यापकों की तरह दानासिंह की भी शिकायत है कि माँ–बाप अपने बच्चों को नियमित रूप से स्कूल भेजने के लिए पूरा प्रयास नहीं करते। लेकिन अभिभावकों के साथ उसके अच्छे संबंध हैं और कुल मिलाकर अपने अनुभव से वह प्रोत्साहित है। वह यह भी बताता है कि जब से उसका केंद्र खुला है, अभिभावकों में स्थानीय सरकारी स्कूल की कहीं ज्यादा माँग बढ़ गई है।

नासिक तक लंबी पदयात्रा

इस वर्ष के आरंभ में महाराष्ट्र के एक सुदूर क्षेत्र के कुछ साहसी बच्चों ने जो कारनामें किए वे स्थानीय अखबारों में प्रथम पृष्ठ की सुर्खियाँ बने और इंडिया टुडे की आवरण कथा भी बने। ये सभी आदिवासी बच्चे एक ''आश्रम स्कूल''के आवासीय छात्र थे। यह एक विशेष आवासीय स्कूल था जिसे आदिवासी शिक्षा को प्रोत्साहन देने के लिए स्थापित किया गया था। अपने स्कूल की खराब स्थितियों की ओर ध्यान खींचने के लिए 10 से 12 वर्ष की उम्र वाले 23 बच्चे पहाड़ी क्षेत्रों में 66 किलोमीटर चलकर नासिक के क्षेत्रीय मुख्यालय तक पहुँचे। उन्होंने जो शिकायतें की वे नीचे दी जा रही हैं, उनसे साफ पता चल जाता है कि वंचित बच्चे कैसी कठिन स्थितियों में पढ़ने के लिए संघर्ष करते हैं :

- मुख्याध्यापक केवल सप्ताह के अंत में आते थे।
- पहरेदार बच्चों के साथ दुर्व्यवहार करता था।
- यूनिफार्म नहीं दी गई थीं।
- तीन महीनों तक बच्चों को नाश्ता नहीं दिया गया। दोपहर के भोजन में केवल दाल, चावल और एक रोटी दी गई।
- प्यासे बच्चों को अपनी प्यास बुझाने के लिए पास के चश्में पर जाना पड़ता था क्योंकि स्कूल के ट्यूबवेल ने तीन वर्ष पहले काम करना बंद कर दिया था।

इस प्रतिरोध का जो नतीजा निकला, उससे बच्चे संतुष्ट थे। उन्हें यूनीफार्म और नियमित जल आपूर्ति का आश्वासन दिया गया। एक नए हेडमास्टर को स्कूल में नियुक्त कर दिया गया। एक नए हेडमास्टर को स्कूल में नियुक्त कर दिया गया, पहरेदार को निलंबित कर दिया गया। भोजन में सब्जियाँ दिखाई देने लगी। दस वर्ष की हीरू भोए ने बताया कि ''अब पकाने से पहले चावल को साफ किया जाता है''। उसकी साथी, जो एक वर्ष से अध्यापक के आने की प्रतीक्षा कर रही थी, वह खुश थी कि एक नये अध्यापक की नियुक्ति हो गई थी।

बड्सू में वैकल्पिक स्कूली पढ़ाई

इस वर्ष अगस्त में समस्त उत्तर प्रदेश में छोटे बच्चे कुछ उलझे से थे। उन्हें लगता था जैसे वह स्कूल से काफी समय से दूर थे। एक छोटे बच्चे ने हमें बताया कि वह बहुत पहले स्कूल जाना छोड़ चुका था। असल में यह लंबा अंतराल अध्यापकों की हड़ताल के कारण आया था जो गर्मियों की छुट्टियों के बाद शुरू हुई थी, और इस हड़ताल के समाप्त होने के कोई आसार नहीं थे।

लेकिन बड्सू (मुजफ्फ्रनगर, उ.प्र.) का प्राथमिक विद्यालय जैसे और भी जीवंत दिखाई दे रहा था। आठ युवकों ने, जो कक्षा आठ से लेकर एम.ए. बी.एड. तक शिक्षित थे, यह निश्चय किया कि जब तक सरकार और अध्यापक अपने झगड़े सुलझाएंगे वे पढ़ाई जारी रखने में बच्चों की मदद करेंगे। बच्चे तालाबंद कक्षाओं के बाहर बरामदें में पँक्तियों में बैठे थे और दिल लगाकर पढ़ रहे थे। वहाँ पूरा अनुशासन और व्यवस्था थी। वहाँ पढ़ा रहे युवकों का कहना कि स्कूल में इतनी क्रियाशीलता लंबे समय से नहीं देखी गई थी। वे मुख्यमंत्री की अपील से प्रेरित होकर आगे आए थे, जिन्होंने शिक्षित युवकों से हड़ताल के दौरान छात्रों की मदद करने को कहा था।

स्कूल प्रणाली की निष्क्रियता को सामान्यजनों द्वारा चुनौती देने के ये कुछेक उदाहरण हैं। इस तरह की पहलकदमियों को प्रोत्साहित करने के लिए इस बात की तुंरत आवश्यकता है कि माता–पिता की मांगों के प्रति स्कूल प्रशासन तंत्र को संवेदनशील और प्रतिक्रियात्मक बनाया जाए। स्कूली शिक्षा के मामलों में अधिक सक्रिय जन–भागीदारी की पहली आवश्यकता यह अनुभूति है कि स्थिति में बदलाव लाया जा सकता है।

❁❁❁❁❁❁❁

इकाई क्र. 5

पठन सामग्री क्र. 15

सेतु पाठ्यक्रम

आवासीय सेतु पाठ्यक्रम

(वैकल्पिक एवं नवाचारी शिक्षा)

प्रस्तावना

वैकल्पिक एवं नवाचारी शिक्षा कार्यक्रम ''**सभी बच्चों की शिक्षा**'' (Education for all) के लक्ष्य पूर्ति की दिशा में उठाया गया एक महत्वपूर्ण कदम है। **'डोर टू डोर'** सर्वे से प्राप्त आंकड़े तथा पढ़ने लायक बच्चों के प्रवेश हेतु किए गए व्यापक प्रयास के बावजूद शाला से बाहर रह गए बच्चों की बड़ी संख्या इस कार्यक्रम की आवश्यकता व महत्व को और अधिक बढ़ाता है। भारत जैसे विशाल देश में सबके लिए शिक्षा भविष्य का संबल है।

बच्चों की पारिवारिक परिस्थितियॉ उनकी नियमित विद्यालय तक पहॅुच में सबसे बड़ी बाधा होती है। इसी कारण बहुत से बच्चे शिक्षा से वंचित रह जाते है। वास्तव में विद्यालय नहीं जाने वाले बच्चे किसी न किसी काम जैसे – खेतों में मजदूरी करना, बर्तन मांजना, होटलों, दुकानों, कारखानों में कार्य कर पारिश्रमिक प्राप्त करना या परिवार को सहारा देने के रूप में घर का कार्य करना, छोटे–मोटे सामान बेचना, मवेशी चराना या छोटे भाई–बहनों की देखभाल करना इत्यादि कार्यों में संलग्न होते है। ऐसे बच्चों को शाला से जोड़ना अत्यावश्यक है। इस क्षेत्र में सबसे बडी चुनौती उन बच्चों को शाला से जोड़ने की है, जो पहले कभी शाला नहीं गए और जो विद्यालय जाने की उम्र पार कर चुके हैं। वे अब अपने से कम उम्र के बच्चों के साथ कक्षा मे बैठकर पढ़ने में असहज महसूस करेंगे। ऐसे बच्चों के लिए वैकल्पिक व नवाचारी शिक्षा की व्यवस्था एक अनिवार्यता है। इस वृहत कार्य के लिए सभी के सहयोग से वैकल्पिक शिक्षा की सुविधा स्थापित की जा रही है।

यह व्यवस्था पूर्णतः अस्थाई होते हुए भी तब तक चलेगी जब तक शाला से बाहर के सभी बच्चे शिक्षा के मूल धारा में न आ जाएँ। यह नियमित विद्यालय का विकल्प न होकर यहाँ पहॅुचने का माध्यम बस होगी। पूर्णकालिक नियमित विद्यालय ही बच्चों के सर्वांगीण विकास का एकमात्र केन्द्र है जहाँ सभी बच्चों का दाखिला उनका मौलिक अधिकार है।

उद्देश्य एवं आवश्यकता

वैकल्पिक एवं नवाचारी शिक्षा अंतर्गत सेतु पाठ्यक्रम का उद्देश्य उन बच्चों को जो कभी शाला नहीं गए या जिन्होने बीच में ही पढ़ाई छोड़ दी है, उन्हें उनके द्वारा अर्जित दक्षता के आधार पर नियमित शाला में उपयुक्त कक्षा में प्रवेश दिलाना है।

इसके अंतर्गत आवासीय केन्द्र का मुख्य उद्देश्य एक ऐसा प्रेरक स्थान उपलब्ध कराना है जो न केवल बच्चों के लिए उपयोगी हो बल्कि पालकों, शिक्षा स्वयंसेवकों, तथा समुदाय के लिए भी उपयोगी हो। जहाँ बच्चों के लिए शिक्षा की आवश्यकता पर परस्पर संवाद हो सके। आवासीय तथा गैर आवासीय केन्द्र के लिए सबसे बड़ी चुनौती बच्चों को केन्द्र से हटाकर औपचारिक शाला में लाने की है। प्रायः ये बच्चे 6 से 14 आयु समूह के हैं, जो कभी शाला नहीं गए या प्रवेश लिए भी तो कक्षा 5वीं की शिक्षा पूर्ण किए बिना ही शाला छोड़कर चले गए और उनकी आयु उस कक्षा में पढ़ने की आयु से अधिक भी हो गई है। अब वे अपनी आयु से छोटे बच्चों के साथ कक्षा में असहज महसूस करते हैं। इसमें उच्च प्राथमिक कक्षा में पढ़ने लायक खासकर लड़कियों की संख्या भी काफी अधिक हैं, जो अनेक सामाजिक, आर्थिक व विशिष्ट स्थानिक कारणों से कक्षा 5वीं या 6वीं की पढ़ाई के बाद विद्यालय छोड़ देती है।

इस आयु समूह के बच्चे यदि शाला में नहीं हैं तो निश्चित रूप से कोई न कोई अवैतनिक या वैतनिक कार्य कर रहे हैं। इन्हें इस बंधन से छुड़ाकर नियमित विद्यालय में दाखिला के लिये आवासीय व गैर आवासीय सेतु पाठ्यक्रम अत्यावश्यक है।

आवासीय तथा गैर आवासीय सेतु पाठ्यक्रम शिक्षा केन्द्रों में शालात्यागी/अप्रवेशी साथ ही बड़ी उम्र के बच्चों को लाने में समुदाय की बड़ी भूमिका होगी। इन केन्द्रों की सार्थकता उन बच्चों के साथ उसके परिवार की आवश्यकता व समय की सुविधा को केन्द्रित कर संचालन करने पर निर्भर करेगी। अतः लचीली समय सारिणी व केन्द्र व्यवस्था अधिक कारगर होगी।

लक्ष्य

प्रत्येक जिलें में सेतु पाठ्यक्रम बच्चों की सुविधा व आवश्यकतानुसार अनेक स्थानों पर प्रारंभ होना चाहिए। जिन ग्रामों में बच्चों की संख्या कम है तथा जहां बच्चे किसी कार्य में संलग्न हैं। जहां लम्बी अवधि के पलायन की समस्या है वहां ऐसे बच्चों को आवासीय सेतु पाठ्यक्रम मे प्रवेश हेतु प्रोत्साहितकरना आवश्यक है। आवासीय केन्द्र में बच्चों के लिए निःशुल्क पठन–पाठन, आवास, भोजन व स्वास्थ्य के देखभाल की व्यवस्था होती है।

दो तरह के लक्ष्य समूह :–

(अ) 6–11 आयु वर्ग वाले बच्चे

(ब) 11–14 आयु वर्ग वाले बच्चे

तात्कालिक रुप से सेतु पाठ्यक्रम के निम्नांकित प्रमुख लक्ष्य हैं :–

- वैकल्पिक व नवाचारी शिक्षा केन्द्र में आने वाले बच्चे जो मुख्य धारा में नहीं जा पाए उन्हे पुनः मुख्यधारा, अर्थात नियमित शाला के लिए तैयार करना।
- उन वर्गो के लिए प्रयास करना, जिन वर्गो के अधिक बच्चे शाला से बाहर है।
- बालिकाएँ।
- एक से अधिक बार अनुतीर्ण होकर शाला छोड़ देने वाले बच्चे।

आवासीय केन्द्र हेतु बच्चों का चयन

- आवासीय सेतु पाठ्यक्रम ऐसे बच्चों के लिए होती है जिनके लिए स्थानीय स्तर पर गैर आवासीय सेतु पाठ्यक्रम की व्यवस्था नहीं की जा रही है। ऐसे ग्रामों में जहां बच्चों की संख्या 10 से कम है, उन्हे एक स्थान पर इकट्ठा कर 50 बच्चों के लिए आवासीय केन्द्र प्रारंभ की जाती है।
- आवासीय केन्द्र हेतु उन बच्चों का चयन किया जाता है जो 8–14 आयु वर्ग के हैं। परंतु चयन प्रक्रिया में बड़ी उम्र के ऐसे बच्चों को प्राथमिकता दी जाती है जिन्हे पूर्व में पढ़ने का अवसर नहीं मिला हो।
- बच्चों के चयन में यह ध्यान रखा जाता है कि प्राथमिकता से अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अल्पसंख्यक वर्ग पिछड़ा वर्ग एवं गरीबी रेखा से नीचे जीवन यापन करने वाले शिक्षा से वंचित बच्चों का चयन हो।
- बच्चे केन्द्र से जुड़े इसलिए ऐसे दूरदराज क्षेत्र जहां शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं है वहां के बच्चों को प्राथमिकता के आधार पर चयन किया जाता है।
- विकलांग बच्चों को भी इस कोर्स से जोड़ा जाता है।
- यह बात उल्लेखनीय है कि बच्चे जिन्होने ब्रिज कोर्स में भाग लिया है उन्हे बहुत अधिक देखभाल व सुरक्षा की आवश्यकता है।
- चयन प्रक्रिया के दौरान अभिभावकों से सहमति पत्र बच्चे की जन्म तिथि सहित शिविर में प्रवेश हेतु आवश्यक रुप से प्राप्त की जाती है।
- बच्चे किसी संक्रामक (क्षय रोग, खुजली, चर्मरोग) अथवा अन्य आसाध्य रोग से पीड़ित नहीं हो, इसका इंतजाम किया जाता है।

वैकल्पिक नवाचारी शिक्षा केन्द्र हेतु शिक्षा स्वयं सेवकों का चयन

- 50 बच्चों के शिविर में 02 शिक्षा स्वयं सेवक/स्वयं सेविका का होना आवश्यक होता है। चयन पश्चात् कम से कम 07 दिवसीय प्रशिक्षण अनिवार्य होता है।
- आवासीय केन्द्रों में जहॉ तक संभव हो तो वहां केवल महिला शिक्षा स्वयं सेविका को रखा जाता है।

चयन का आधार

- निर्धारित शैक्षणिक योग्यता रखते हो, प्रशिक्षित हों।
- शाला से जो बच्चे बाहर हैं उन्हे अभिप्रेरण शिविर में लाने के लिए कार्य किए आवेदक हों।
- आवासीय शिविर मे बच्चों के साथ ही रहने हेतु सहमत हों।
- जिन्हे पेन्टिंग, सिलाई, कढ़ाई, संगीत, खेलकूद, स्थानीय कलाओं की जानकारी हो, जिसे वह शिविर के बच्चों को सिखा सकें।

- अध्यापन के अतिरिक्त बच्चों को सभी भावनात्मक आवश्यकताओं, वैयक्तिक एवं सामूहिक स्वच्छता, बीमारी, खेल इत्यादि के दौरान मार्गदर्शक, साथी की भांति शिक्षा स्वयं सेवक बच्चों के साथ मित्रवत्, मां, बहन परिचारिका सभी प्रकार की भूमिका निभा सकें।

समयावधि

वैकल्पिक व नवाचारी शिक्षा केन्द्र में बच्चे को रखने की अधिकतम अवधि 9 माह होती है। केन्द्र का कार्यकाल तब तक चलता रहता है, जब तक एक भी बच्चा शिक्षा की मुख्य धारा में प्रवेश लेने से बचा होता है।

वैकल्पिक नवाचारी केन्द्र के लिए कोई निर्धारित सत्र अवधि नहीं होती। बच्चे के लिए सत्र की गणना उसके दर्ज माह से आगामी 9 माह तक मानी जाती है। नियमित विद्यालयों के समान सत्र प्रांरभ व ग्रीष्मवकाश जैसी व्यवस्था यहां के लिए लागू नहीं होती। 9 माह बाद भी बच्चा मुख्य धारा में प्रवेश नहीं कर पाता है, तब भी उसे इन केन्द्रों में रखा जा सकता है, परन्तु इसके लिए सुसंगत कारणों सहित जिला परियोजना कार्यालय की अनुमति आवश्यक होती है। सत्रांत का अर्थ यहां प्रत्येक बच्चे का मुख्य धारा में प्रवेश से है।

पठन–पाठन सामग्री :–

- सेतु पाठ्यक्रम पठन सामग्री पूरी तरह दक्षता आधारित होता है। विभिन्न कक्षाओं के लिए निर्धारित दक्षताओं की प्राप्ति हेतु विभिन्न भागों में पठन सामग्री होती है। कक्षा 5वीं की पुस्तकों को प्राथमिक स्तर की उच्चतम दक्षताओं को प्राप्त करने के लिए पढ़ाये जाने का प्रावधान होता है।
- शैक्षिक सहायक सामग्री के रूप में कक्षाओं में पढ़ाई जाने वाली पाठ्य पुस्तकें भी होती है जैसे, अभ्यास पुस्तिका, बचपन, बालमित्र, पेन, पेंसिल, बस्ता।

सहायक सामग्री :–

- शिक्षा स्वयं सेवक मार्गदर्शिका, रोलपबोर्ड, चॉक, चार्ट अन्य शैक्षिक सामग्री स्वनिर्मित अधिगम सामग्री बच्चों से निर्मित अधिगम सामग्री।
- सभी बच्चों के लिए शुरूआत भाग–1 से ही की जाती है। जैसे–जैसे बच्चे भाग पूर्ण करते जाते हैं वैसे ही उन्हें अगला भाग पढ़ाया जाता है। साथ में उन्हे पाठ्य पुस्तकें भी पढ़ाई जाती है, ताकि वे उपयुक्त कक्षा में प्रवेश के समय पाठ्य पुस्तकों से परिचित रहें। लेकिन सेतु पाठ्यक्रम भाग–1 पढ़ाने के बाद ही पाठ्य पुस्तकों से परिचय करवाया जाता है।
- आवासीय ब्रिज कोर्स केन्द्रों में कम से कम साढे पॉच घंटे की पढ़ाई अनिवार्यतः होता है।
- बच्चों ने पूर्व में जिस कक्षा स्तर की दक्षता प्राप्त कर ली है, उन्हें आगे की कक्षा स्तर की दक्षता प्राप्त कराने हेतु पठन सामग्री दी जाती है तथा आगे की कक्षा स्तर की दक्षता प्राप्त कराने का प्रयास किया जाता है।

प्रशिक्षण :–

शिक्षा स्वयं सेवकों को 7–7 दिवस का प्रशिक्षण दो चरणों में दिया जाता है।

प्रबंधन :–

केन्द्र संचालन हेतु केन्द्र तथा विकासखंड स्तर पर एक प्रबंध समिति गठित करने का प्रावधान है। जो अलग–अलग स्तरों अलग–होती है–

विकासखण्ड स्तर–

1. स्थानीय जनपद समिति के अध्यक्ष अथवा उपाध्यक्ष – संयोजक
2. विकासखंड शिक्षा अधिकारी – सदस्य सचिव
3. विकासखंड स्त्रोत समन्वयक
4. स्थानीय निकटस्थ शाला के वरिष्ठ प्रधानाध्यापक
5. पंजीकृत स्वयं सेवी संस्था का सदस्य (जिला परियोजना समन्वयक द्वारा मनोनीत)

स्कुल केन्द्र स्तर–

6. संबधित संकुल केन्द्र का संकुल प्रभारी/शैक्षिक समन्वयक
7. संबंधित संकुल का वरिष्ठ प्रधान पाठक (BEO/BRC द्वारा मनोनीत)
8. केन्द्र प्रभारी
9. समस्त शिक्षा स्वयंसेवक

यह समिति स्थानीय स्तर पर आवासीय केन्द्र के समुचित संचालन की देखरेख करती हैं। विकासखण्ड प्रबंधन समिति का महत्वपूर्ण कार्य यह होता है कि विकासखण्ड में स्कूल से बाहर बच्चों की संख्या तथा केन्द्र स्थल हेतु भवन की उपलब्धता के आधार पर आवासीय केन्द्र की प्रारंभिक व्यवस्था कर लें।

जिलास्तर :–

जिले में संचालित होने वाले आवासीय शिविर के लिए शिक्षा स्वयं सेवकों एवं शिविर स्थल का सही चयन हो यह सुनिश्चित करने का दायित्व जिला परियोजना समन्वयक का होता है। मासिक बैठकों के माध्यम से नियमित मानीटरिंग कर केन्द्रों की गुणवत्ता को बनाए रखने की जिम्मेदारी जिला परियोजना समन्वयक व सहायक परियोजना समन्वयक की होती है।

डाइट प्राचार्य की महीने में कम से कम एक बार केन्द्र का भ्रमण करने की जिम्मेदारी होती है। बच्चों की उपलब्धि स्तर व शिक्षा स्वयं सेवकों के प्रशिक्षण का दायित्व डाइट का होता है। मानीटरिंग के आधार पर समीक्षा बैठक में डाइट प्राचार्य प्रगति प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हैं।

केन्द्र प्रभारी का दायित्व :–

- केन्द्र के सफल संचालन हेतु समन्वय करते हुए संपूर्ण व्यवस्था करना।

- केन्द्र संबधी सामग्री व्यवस्थाओं के लिए प्रबंधन समिति की सलाह से आवश्यकतानुसार कय हेतु वयवस्था करना।
- केन्द्र से संबधित खाद्य सामग्री की आगामी 30 दिन की उपलब्धता सुनिश्चित कराना।
- केन्द्र में सामाजिक मर्यादाओं, अनुशासनात्मक वातावरण, शिक्षा स्वयं सेवक/स्वयं सेविका एवं बालक बालिकाओं की सुरक्षा का दायित्व वहन करना।
- बालक–बालिकाओं के निरंतर शैक्षिक उन्नयन हेतु यथासंभव आवश्यक कदम उठाना।
- नियमित समय पर मूल्यांकन कार्य संपादित करना।
- केन्द्र के प्रति आकस्मिक स्थितियों में तुरंत निर्णय लेना।
- केन्द्र के प्रति अभिभावकों का विश्वास बनाए रखने हेतु निरंतर संपर्क करना।
- बालक/बालिकाओं को स्तर अनुसार वर्ग बनाने एवं वर्गानुसार स्वयं सेविकाओं उनके प्रवेश, मूल्यांकन आदि का रिकार्ड संधारण हेतु मार्गदर्शन देना।
- प्रभावी शिक्षण हेतु समय–तालिका का निर्माण करने एवं परिस्थिति अनुसार उसमें आवश्यक संशोधन रखना।
- शिक्षा स्वयं सेवकों को सहायक सामग्री बनाने हेतु सहयोग एवं मार्गदर्शन प्रदान करना।
- संकुल शैक्षिक समन्वयकों के सहयोग से साप्ताहिक एवं मासिक मूल्यांकन की व्यवस्था करना व रणनीति बनाना।
- शिक्षा स्वयं सेवकों के सहयोग से बच्चों की व्यक्तिगत सफाई एवं दिनचर्या को व्यवस्थित करने के लिए निर्देशित करना।
- केन्द्र को आनंददायी बनाने हेतु शिक्षण के अतिरिक्त खेल, भ्रमण आदि की व्यवस्थाएँ करना।
- साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं अन्य पाठ्य सहभागी कियाकलाप आयोजन हेतु नियमित मार्गदर्शन प्रदान करना।

शिक्षा स्वयंसेवक/सेविका का दायित्व :–

- बालक/बालिकाओं के समक्ष आदर्श व अनुकरणीय आचरण प्रस्तुत करना।
- प्रतिदिन की शैक्षिक समीक्षा व आगामी दिवस की कार्ययोजना का नियमित निर्धारण एवं नियोजन।
- केन्द्र प्रभारी के निर्देशानुसार केन्द्र संचालन एवं व्यवस्थाओं में सहयोग प्रदान करना।
- बालक/बालिकाओं की सुरक्षा की संपूर्ण जिम्मेदारी वहन करना।

- बालक/बालिकाओं के अभिभावकों एवं अधिकृत रिश्तेदारों की सूची अपने पास रखना।
- बालक/बालिकाओं के केन्द्र स्थल छोड़ने का पूर्ण विवरण संधारण करना।
- बालक/बालिकाओं के अस्वस्थ होने की स्थिति में चिकित्सालय ले जाने में मदद करना।
- केन्द्र हेतु खाद्य एवं अन्य सामग्री जुटाने और उपयोग आदि की जिम्मेदारी व इसका लेखा जोखा रखने में केन्द्र प्रभारी की मदद करना।
- रात्रि के समय सुरक्षा के प्रति सतर्क रहकर केन्द्र स्थल की जिम्मेदारी वहन करना।
- केन्द्र प्रभारी द्वारा बताए अनुसार शिविर हित में कार्यों का संपादन करना।

केन्द्र सहायक–योग्यता एवं दायित्व :–

- केन्द्र सहायक क्षेत्र का ग्रामीण व्यक्ति हो।
- बालिकाओं के केन्द्र के लिए परिपक्व आयु की महिला को प्राथमिकता।
- महिला स्वसहायता समूह की सक्रिय व साक्षर सदस्य अथवा संस्थाओं से जुड़ी महिलाओं को प्राथमिकता।
- बच्चों के स्वास्थ्य संबंधी व व्यक्तिगत समस्याओं का स्नेहपूर्ण देखभाल करना।

अकादमिक सह शैक्षणिक एवं सृजनात्मक गतिविधियां–

बच्चों के केन्द्र में प्रवेश उपरांत केन्द्र स्थल पर प्रांरभिक चरण में उनके पूर्व ज्ञान का ज्ञान परख की जाती है। जिसके आधार पर उनके कौशल एवं शैक्षिक स्तरानुसार समूह बनाए जाते हैं तथा सतत् मूल्यांकन द्वारा प्रगति का आंकलन की जाती है।

बच्चों को उनके स्तर के अनुरूप– 2–3 समूहों में रखकर पढ़ाया जाता है।

समूह–1– अनामांकित बच्चे जो कभी शाला में दर्ज नहीं हुए व पढना लिखना नहीं जानते।

समूह–2– शाला त्यागी – **अ.** जो अक्षर को पहचानते हैं लेकिन मात्राओं के साथ शब्दों को पहचानने में समस्या है।

समूह–3– शाला त्यागी – **ब.** जो शब्द पढ़ पाते हैं। वाक्य पढ़ पाते है तथा सभी अक्षरों को मात्राओं के साथ पहचानते व पढ़ पाते हैं।

आवासीय केन्द्र हेतु शैक्षणिक गतिविधियॉ

आवासीय केन्द्रों में शिक्षण के साथ–साथ सह शैक्षिक गतिविधियों का अत्याधिक महत्व होता है। केन्द्र के लिए निम्नलिखित गतिविधियॉ प्रस्तावित होती हैः–

प्रातः स्मरणः– शिक्षा स्वयं सेवक/सेविका की मदद से दिन की शुरूआत भोर गीत से करना। धीरे–धीरे क्रमवार बच्चों के समूहों की जिम्मेदारी तय करना जो प्रातः जागरण के समय भोर गीत गाकर जागरण एक समय पर कराएँ।

व्यायाम सत्र :– प्रातः दैनिक निवृत्ति पश्चात नाश्ते से आधा घंटा पूर्व व्यायाम करवाना जिसमें आराम, सावधान, साधारण योग प्राणायाम, कदमताल आदि सिखाया शामिल होते है।

प्रार्थना सत्रः– इस सत्र में कम से कम दो प्रार्थनाएँ/प्रेरक गीत, दोहे, एकता मंत्र सुभाषित का वाचन एवं सरलार्थ बच्चों द्वारा प्रयास व अभ्यास करवाना।

प्रेरक प्रसंग, सामान्य ज्ञान व चरित्र निर्माण की बातें तथा बच्चों को प्रेरित करना तथा सामान्य ज्ञान का प्रश्न पूछना।

केन्द्र में दैनिक समाचार पत्र वाचन सुनिश्चित करना।

बच्चों का अखबार, श्यामपट दिवाल आदि जिस पर बच्चे स्वयं लिखें वह घटनाएँ जो आस–पास घट रही हो।

बच्चों को प्रार्थना, व्यायाम, खेलकूद आदि के समय सीधी कतार या गोल घेरे में रहने की आदत डालना।

केन्द्र में आवास स्थल, कक्षा–कक्ष की सफाई, जल व्यवस्था, पेड़ पौधों की देखभाल आदि द्वारा श्रमदान का संस्कार डालना।

खेलकूद– केन्द्र में 1 घंटे का खेल सत्र का भी प्रवधान होता है।

सृजनात्मक गतिविधियाँः–

केन्द्र में शैक्षिक कार्यों के साथ–साथ सृजनात्मक गतिविधियों का भी महत्व होता है। इससे बच्चों की अंदर की कला तथा सृजन शक्ति को निखारने में मदद मिलती है साथ ही बच्चों को शिक्षा बोझिल नहीं होती। जैसे– कागज व कपड़े पर रंगीन पेंसिल, स्केच पेन, वाटर कलर, धागा बुनाई, कबाड़ से जुगाड़, गणित की पहेलियां, विज्ञान का प्रयोग, कविता व कहानियों की सामग्री तैयार करना।

> किसी सेतु आवासीय केन्द्र का भ्रमण कर केन्द्र में सम्पन्न होने वाली गतिविधियों पर एक प्रतिवेदन तैयार करें। यह भी पता करें कि केन्द्र में अवकाश के दिनों की गतिविधियाँ क्या होती है।

पुस्तकालय :–

केन्द्र में एक ऐसा कक्ष या स्थान का प्रावधान होता है जहाँ बच्चों के लिए विभिन्न प्रकार की पुस्तकें, विकास सामग्री, नक्शे, चार्ट आदि संग्रहित हों। इसी तरह कक्षा कक्ष में चित्रमय कहानी, सरल कहानी व कविताओं की चयनित पुस्तकें डोरी में क्लिप से लटका कर रखने का प्रावधान होता है जिससे बच्चों में आकर्षण पैदा हो।

गीत एवं कविताओं हेतु प्रोत्साहन :–

बच्चे छोटी–छोटी कविताओं का सृजन स्वयं कर सकें इस हेतु केन्द्र में उन्हें प्रोत्साहित किया जाता है।

भ्रमण :–

केन्द्र में विभिन्न शासकीय विभागों के विशेषज्ञों का भ्रमण तथा बच्चों को शिविर से बाहर स्थानीय पोस्ट आफिस, बैंक, थाना पंचायत, तहसील आदि का पाक्षिक भ्रमण कराने की भी अपेक्षा होती है।

कक्षागत गतिविधियॉः—

सेतु पाठ्यक्रम बच्चों को पढ़ाने का काम शब्दों से करने को महत्व देता है क्योंकि शब्दों से बच्चे पूर्व से परिचित होते हैं। शब्दों से अक्षरों को तोड़कर तथा पुनः नए शब्द बनाकर सिखाया जाता है। सामान्य तौर पर इस तरीके से बच्चे 6 माह में पढ़ना—लिखना सीख जाते हैं। ये बच्चे चूंकि उम्र में बड़े होते हैं तथा अपने आस—पास के वातावरण से बहुत कुछ पहले से ही सीख चुके होते हैं, इसलिए इनके सीखने की गति छोटे बच्चों की तुलना में अधिक होती है तथा वे शब्दों के माध्यम से अक्षरों को तेज गति से पहचानने लगते हैं।

समितियों का गठन :—

बच्चों का केन्द्र में समायोजन पश्चात् केन्द्र के सफल संचालन हेतु बच्चों की समितियॉ बनाई जाती है। जिससे बच्चों में शिविर के प्रति जिम्मेदारी व स्वामित्व की भावना का विकास हो। प्रांरभ में शिक्षा स्वयं सेवक गण सहयोग प्रदान करेंगे। केन्द्र में निम्न कार्यों की समितियॉ बनाई का प्रावधान है—

— भोजन व पेयजल

— स्वास्थ्य

— मनोरंजन

— सफाई

— सुरक्षा

लगभग सभी बच्चों को किसी न किसी समिति का सदस्य बनाया जाता है। प्रति सप्ताह समूह की सदस्यता बदलती रहे इसका भी ख्याल रखा जाता है। ताकि सभी बच्चे शिविर की सभी गतिविधियों में भाग ले सकें।

बच्चों की वापसी :—

चेतना सत्र

रोचक पारिवारिक गतिविधियॉ :—

इसके लिए बच्चों के जन्मदिन की जानकारी संधारित करना, बच्चों को उनके जन्मदिन की शुभकामना प्रार्थना सत्र में सभी बच्चों के माध्यम से देना, त्यौहारों व महापुरूषों की जयंतियों पर सांयकालीन सत्र में गतिविधियाँ करना सप्ताहांत व अवकाश के दिन बाल सभा का आयोजन, अभिव्यक्ति कौशल, आत्म विश्वास पैदा करने वाली गतिविधियां, सांस्कृतिक कार्यक्रम आदि। माह में एक दिन बच्चों को समूहों में एक बार भ्रमण के लिए केंद्र परिसर से बाहर ले जाना। जैसे—अस्पताल, पुलिस थाना, पोस्ट ऑफिस आदि भी आवश्यक होता है।

आवासीय केन्द्र की प्रारंभिक समस्याऍ

केन्द्र में बच्चे व शिक्षा स्वयंसेवक दोंनो को निवास करना होता है। परिवार छोड़कर आने वाले बच्चे 10—14 आयु अर्ग के होते हैं। ये किशोर बच्चे संभवतः पहली बार घर से बाहर निकलते होंगे, अपने परिवेश

से बिल्कुल भिन्न परिवेश व वातावरण में रहते हैं। अतः संभव है कि उन्हें प्रारंभ में समायोजन में कुछ कठिनाइयॉ हो सकती है–

1. भोजन/आवास संबंधी समस्याऍं।
2. आचरण/व्यवहार संबंधित समस्याऍं।
3. समायोजन व अभिभावकों को लेकर समस्याऍं।
4. अध्ययन–अध्यापन व्यवहार संबंधी समस्याऍं।
5. प्रशासनिक/वित्त परियोजना के स्तर वाली समस्याऍं।

उपर्युक्त समस्याओं को विचार रूप में, काल्पनिक रूप से सोचकर देखना उपयुक्त होगा। केन्द्र में सभी व्यवस्थाऍं सुचारू हो सकती है, फिर भी केन्द्र में प्रांरभिक समय में विभिन्न समस्याओं का सामना करना स्वाभाविक है क्योंकि सबकी रूचि, आदतें, स्वाद एक से नहीं होते, अतः समायोजन बड़े स्तर पर करना होता है।

कठिनाइयों का अंदाजा पूर्व से होने पर उनका हल भी जल्दी हो जाता है। शिक्षा स्वयं सेवकों को यह सूझ आसानी से हो सकेगा कि कौन सी समस्या का समाधान कैसे, कब किस तरह हो सकता है। कुछ समस्याऍं ऐसी होगी जिसका समाधान खुद उनके पास होगा जिसे वे स्वयं अपने धैर्य, विवेक और व्यवहार से हल कर सकेंगे। कुछ समस्याऍं ऐसी होगी जो स्थानीय लोगों या अभिभावकों, जमीनी कार्यकर्ताओं की मदद से दूर कर सकेंगे। जब कि कुछ समस्याऍं परियोजना के साथियों/अधिकारियों की मदद से दूर कर सकेंगे।

केन्द्र में प्रांरभ की प्रारंभिक समस्याऍं :–

- बच्चों का केन्द्र में मन नहीं लगना।
- दैनिक जीवनचर्या से परेशान होना।
- अभिभावकों के मिलने आने पर वापिस घर जाने के लिए मचलना।
- कभी–कभी स्थानीय असामाजिक तत्वों द्वारा केन्द्र में समस्याऍं पैदा करना।
- अध्ययन/सीखने के प्रति रूचि।
- व्यवस्था के प्रति शिकायत।

आवासीय केन्द्र में अभिभावकों के साथ शिक्षा स्वयं सेवकों का अपेक्षित व्यवहार :–

उददेश्य

⇒ अभिभावकों का केन्द्र के प्रति जुड़ाव पैदा करना।

⇒ आपसी रिश्ते विकसित करना, ताकि अभिभावकों की सकारात्मक सोच से बच्चों की नियमिति व ठहराव सुनिश्चित हो।

भूमिका

प्रत्येक बच्चा केन्द्र में अपने परिवार से बिछुड़कर आता है। केन्द्र में उसे नए वातावरण में समायोजित होना पड़ता है। माता–पिता भी अपने बच्चे को देखने–मिलने के लिए आतुर रहते हैं। ऐसी स्थिति में आवासीय केन्द्र का ऐसा प्रयास होना चाहिए कि अभिभावक पूर्ण रूपेण संतुष्ट व आशान्वित रहें–

⇒ प्रसन्न भाव से अभिभावकों का स्वागत करना।

⇒ उनके द्वारा चाही गई जानकारी पूरी स्पष्टता के साथ सहज भाव से देना।

⇒ अपनी बात तथा व्यवहार से वे यह मानने लगे कि केन्द्र की शिक्षा स्वयं सेवक उनकी मॉ, बाप, मित्र की तरह देखभाल कर रही है।

⇒ अपने कार्यक्रमों से उन्हें अवगत कराएँ बच्चों के शिक्षा प्राप्त कर लेने के पश्चात् उनकी हालत बेहतर होगी यह सोच सके।

⇒ उन्हे उनके बच्चों द्वारा किए गए कार्यों की जानकारी दी जाए तथा उनके सामने बच्चों को प्रस्तुत कर उसके अच्छे पक्षों को उभाराना।

⇒ भोजन व अन्य आवश्यकताएँ घर जैसे ही पूर्ण हो रही हैं उन्हें इसका विश्वास हो जाए। इसके लिए बच्चों को ही ऐसी व्यवस्था का वर्णन कराना।

⇒ अभिभावक द्वारा बच्चें को घर ले जाने की जिद करने पर विनम्रता से मना कर उन्हें स्पष्टतः अवगत कराना कि बच्चों के जाने से पढ़ाई का कितना नुकसान होगा।

स्वास्थ्य–

- किसी बच्चे को गंभीर/संक्रमित बीमारी हो तो उसे केन्द्र से घर भेजकर अभिभावकों को इलाज की सलाह देना।
- प्रांरभिक स्वास्थ्य परीक्षण में आयु व विकलांगता का प्रमाणीकरण चिकित्सक द्वारा करवाना।
- केन्द्र प्रांरभ होने के 7 दिवस के अंदर सभी बच्चों का स्वास्थ्य परीक्षण कराना।
- केन्द्र स्थल पर स्थानीय चिकित्सक एवं चिकित्सालय व संबंधित नर्स के दूरभाष नम्बर स्पष्ट अंकों में दीवार पर लिखना। आकस्मिक अस्वस्थता की दशा में त्वरित कार्यवाही करना।
- प्रत्येक बच्चे की उॅचाई, वजन रक्त व दृष्टि की जॉच करवाकर अभिलेख संधारण करना।
- व्यक्तिगत साफ सफाई, कपडों, बिस्तर, आवास, कक्ष, तथा, अध्ययन कक्ष की साफ सफाई हेतु बच्चों को प्रेरित करना।
- स्नान घर व शौचालय के सही उपयोग व सफाई को महत्व देना।
- रसोई एवं स्टोर की स्वच्छता तथा पेयजल को छानकर पीना, ढ़ककर रखना तथा पानी निकालने के लिए डंडी वाले लोटे का उपयोग सुनिश्चित करें।

जनसहयोग

- सभी स्तरों पर सभी गतिविधि में जन सहयोग की संभावना रखना।
- जनसहयोग स्वैच्छिक सेवा, सामग्री, के रूप में ड्रेस, स्वेटर, जूते, पंखे, पानी की टंकी, बर्तन आदि के रूप में प्रोत्साहित करना।
- जनसहयोग खाद्य सामग्री तथा नगद राशि के रूप में कदापि न लेना।
- जनसहयोग से प्राप्त सामाग्री का इन्द्राज पंजी में कर विकासखण्ड प्रबंधन समिति को प्रस्तुत करना।

बच्चों का मूल्यांकन के प्रावधान–

- आवासीय केन्द्र में सेवा देने वाले शिक्षा स्वयंसेवकों द्वारा बच्चों का सतत् रूप से मूल्यांकन करना।
- प्रत्येक 3 माह पश्चात् बाह्य मूल्यांकन।

बच्चों का शाला में प्रवेश :–

- सेतु पाठ्यक्रम के अंत में बच्चों का एक मूल्यांकन कर कक्षा में प्रवेश।
- यह आवश्यक नहीं है कि सेतु पाठ्यक्रम के अंत में ही बच्चे को कक्षा में दर्ज हो, अपितु सेतु पाठ्यक्रम के दौरान जैसे–जैसे बच्चे दक्षता प्राप्त करते जायेंगे। वैसे–वैसे उन्हें उनकी योग्यता अनुरूप कक्षा में उनकी सहमति लेकर दर्ज करवाने का प्रावधान है।
- प्रत्येक स्थिति में प्रधान पाठक/शिक्षक द्वारा इन बच्चों को शाला में दर्ज लिया जाता है।
- ऐसे बच्चे जो सेतु पाठ्यक्रम में रहने के उपरांत भी किन्हीं कारणवश शाला में दर्ज न हो सकें उनके लिए निजी परीक्षार्थी के रूप में सम्मिलित होने का भी विकल्प होता है।

❁❁❁❁❁❁❁

वैकल्पिक शिक्षा कार्यक्रम, एम.जी.एम.एल तथा शिशु शिक्षा कार्यक्रम से सम्बंधित सामग्री का अध्ययन पुराने पाठ्यक्रम से करें

❁❁❁❁❁❁❁

इकाई क्र. 6 – शाला का संस्थागत स्वरूप

पठन सामग्री क्र. 16

कक्षा का ढाँचा

कृष्ण कुमार

कई वर्ष पहले एक कहानी लिखते हुए मेरा वास्ता एक ऐसे बच्चे से पड़ा था, जो स्कूल में अपने वार्षिक प्रगति से क्षुब्ध है। कक्षा में उसके मास्टर साहब अक्सर कहा करते हैं कि अमूक बात उसे दो साल पहले जान लेनी चाहिए थी। बच्चा सोचता रह जाता है कि जो बात वह दो साल पहले नहीं जान सका, क्या वह अब नहीं जानी जा सकती ? आखिर ये दो–दो साल के टुकड़े कब तक चलेंगे ? इस बच्चे की दुविधा आधुनिक विश्व में नई पीढ़ी की सबसे व्यापक और गहरी दुविधा की बानगी है। वह जीवन के अत्यंत रूढ़ विभाजन से उत्पन्न हुई है। जीवन का विभाजन बहुत नई बात नहीं है; बचपन, जवानी, प्रौढ़ावस्था और बुढ़ापा पुराने समय से संसार की तमाम जातियों में जीवनखण्डों की तरह मान्य रहे हैं। लेकिन युवावस्था का शेष जीवन से अलगाव तथा युवावस्था के भीतर विकासक्रम का अत्यंत यांत्रिक तथा बारीक विभाजन आधुनिक व्यवस्था की देन है। इसी विभाजन की अभिव्यक्ति है कक्षा की अवधारणा, जो पश्चिमी में अधिक–से–अधिक चार सौ और भारत में दो सौ वर्ष पुरानी है। आज विश्व भर में शिक्षा की आधारशिला कक्षा है। इवान इलिच ने अपनी पुस्तक डीस्कूलिंग सोसायटी में बतलाया है कि शिक्षा हम सब पर कक्षा का लेबल लगा देती है जिसे जीवन भर लटकाए रहते हैं। कौन कितनी कक्षाएँ पढ़कर शिक्षा से अलग हुआ, इसी पर जीवन में उसकी संभावनाएँ निर्भर होती हैं।

कक्षाओं में विभक्त कर देने से शिक्षा एक बाधा–दौड़ बन जाती है। हर 'ऊँची' कक्षा की शिक्षा बच्चे को आमंत्रित करने के स्थान पर उसके रास्ते में बाधा बनकर खड़ी हो जाती है। शिक्षा का इससे ज्यादा विकृत रूपांतरण और कुछ नहीं हो सकता कि वह आकर्षित करने की जगह रोके। इस रूपांतरण की पृष्ठभूमि में किसी शासन की यह अघोषित इच्छा छिपी हो सकती है कि शिक्षा के माध्यम से समाज सीढ़ियों के आकार में व्यवस्थित हो जाए। ऐसी व्यवस्था के अंतर्गत कक्षाओं की बाधा किसी न किसी स्तर पर छात्रों के अधिकांश को रोक लेगी और उनका अल्पांश ही अंतिम कक्षाओं तक पहुँच सकेगा। इस शिक्षा पद्धति का सारा जोर अधिक से अधिक विद्यार्थियों को किसी न किसी स्तर पर अयोग्य घोषित कर देना है। कक्षाओं के क्रम में जो जितने अधिक समय रह लेता है, वह उतना ही अधिक शिक्षित कहलाता है तथा समाज में उतने ही ऊँचे मुआवजे और सम्मान का अधिकारी होता है। कक्षा और समाजिक प्रतिष्ठा का यह गठबंधन स्कूल में ही आरंभ हो जाता है। छोटे और बड़े बच्चों को स्कूल में भिन्न किस्म की सुविधाएँ मिलती है। स्कूल के बाहर, घर तथा अन्य स्थानों पर बच्चे अपनी कक्षा से जाने जाते है; वयस्क समाज में उनका स्थान उनके स्तर से तय होता है। छोटे बच्चे को कदम–कदम पर महसूस होता है कि यह दुनिया वयस्कों की है, अतः इसमें भाग लेने के लिए जल्दी से जल्दी वयस्क हो जाना जरूरी है। ऐसी अनेक शिकायतें स्कूलों में प्रतिदिन सुनने को मिलते हैं जिनमें बच्चा जल्दी बड़ा हो जाने या दिखने की चिंता में कोई अपराध या स्कूल की नैतिक और अनुशासनिक व्यवस्था का उल्लंघन कर बैठता है।

बचपन का सामाजिक जीवन से पृथक्करण कक्षा–व्यवस्था की सबसे बड़ी उपलब्धि है। शिक्षा की पुरानी व्यवस्थाओं में बच्चे और बड़े का भेद नहीं था। हमारे यहाँ पुरानी गुरूकुल प्रणाली में बड़ों के सान्निध्य में बच्चों का रहना बहुत जरूरी समझा जाता था। पैमाना पाठ्यक्रम का होता है, आय का नहीं। पांडिचेरी के श्री अरविंद आश्रम के अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा केंद्र में बच्चों को यह छूट दी जाती है कि वे अपनी दिलचस्पी के अनुसार विषय का चुनाव करके किसी भी कमरे में चल रहे काम में जुट जाएँ। बिहार में श्रमशाला नामक संस्था में बच्चे अपने अध्यापकों तथा संस्था से संबंधित अन्य वयस्कों के साथ खेतों में काम करते हैं। लेकिन, सच्चाई यही है कि ये संस्थाएँ अपवादस्वरूप हैं क्योंकि सामान्य नियम के रूप में हमारी कायदा पसंद सभ्यता यह मान चुकी है कि हर उम्र की आवश्यकताएँ पृथक और सुनिश्चित होती हैं।

कहा जा सकता है कि जनशिक्षा के व्यापक प्रसार ने कक्षाओं में बँटी शिक्षा व्यवस्था को आवश्यक बना दिया। आजकल प्रचलित जनशिक्षा के संदर्भ में कक्षाक्रम की व्यवस्था निश्चय ही सुविधाजनक प्रतीत होती है। कक्षाक्रम से प्राप्त होने वाली सुविधा का मुख्य कारण यह है कि वर्तमान जनशिक्षा का आधार साक्षरता और पुस्तकज्ञान है, सामाजिक अनुभव और समझ नहीं। जैसा कि मैं पहले लिख चुका हूँ, साक्षरता एक नई धारणा है जिसका संबंध प्रचारित ज्ञान से है। इसके विपरित शिक्षा एक पुरानी धारणा है जिसका संदर्भ सामाजिक जीवन और सभ्यता है। इस अर्थ में देखें तो शिक्षा के लिए कक्षाक्रम आवश्यक प्रतीत नहीं होता। उलटे शिक्षा की कक्षाक्रम से मुक्ति समाज के अधिकाधिक लोगों की शिक्षा के विकास में मददगार हो सकती है।

शिक्षा पर कक्षा व्यवस्था के प्रभाव का अध्ययन करने की दृष्टि ये यदि एक स्कूल संदर्भ चुना जाए तो कक्षा का अस्तित्व इन दो रूपों में दिखाई देता है : (1) स्कूल को सीढ़ीनुमा ढाँचा प्रदान करनेवाली व्यवस्था; (2) बच्चों के एक निश्चित समूह को शेष स्कूल से अलग करने वाला, एक निश्चित विन्यास में व्यवस्थित कमरा। कक्षा इन दोनों भूमिकाओं को एक साथ बखूबी निभाती है। स्कूल को सीढ़ीनुमा ढाँचे में बिठानेवाली व्यवस्था के रूप में वह निम्नांकित चार उद्देश्यों के तहत काम करती है :

(अ) एक कक्षा के बच्चों का अन्य कक्षाओं के बच्चों से अलगाव पैदा करना। (ब) एक कक्षा के बच्चों का अन्य कक्षाओं के अध्यापकों से अलगाव पैदा करना।

दो : ज्ञान को काल्पनिक वार्षिक खण्डों में बाँटना।

तीन : बच्चे के विकास को साँचे में ढालना।

चार : सामाजिक वर्ग–विभाजन का पूर्व संस्कार बच्चे को देना।

किसी एक कक्षा में होने के कारण बच्चे का परिचय क्षेत्र अपनी आयु के बच्चों तक सीमित हो जाता है। अपने से छोटे और बड़े बच्चों से वह न केवल अलग कर दिया जाता है और इस कारण घनिष्ठ संबंध नहीं बना पाता, बल्कि उनके प्रति एक ऐसा रवैया अपनाना सीख लेता है, जिसे सामंती कहना अनुचित न होगा। बच्चों में पारिवारिक स्तर पर जैसा सौहार्द्र और आयु भिन्नता के बावजूद जैसा हेलमेल पाया जाता है, वैसा ही स्कूल में होना चाहिए। जीवन के उन तमाम छोटे–छोटे अनुभवों और दिक्कतों, जिनका सामना बच्चों को करना होता है, वे अपने बड़े मित्रों की मदद से ज्यादा आसानी से समझ सकते हैं। सच तो यह है कि अपने से कुछ बड़े और छोटे बच्चों के साथ रहना वैसा ही शिक्षाप्रद अनुभव हो सकता है जैसा वयस्क या प्रौढ़ शिक्षक के साथ काम करने से मिलता है। कक्षायी व्यवस्था ऐसा अनुभव असंभव बना देती है।

वह न केवल बच्चों को अपने से कुछ छोटे और बड़े बच्चों से अलग कर देती है, बल्कि स्कूल के उन अनेक अध्यापकों से भी अलग कर देती है, जो उन्हें नहीं पढ़ाते। बच्चों का वयस्कों से परिचय और उनके साथ काम करने का अनुभव बहुत जरूरी है। मौजूदा सामाजिक व्यवस्था में बच्चे केवल उन वयस्कों के संपर्क में आ पाते हैं, जिनसे उनके अभिभावकों के संबंध होते हैं। कक्षा में एक अध्यापक से बँधकर वे स्कूल में उपलब्ध अन्य वयस्कों से परिचय की संभावना खो देते हैं। सरकारी प्राथमिक शालाओं में देश में लगभग हर की ऐसी व्यवस्था है, जिसमें एक अध्यापक के जिम्मे एक कक्षा पूरी तरह से दे दी जाती है। बच्चे लगातार प्रत्येक दिन एक व्यक्ति के साए में रहकर ऊब जाते हैं, उस व्यक्ति से कुछ नया सीखने की क्षमता और उसके साथ काम करने की दिलचस्पी उनमें नहीं रह जाती। उनके बीच की सेतु किताबें रह जाती हैं जो वैसे भी बहुत जीवंत नहीं होतीं। कुछ गैरसरकारी, तकनीकी शिक्षा संस्थाओं में और प्राथमिक कक्षाओं में अलग–अलग विषयों के लिए अलग–अलग अध्यापक होते हैं। बच्चे एक व्यक्ति से बँधे नहीं रहते लेकिन उनका दायरा सीमित ही रहता है।

कक्षा–व्यवस्था का एक अन्य प्रभाव पाठ्यक्रम के क्षेत्र में दिखाई पड़ता है। सिद्धांततः पाठ्यक्रम का एक कार्यक्रम होता है, जो बच्चों और अध्यापक की परिस्थिति तथा समाज में शिक्षा के निर्धारित लक्ष्य के आधार पर बनाया जाना चाहिए। जिस अर्थ में 'पाठ्यक्रम' का इस्तेमाल भारत में होता है, उस अर्थ में वह एक शासकीय नीति या आदेश से भिन्न नहीं होता। हमारे यहाँ पाठ्यक्रमों का बच्चों और अध्यापक की परिस्थिति से कोई संबंध नहीं होता। वह शिक्षा संबंधी शोधकेंद्रों में बनाया जाता है और दूरदराज जिलों के गाँवों में स्थित स्कूल के बच्चों व अध्यापकों पर सीधे–सीधे लाद दिया जाता है। आजादी के बाद लगभग दो दशकों तक पाठ्यक्रमों में बहुत मामूली परिवर्तन हुए। इसके बाद राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद की अभूतपूर्व खोजों ने असर दिखलाना आरंभ किया और देखते ही देखते देश भर के प्रांतों के पाठ्यक्रम बदलने लगे। कुछ जगह परिवर्तन इतनी गति से हुए कि भारी मात्र में छपी छपाई पुस्तकें बेकार हो गई। नई पुस्तकों की छपाई और वितरण एक समस्या बन गया। इनसे अधिक विचित्र बात यह हुई कि पाठ्यक्रम नीचे की ओर सरकने लगा अर्थात पाठ्यसामग्री ऊँची से नीची कक्षाओं में स्थानांतरित कर दी गई। ऐसा करने की सिफारिश 1964–66 के शिक्षा आयोग ने इस तर्क के आधार पर की कि बीसवीं सदी में ज्ञान की कुल मात्रा अचानक बढ़ गई है। स्पष्टतः इस तर्क के पीछे यह मान्यता है कि ज्ञान एक राशि है। शिक्षा आयोग की रपट यह दिखाती है कि आयोग के सदस्य पश्चिमी देशों के पाठ्यक्रमों से अत्यंत प्रभावित थे और उनकी पाठ्यक्रम संबंधी सिफारिशों के पीछे यह इच्छा थी कि भारतीय पाठ्यक्रम में जानकारी की राशि पश्चिमी पाठ्यक्रमों के आधार पर बढ़ाई जाए। यह पूरा सोच राजनीतिक रूप से उपनिवेशी और शिक्षायी रूप से पुरातनपंथी है क्योंकि उसके अनुसार शिक्षा का केंद्र जानकारी है, बच्चे नहीं। यदि बच्चों को केन्द्र में रखा जाए तभी हम देख सकेंगे कि पाठ्यक्रम के निर्माण के लिए बच्चों की आर्थिक परिस्थिति, उनकी क्षमताएँ, उनके सामाजिक संदर्भ में शिक्षा के संभव उपयोग की पड़ताल जरूरी है, न कि जानकारी के पुलिंदों का आरोपण। पिछले आठ–दस वर्षों में पाठ्यक्रम संबंधी परिवर्तन करने के लिए देश के विभिन्न भागों के अध्यापकों और

अभिभावकों से विचार–विमर्श नहीं के बराबर किया गया। थोड़ा–बहुत शोध नई पाठ्यसामग्री को शहरों में रहनेवाले बच्चों को पढ़ाकर किया गया और यह मान लिया गया कि सुदूर ग्रामों में पढ़नेवाले बच्चे भी बढ़ी हुई पाठ्यसाम्रगी को आसानी से स्वीकार कर लेंगे। आशा के विपरीत नई पाठ्यसामग्री कस्बों और गाँवों के अध्यापकों तथा बच्चों के लिए बहुत कठिन साबित हुई। खासतौर से विज्ञान और गणित के पाठ्यक्रमों में जो परिवर्तन हुए, वे इन स्कूलों के लिए दुष्कर बन गए। इस प्रकार शहर के संपन्न और गाँव के गरीब स्कूल के बीच की दूरी, जो पहले ही काफी थी, और बढ़ गई। इस नई बढ़ोतरी का श्रेय पाठ्यक्रम को कक्षाओं के पैमाने पर पुनर्नवीकृत करने की चेष्टा को जाता है।

पाठ्यक्रम को कक्षाक्रम से बहुत कड़ाई से, बहुत कड़ाई के साथ बाँध देने के परिणामस्वरूप बच्चे का विकास एक अनवरत प्रक्रिया नहीं बन पाता, अपितु कृत्रिम खण्डों में बँट जाता है। एक स्थिर पाठ्यक्रम बच्चे की व्यक्तिगत रूचियों और क्षमताओं के विकास में सहयोग न देकर एक मजबूरी बन जाता है, जिसे बच्चा और उसका अध्यापक दोनों बेबस होकर स्वीकार करते हैं। यदि एक बच्चा किसी विषय में अपने सहपाठियों से अधिक दिलचस्पी रखता है, बदौलत उसे पूरे एक वर्ष या इससे भी अधिक प्रतीक्षा करनी होती है, जब कि वह उस विषय में कुछ अधिक विस्तृत जानकारी, अध्यापक और नई पुस्तक से प्राप्त कर सकता था । श्री अरविंद आश्रम के शिक्षा केंद्र में, जहाँ पाठ्यक्रम पूर्वनिर्धारित और स्थिर नहीं रहता, बच्चों को अपनी व्यक्तिगत रूचि और सामर्थ्य के अनुसार किसी विषय की जानकारी की प्रगति जारी रखने की छूट रहती है। सामान्य स्कूलों में, जहाँ यह छूट नहीं दी जाती, यह नामुकिन हो जाता है कि एक विषय के विभिन्न क्षेत्रों का बच्चे के दिमाग में तालमेल बना रह सके। होता प्रायः यह है कि नई कक्षा में आने पर उसे वही विषय बिलकुल नया और अपरिचित लगता है, जिसके बारे में काफी–कुछ वह पिछली कक्षा में जान चुका था। विशेष तौर पर ऐसा तब होता है, जब पाठ्यक्रम पाठ्यपुस्तकों का पर्याय हो, जैसा भारत में हैं।

पाठ्यक्रम बच्चे को एक कार्यक्रम के मुताबिक ज्ञान देने के बहाने एक प्रकार के साँचे में डाल देता है। यह साँचा बच्चे की जिज्ञासा, रूचि और क्षमता को काबू में करके धीरे–धीरे समाप्त कर सकता है। मेरा विचार कि सामान्य स्कूलों में पढ़नेवाले बच्चों में से लगभग तीन–चौथाई के साथ यह माध्यमिक कक्षाओं तक पहुँचते–पहुँचते घट चुकी होती है। पाठ्यक्रम की कड़ाई के शिकार बच्चे में स्वयं कुछ जानने और करने की इच्छा तथा शक्ति नहीं रह जाती। वह कक्षा में अपनी उपस्थिति, अध्यापक के भाषण और पुस्तक की शब्दावली का आदी हो जाता है। उसकी हालत ऐसे बीमार व्यक्ति–जैसी होती है, जो अपनी इच्छाओं को भूल चुका हो और अपने जीवन व पोषण के लिए पूरी तरह डॉक्टर और नर्स पर निर्भर हो। बच्चे को इस हालत में पहुँचाने का उद्देश्य स्कूल या शिक्षा के नीतिकारों के मन में रहता है या नहीं, यह कहना असंभव और व्यर्थ है। लेकिन अवश्य कहा जा सकता है कि खुद कुछ जानने और करने की सामर्थ्य खो चुका बच्चा स्कूल की अनुशासित माँगों की पूर्ति करने में पहले से अधिक समर्थ हो जाता है। वह न तो कक्षा में बात करता है, न ही स्कूल की इमारत में कोई उठापटक करता है। वह एक निश्चेष्ट इकाई हो जाता है, जो स्कूल के प्रशासन की दृष्टि से आदर्श प्रजा का इकाई प्रतिरूप होती है।

स्कूल के प्रशासन की दृष्टि में एक अच्छा नागरिक बनने का प्रशिक्षण जीवन भर के लिए अपनी छाप छोड़ देता है। कक्षा की धारणा स्कूल की व्यवस्था का अंग नहीं रह जाती, बच्चे के दिमाग का संस्कार बन जाती है। कक्षा की धारणा ग्रहण कर सकने में समर्थ होने के साथ ही वह एक ऐसी संरचना को कबूल कर लेता है, जो स्तरों में बँटी है और जिसके सभी स्तरों का एक—दूसरे के प्रति अपवर्जक (एक्सक्लूसिव) रिश्ता है। अपवर्जक होने के कारण वह बच्चे के मैत्री संबंधों पर प्रभाव डालती है। अपने से ऊँची कक्षा के बच्चों से दोस्ती करना झिझक और परेशानी का विषय बन जाता है; अपने से नीची कक्षा के बच्चे बहुत छोटे दिखने लगते हैं। कक्षा एक पैमाने की तरह बच्चे को उसके विकास की माप प्रदान करती है। यह माप कृत्रिम और झूठी होती है क्योंकि विकास से बाहर के जीवन में बच्चे काफी बड़े होने तक अपने से अधिक और कम उम्रवाले बच्चों के साथ मैत्री—संबध बनाए रखते हैं। खासतौर से खेल में आयु का ध्यान बहुत कम बच्चे रखते हैं। खेलते वक्त बड़े बच्चे छोटों को उनकी क्षमतानुसार स्वीकार करते हैं और छोटे लगातार अपनी क्षमता बढ़ाने की कोशिश करते हैं। मिसाल के तौर पर कैरम में जब साथी की जरूरत होती है, तो छोटा और कमजोर खिलाड़ी स्वयं एक मजबूत साथी की माँग करता है और यह माँग प्रायः मान ली जाती है।

बच्चों में एक—दूसरे की कम—ज्यादा क्षमता को स्वीकार करने तथा क्षमता के अंतर के अनुसार व्यवहार करने की नैसर्गिक प्रतिभा को कक्षा का ढाँचा धीरे—धीरे नष्ट कर देता है। वह उनके जीवन में अनवरत प्रतियोगिता की स्थिति पैदा कर देता है, जिसमें सहभाव संभव नहीं रह जाता। कक्षा उन्हें आयु क्षमता के मुताबिक वर्गों और इकाइयों में बाँट देती है। सहभाव के स्थान पर स्पर्धा और सहयोग के स्थान पर ईर्ष्या उनके सामूहिक जीवन का आधार बन जाती है। पुरस्कार और परीक्षा—जैसे विधान कक्षाजनित इस मनःस्थिति को बल देते हैं। अधिक से अधिक अंक और ऊँचा से ऊँचा स्थान लेकर अगली कक्षा में जाना जीवन का चरम लक्ष्य प्रतीत होने लगता है। यही नहीं, कक्षाक्रम एक प्रकार की निरंकुशता प्राप्त कर लेता है। बच्चे को अपने अवचेतन में यह कबूल कर लेना होता है कि वह चाहने पर भी कक्षा की प्रतियोगी परिस्थिति से बाहर नहीं निकल सकता; प्रतियोगिता के नियम पूर्वनिर्धारित और अंतिम हैं, उन्हें स्वीकार करके लगातार आगे बढ़ते जाने के सिवा कोई अन्य रास्ता नहीं है।

जाहिर है कि स्कूल में कक्षाक्रम स्कूल के बाहर स्थित समाज का लघुरूप होता है। स्कूल की दीवार दो संसारों को विभाजित करती है : बाहर के संसार को यदि यथार्थ मानें तो भीतर का संसार उसका रूपक होता है। यथार्थ संरचना में आकार तथा नियम भूमिगत होते हैं, लघु संस्करण में वे प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। कक्षा के कमरे का ढाँचा बाहरी तौर पर साधारण होता है — अर्थात चार कोने और एक छत—किंतु कमरे के भीतर का विन्यास एक विशेष सभ्यता की उपज होता है, जिसे कक्षा की सभ्यता कहना अनुचित न होगा।

कक्षा की सभ्यता के मूलभूत उपादन कक्षाओं में बँटी स्कूली—व्यवस्था के आरंभ से अपरिवर्तित रहे हैं तथा बहुत दरिद्र सरकारी स्कूलों को छोड़कर सामान्यतः एक — जैसे मिलते है वह बच्चे के लिए स्कूल के बाहर फैले संसार या जीवन को 'ज्ञान' में तब्दील करने का साधन बन जाता है। पुस्तक भी वस्तुतः यही

करती है लेकिन पुस्तक मात्र एक साधन नहीं होती; वह भीतर से एक कमरे की तरह खाली नहीं होती। वह दुनिया की तमाम चीज़ों का रूपक होती है जबकि कक्षा का कमरा मात्र एक स्थान होता है, जिसे एक रस्मी गरिमा प्राप्त रहती हैं, इस तरह पुस्तक बच्चे की कल्पना के लिए उत्प्रेरक का काम करती है, किंतु कक्षा का कमरा ऐसी किसी योग्यता के बगैर एक गरिमा प्राप्त कर लेता है। उसे यह गरिमा देने की कीमत कक्षा के बाहर के संसार और पुस्तक को चुकानी पड़ती है। वह यथार्थ और जीवन, जो स्वयं ज्ञान है, बच्चे के लिए गैरजरूरी बनने लगता है क्योंकि ज्ञान कहा जानेवाला अनुभव वह कक्षा के भीतर पाने का आदी बना दिया जाता है। स्कूली जीवन के ऐसे अनगिनत अनुभव प्रकृति और जीवन के गैरकक्षायी अनुभवों के प्रति बच्चे को कुंद बना देते हैं। कक्षा की दूसरी शिकार पुस्तक होती है। जैसे–जैसे बच्चा कक्षायी अनुभवों की निरंकुश सत्ता को स्वीकार करता जाता है, उसके पुस्तकीय अनुभव वैसे–वैसे किताबी बनते जाते हैं, अर्थात पुस्तक में उसकी कल्पना की उत्प्रेरणा करने की क्षमता कम होती जाती है। शब्द सिर्फ शब्द रह जाते हैं और चित्रांकन बड़े कक्षाओं में वैसे ही कम होने लगते हैं।

कक्षा के विन्यास का एक बुनियाद भाग बच्चों और अध्यापक की स्थितियों का अंतर है। अध्यापक अपनी आयु और आकार की बदौलत वैसे ही कक्षा में अहमियत रखता है। कक्षा के सिर पर बीचों बीच स्थित मेज, जो बच्चों के डेस्कों से ऊँची होती है; और कुर्सी उसकी अहमियत को उजागर करती है। बच्चों के लिए अध्यापक की स्थिति चुनौती के परे होती है। वे उसे एक अधिकारी वयस्क के रूप में ही अपने जीवन में स्वीकार करते हैं। इस पदवी पर रहते हुए वह कितनी आत्मीयता उनसे कर सकेगा, यह इस पर निर्भर होता है कि वह अपनी अहमियत को उजागर करने के कितने साधन और अवसर इस्तेमाल करता है। वह एक ऊँचे पद का सत्ताधारी ही बना रह सकेगा, बच्चों की जिंदगी के आरपार देख सकने वाला, उनके अनुभवों की तहों में प्रवेश कर सकनेवाला कुशल अध्यापक कभी नहीं बन सकेगा। इस असफलता से बचने के लिए उसे सबसे पहले कक्षा के ढाँचे को लचीला बनाना होगा। अपनी कुर्सी का प्रयोग कम से कम करते हुए कक्षा के हर बच्चे को हर समय उपलब्ध रहने का आभास देने का अभ्यास करना होगा और बोर्ड के इस्तेमाल में बच्चों की हिस्सेदारी को प्रोत्साहन देना होगा।

कक्षा में बच्चों के लिए पंक्ति में बैठना एक कठोर नियम बन चुका है। जिन स्कूलों में फर्नीचर नहीं है, वहाँ टाट–पट्टी पंक्ति में बैठने का एक स्पष्ट कारण उपस्थित करती है और बच्चे उसे स्वीकार कर ले सकते हैं। डेस्क–कुर्सी के साथ पंक्ति की अनिवार्यता इतनी कठोर नहीं है; एक सुविधाजनक व्यवस्था के साधन के रूप में पंक्ति उन अनेक व्यवस्थाओं में से एक है जो कक्षा के भीतर इस्तेमाल की जा सकती है। कक्षा के पारंपरिक ढाँचे को लचीला बनाने के अध्यापक को बच्चों को यह आजादी देनी चाहिए कि वे कैसी भी व्यवस्था या फर्नीचर का कैसा भी विन्यास बनाएँ या अव्यवस्थापूर्वक बैठें। इसमें शक नहीं कि ज्यादातर बच्चे व्यवस्था पंसद होते हैं किंतु कक्षा की व्यवस्था उनके द्वारा स्थापित होनी चाहिए, सदैव एक–सी रहनेवाली आरोपित व्यवस्था नहीं। कक्षा का विन्यास वस्तुतः बच्चों की इच्छा के साथ–साथ विषय और अभ्यास की प्रकृति पर निर्भर होना चाहिए। गणित और विज्ञान के लिए अलग–अलग या बेतरतीब बैठना ज्यादा उपयुक्त हो सकता है जबकि भाषा की पढ़ाई एक घेरे में बैठकर अच्छी तरह की जा सकती है।

भाषा पढ़ते और सीखते हुए सम्मिलित प्रयास का लाभ प्रत्येक को मिलता है जबकि विज्ञान और गणित के लिए प्रत्येक बच्चे को पहले पूरी तरह अलग कोशिश करनी होती है। किंतु यह सब कक्षा की परिस्थिति के अनुसार तय किया जाना चाहिए। कोई सामान्य नियम शायद ही बनाया जा सके।

कक्षा की जिन दो भूमिकाओं का विवरण मैंने दिया है, उससे समझौता करके शिक्षा में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। कमरे के रूप में कक्षा के विश्लेषण में मैंने लिखा है कि अध्यापक और बच्चों के संबंधों को एक हद तक लचीला बनाया जा सकता है। ऐसी किसी कोशिश का प्रभाव आंशिक ही हो सकता है। क्योंकि मूलभूत परिवर्तन तभी होगा जब शिक्षा का ताल्लुक सीधे–सीधे कक्षा के बाहर के संसार से होगा। यह रिश्ता दुतरफा हो सकता है। अर्थात बच्चों का संबंध स्कूल के बाहर के संसार से और इस संसार यानी समाज का संबंध स्कूल से स्थापित होगा। एक संस्था के रूप में स्कूल रहेगा लेकिन प्रचारित ज्ञान सामग्री के संग्रह और वितरण केंद्र के रूप में नहीं। स्कूल की संस्था को नष्ट किए बिना उसकी वे दीवारें तोड़ी जा सकती हैं, जो समाज के स्थान पर सत्ता पर निर्भर बनाती हैं। समाज के विभिन्न काम–धंधों में लगे हुए लोगों का स्कूल से आत्मीय संबंध स्थापित होना चाहिए। दूसरी ओर बच्चों को स्कूल के बाहर की दुनिया में भाग लेने के अवसर मुहैया किए जाने चाहिए। पाठ्यपुस्तकों और अध्यापक पर बच्चों की निर्भरता समाप्त हुए बगैर स्कूल में कोई अवधारणात्मक परिवर्तन नहीं आ सकता।

जहाँ तक संरचनात्मक परिवर्तन का प्रश्न है, वह स्कूल के सामाजिक संदर्भ का प्रश्न है, इसलिए इसका हल केवल स्कूल के स्तर पर अलग से नहीं हो सकता। प्रतियोगी सभ्यता का विरोध और उसके स्थानापन्न की तलाश एक व्यापक राजनीति ही कर सकती है, स्कूल उसका एक प्रतीक बन सकता है। स्कूल में कक्षाओं का ढाँचा प्रयोग के तौर पर तोड़ना कठिन नहीं है; श्री अरविंद आश्रम कि वास्तविक काम शिक्षा को कक्षाक्रम से मुक्त करना है। ऐसा हो जाने पर योग्यता को उपाधि से और उपाधि को सामाजिक प्रतिष्ठा और आर्थिक संपन्नता से अलग करना संभव हो जाएगा। इस उद्देश्य की दिशा में पहल स्कूल नहीं कर सकता, क्योंकि वह समाज की प्राथमिकताओं तथा मूल्यों के परिवर्तन की दिशा में अकेले नहीं जा सकता। किंतु यदि एक राजनीतिक प्रक्रिया ऐसा कर रही हो तो स्कूल उसे एक अत्यंत महत्वपूर्ण मदद दे सकता है।

कक्षा–व्यवस्था का असर बच्चों के अलावा शिक्षकों पर भी पड़ता है। शिक्षा में 'मास्टर और प्रोफेसर' नाम से पुकारे जानेवाले वर्ग कक्षा की ही उपलब्धि हैं। इन वर्गों के भीतर अनेक उपवर्ग हैं, जिनके नामों में थोड़ी–बहुत प्रांतीय भिन्नता पाई जाती है। स्कूल के अध्यापकों में आज भी 'निम्नश्रेणी शिक्षक' और 'उच्च श्रेणी शिक्षक' के पदनाम भारत के कुछ प्रदेशों में बरकरार हैं, जिन्हें अन्य प्रांतों में कुछ कम अपमानजनक शब्दों से जाना जाता है। 'उच्च' शिक्षा के समूह में व्याख्याता, रीडर और प्रोफेसर की श्रेणियाँ है। प्राथमिक शाला से विश्वविद्यालय तक फैला यह वर्ग–विभाजन दो तरह से कक्षाक्रम से जुड़ा है : एक तो अध्यापक द्वारा हासिल की गई उपाधि के आधार पर और दूसरे उसके द्वारा पढ़ाई जानेवाली कक्षा के स्तर के अनुसार। इन दो आधारों पर शिक्षकों के पदनाम, वेतन तथा जीवन–स्तर का निर्धारण होता है। अधिक

वेतन पानेवाले, सुविधा और आराम का जीवन जीनेवाले अध्यापक 'उच्च' कक्षाओं को पढ़ाते हैं, कम वेतन लेकर जिंदगी की बुनियादी जरूरतों के लिए मशक्कत करनेवाले अध्यापक 'प्राथमिक' कक्षाओं को। अध्यापकों के जीवन–स्तर का अंतर उनके काम की प्रकृति से जुड़ा हुआ है, लेकिन विलोम अर्थ में। कम वेतन पानेवाले स्कूल के अध्यापक को विश्वविद्यालय के प्राध्यापक की तुलना में कहीं अधिक काम करना पड़ता है। यह एक आम धारणा है कि स्कूल के अध्यापक को पढ़ाने के लिए कोई तैयारी नहीं करनी पड़ती, क्योंकि एक बार एक कक्षा को सारे साल पढ़ा चुकने के बाद उसका काम पुरानी सामग्री को दुहराते जाना रह जाता है। यह धारणा सीधे – सीधे शिक्षा को संचय के योग्य साम्रगी मानने की प्रवृत्ति से जुड़ी है। स्कूल के शिक्षक और उसके शिष्यों की आयु में विस्तृत अंतर देखकर यह सोचा जा सकता है कि शिक्षक लगातार कुछ या पढ़े बिना काम चलाता रह सकता है। पर, ऐसी स्थिति में, शिक्षक का अध्ययन क्षेत्र कक्षा के संदर्भ में ठीक उतना रह जाएगा जितना उसके बच्चो का है अर्थात पाठ्यपुस्तकों तक सीमित रह जाएगा। कक्षा, जो बच्चों के ज्ञानार्जन की सीमाएँ तय करती है, शिक्षक का ज्ञान भी असहनीय पाने लगेंगे। इस स्थिति से बचने का एक ही तरीका उसके पास यह हो सकता है कि वह कक्षा के सीमांतों को स्वीकार न करके निरंतर पढ़ता–लिखता रहे। पाठ्यक्रम से सीधा संबंध रखनेवाली सामग्री ही पढ़ना कोई खास अर्थ नहीं रखता, क्योंकि अंततः वह शिक्षक को मानसिक रूप से कक्षा के भीतर ही रखेगी। आवश्यक यह है कि अपनी जानकारियों तथा परिस्थितियों को समझने की क्षमता को लगातार ताजा बनाए रखने के साधन उसे प्राप्त हों। इसके लिए आवश्यक आर्थिक स्थिति और सुविधाएँ मौजूदा शिक्षा–व्यवस्था में केवल 'उच्च' शिक्षा से संबंधित शिक्षकों को दी गई हैं – पूरी तरह नहीं तो अंशतः अवश्य। स्कूल के अध्यापक को उस कक्षा के दायरे में छोड़ दिया गया है, जिसमें उसके शिष्य आबद्ध हैं।

अध्यापकों का कक्षानुसार विभाजन स्कूल और उच्च शिक्षा संस्थाओं के बीच जितना स्पष्ट है, उतना ही स्कूल के भीतर प्राथमिक और माध्यमिक कक्षाओं के बीच भी है। प्राथमिक कक्षाएँ कहने को ही प्राथमिक हैं, माध्यमिक और उच्चतर माध्यामिक कक्षाओं को कहीं अधिक तरजीह दी जाती है। मैंने स्वयं कई स्कूलों में 'ऊँची' कक्षाओं के अध्यापकों को इस बात पर तुनकते, नाराज होते देखा है कि उन्हें किसी प्राथमिक शिक्षक की अनुपस्थिति में 'नीची' कक्षा पढ़ाने को कहा जा रहा है। यहाँ तक कि 'ऊँची' कक्षाओं के दायरे के भीतर भी वर्गवृत्ति है। ग्यारहवीं कक्षा को पढ़ाने वाला शिक्षक दसवीं या नवीं कक्षा के शिक्षक की तुलना में स्वयं को अधिक योग्य समझता है। इस संकीर्ण मनोवृत्ति के कारण शिक्षक एक समुदाय की तरह काम कर सकने की संभावना से वंचित रह जाते है। उनके भिन्न कक्षायी अनुभव व्यक्तिगत रह जाते हैं और स्कूल एक जीवित संस्था की तरह काम करने के स्थान पर एक ढाँचा रह जाता है, जिसमें बच्चों के दैनिक आवगमन की रस्म नियमित रूप से संपन्न होती है।

❁❁❁❁❁❁❁

इकाई क्र. 6

पठन सामग्री क्र. 17

अध्यापक और समाज

प्रोब (पब्लिक रिपोर्ट ऑन बेसिक एजुकेशन इन इंडिया) ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस यूएसए. द्वारा प्रकाशित रिपोर्ट है। यह रिपोर्ट सन् 1996 में भारत के 200 गाँवों में हुए सर्वे पर आधारित एक शोध एवं अध्ययन है। जिसमें हजारों अभिभावकों, शिक्षकों एवे बच्चों से लिए साक्षात्कार शामिल है। जिसमें तात्कालिन भारत के प्राथमिक शालाओं की विभिन्न स्थितियों का चित्रण है। रिपोर्ट में कुल 10 अध्याय है। इस पठन सामग्री को अध्याय 5 'अध्यापक और समाज' से ली गई है। इसे ध्यान से पढ़कर डाइट के छात्राध्यापक वर्तमान शालाओं में आए परिवर्तनों की एक तुलनात्मक नोट तैयार कर सकेंगे।

गाँव में एक अध्यापक वाला छोटा सा प्राथमिक विद्यालय है। युवा अध्यापक एक अदिवासी है, नाम है सेम। आठ वर्ष पहले जब वह बसर में आया था तो स्कूल में केवल पाँच–छः छात्र थे और पढ़ाई पेड़ के नीचे होती थी। अब गाँव के लगभग सभी छोटे बच्चे स्कूल जाते हैं। स्थिति में आए इस सुधार का बहुत कुछ श्रेय सेम को है, जिसने लगातार माता–पिताओं से संपर्क बनाए रखा और उन्हें यह समझाने में सफल रहा कि बच्चों को स्कूल भेजना चाहिए। वह एक प्रतिबद्ध अध्यापक है और स्कूल का परिवेश जीवंत ओर आनंददायक है। जब हम स्कूल में पहुँचे तो बच्चे बड़े ध्यान से सेम की बातें सुन रहे थे। सेम ब्लैक बोर्ड के माध्यम से बच्चों को कुछ समझा रहा था। सेम हिन्दी में पढ़ाता था, लेकिन वह बच्चों से उनकी मातृभाषा (मुंडारी) में भी बात कर सकता था। सेम ने यह भाषा बसर में आने के बाद जल्दी ही सीख ली थी। स्कूल का भवन साफ–सुथरा और सुव्यवस्थित था। फर्नीचर और टीचिंग एड्स को बहुत अच्छी तरह रखा गया था। सेम के प्रयासों को गाँव की शिक्षा समिति से भी सक्रिय सहयोग मिला था।

यह उत्साहवर्धक कहानी अनेक दिलचस्प बातों की ओर संकेत करती है जिनकी पुष्टि प्रोब सर्वे से भी होती है : दुर्गम क्षेत्रों में नियुक्त होने वाले अध्यापकों की कठिनाईयाँ, अपेक्षाकृत छोटे गाँवों में औपचारिक क्षेत्रों में भाषा का महत्व और अध्यापकों तथा माता–पिताओं के बीच परस्पर सहयोग भावना के कारण आने वाले अच्छे प्रभाव, ऐसी ही कुछ बातें हैं। और सबसे बढ़कर यह वास्तविक उदाहरण एक संभावना की ओर संकेत करता है और एक ग्रामीण स्कूल की संभावनाओं को सत्य बनाने में अध्यापक की निर्णायक भूमिका को उजागर करता है। एक खराब स्कूल और अच्छे स्कूल के बीच के अंतर के लिए अगर कोई एक अकेला कारक सबसे अधिक महत्वपूर्ण है तो वह है अध्यापक की प्रतिबद्धता और पहलकदमी।

बसर से थोड़ी ही दूर पर एक दूसरा गाँव है– म्यामसौर। इसके छोटे से स्कूल में एक अध्यापिका और 69 छात्र हैं। अंजलि नामक आदिवासी युवती यहाँ पढ़ाती है। वह गंभीर और सुव्यवस्थित स्वभाव की है। बच्चे स्कूल में जरा भी समय नष्ट नहीं करते। यह देखकर कि ''अध्यापिका इस कठिन स्थिति को बहुत ही प्रभावशाली ढंग से संभालती है'', स्कूल को देखने गए अनुसंधानकर्ता बताते हैं : ''वह प्रतिदिन काओली से पैदल ही जंगल के रास्ते स्कूल आती–जाती है। एक तरफ का सफर लगभग 45 मिनट का होता है। वह पहली अध्यापिका है जिसने अपने हाथों से मुझे पानी का गिलास दिया, इसके लिए उसने बच्चों को आदेश नहीं दिया। और ऐसा कहने वाली भी वह पहली अध्यापिका थी कि वह प्रायः स्कूल की छुट्टी होने के

काफी बाद ही जाती है– क्योंकि जगह को ठीक–ठाक करना होता है।'' आधे छात्र लड़कियाँ हैं। यह असामान्य रूप से बहुत अधिक प्रतिशत है।

सेम की तरह अंजलि में भी असाधारण साहस और निष्ठा है। इतने दुर्गम गाँव में एक महिला की नियुक्ति और वे भी इकलौती अध्यापिका असामान्य है। सामान्य तौर पर अध्यापिकाएँ संख्या में तो कम हैं ही, वे प्रायः बड़े और सुगम गाँवों में ही नियुक्त भी है।

क्या अध्यापिकाओं की संख्या कम होने का प्रभाव पड़ता है ? इसका संक्षिप्त उत्तर है– ''हाँ''। लेकिन जैसा हम मानकर चलते हैं इसके कारण उससे अधिक गूढ़ हैं। उदाहरण के लिए ऐसा मानने वाले कम मिले कि अध्यापिकाएँ अपने पुरूष सहयोगियों की तुलना में अधिक ईमानदार और कर्तव्यनिष्ठ होती हैं। माता–पिताओं ने भी स्पष्ट नहीं कहा कि वे अध्यापिकाओं द्वारा बच्चों को पढ़ाया जाना अधिक पंसद करते हैं। वे स्त्री/पुरूष अध्यापक के बजाए शिक्षा की गुणवत्ता के प्रति ज्यादा चिंतित दिखे। उनकी राय में इन दोनों बातों का आपस में नाममात्र का संबंध है। कुछ ने साफ तौर पर अध्यापिकाओं को नापंसद करते हुए कहा कि वे गप्पेबाजी और बुनाई करने में ज्यादा समय नष्ट करती हैं। लेकिन फिर भी अध्यापिकाओं के पक्ष में अनेक सशक्त तर्क हैं :

- अध्यापक और अध्यापिकाएँ– दोनों ने कहा कि छोटे बच्चे विशेषतः अध्यापिका के साथ ही अधिक सहज रहते हैं।
- कुछ क्षेत्रों में अध्यापिकाओं की उपस्थिति से लड़कियों के दाखिले पर सार्थक प्रभाव पड़ता है जैसा कि म्यामसौर में देखने में आ रहा है। राजस्थान के कई भागों में माता–पिता चाहते थे कि उनकी बेटियों को अध्यापिकाएँ पढ़ाएँ।
- अध्यापिकाएँ कम क्रूर होती हैं और उनकी उपस्थिति से सरकारी स्कूलों में जातीय हिंसा की समस्या में कमी आ सकती है। हमने जहाँ भी स्कूल में पिटाई के बाद स्कूल छोड़ने वाले बच्चों से जानकारी ली, उन्हें पीटने वाला प्रायः ही पुरूष अध्यापक होता था।
- स्कूल में अध्यापिका की उपस्थिति से लड़के–लड़कियों दोनों के सामाजीकरण में संतुलन आता है। वर्तमान स्थिति यह है कि उत्तर भारत में बच्चों को पुरूष प्रधान परिवेश में पाला–पोसा जाता है। एक पुरूष प्रधान स्कूल इस दृष्टिकोण को बदलने के स्थान पर उसे बढ़ाता ही है।
- अध्यापिकाएँ, विशेषकर लड़कियों के लिए, अनुकरणीय आदर्श का काम करती हैं जिनकी बहुत आवश्यकता भी है। अनेक छोटी बच्चियों ने इस लड़की की ही भावना दोहराई जो कहती है ''मैं मैडम अध्यापिका बनना चाहती हूँ।''
- कुछ माता–पिता ने बताया कि किसी अध्यापिका की उपस्थिति से माताओं को अध्यापिकाओं के साथ घुलने–मिलने में आसानी होती है।

''अध्यापिकाएँ घर–घर जाकर माता–पिता को शिक्षा का महत्व समझा सकती है। क्योंकि वे औरत हैं–यह बात माँ और बेटी दोनों के लिए अच्छी होगी।''

कुछ लोगों के अनुसार महिलाएँ पढ़ाने में अधिक निपुण होती है। इसका कारण है उन्हें बाल मनोविज्ञान की बेहतर समझ होना। वैसे यह विचार अनुमान आधारित अधिक है और सर्वसम्मत नहीं है।

इस बात के संकेत मिल रहे हैं कि अब अध्यापकों की नियुक्ति में अधिक संतुलित नीति अपनाई जा रही है। लेकिन परिवर्तन की गति धीमी है। समय के साथ जातिगत भेदभाव कम हो रहा है। यह मुख्यतः एस.सी/एस.टी उम्मीदवारों के लिए आरक्षण के रूप में दिखाई देता है। अनेक राज्य अधिक महिलाओं को नियुक्त करने के प्रयास कर रहे हैं। लेकिन ग्रामीण क्षेत्रों में महिला अध्यापकों की नियुक्ति कई समस्याएँ खड़ी कर देती हैं, खास तौर से उत्तर भारत के अत्यंत पितृसत्तात्मक परिवेश में। इस कारण अध्यापन का व्यवसाय काफी हद तक पुरूष प्रधान है। कम से कम ग्रामीण क्षेत्रों में तो अवश्य। अध्यापकों के वेतनों में भारी बढ़ोत्तरी को देखते हुए वर्गभेद का भाव समय के साथ बढ़ा है।

दूसरी ओर छात्रों की सामाजिक पृष्ठभूमि में वंचित समूहों की ओर महत्वपूर्ण झुकाव आया है। इसका कारण केवल पिछड़े वर्ग के छात्रों का बड़े पैमाने पर शिक्षा प्रणाली में प्रवेश करना ही नहीं है, बल्कि समृद्ध वर्ग के छात्रों का बड़े पैमाने पर प्राइवेट स्कूलों की ओर जाना भी है। शैक्षिक पृष्ठभूमि में व्यापक अंतर होने के कारण अध्यापकों तथा छात्र परिवारों के बीच सामाजिक दूरी ओर भी बढ़ जाती है। यह सामाजिक दूरी एक ऐसा कारण है जिससे अपने छात्रों की शैक्षिक योग्याताएँ बढ़ाने के प्रति अध्यापकों की रूचि व जवाबदारी अधिक नहीं होती, साथ ही उनकी समस्याओं की जानकारी भी कम होती है। इसके सार्थक पक्ष की चर्चा करें तो बसर के बच्चों के प्रति सेम की प्रतिबद्धता से पता चलता है कि स्थानीय समुदाय के साथ अध्यापक के अच्छे संबंध से कितने लाभ मिलते हैं।

योग्यताएँ और प्रशिक्षण

प्राथमिक कक्षाओं में पढ़ाने वाले अधिकाँश अध्यापक कम से कम माध्यमिक तक शिक्षित होते हैं और उनमें से लगभग दो तिहाई ने नियुक्ति से पहले किसी न किसी तरह का प्रशिक्षण भी प्राप्त किया होता है। नौकरी से पहले का सबसे आम प्रशिक्षण बेसिक ट्रेनिंग कोर्स (बी.टी.सी.) है जो प्रायः दो वर्ष का होता है। अपेक्षाकृत युवा अध्यापक प्रायः अधिक पढ़े लिखे होते हैं (66 प्रतिशत बी.ए.या एम.ए होते हैं) लेकिन उनके पास नियुक्ति से पूर्व का प्रशिक्षण कम होता है। इससे संकेत मिलता है कि सामान्य शिक्षा नौकरी के पूर्व के प्रशिक्षण का विकल्प होती जा रही है। हम जानते हैं कि सामान्य शिक्षा की डिग्रियों की सार्थकता प्रायः कम ही होती है। इस तरह देखें तो यह चिंता की बात है कि बहुत से अध्यापकों ने नौकरी से पहले कोई प्रशिक्षण नहीं लिया था। ऐसे अध्यापकों की संख्या 35 वर्ष से कम उम्र वालों में आधी हो गई है।

आधे से अधिक (56 प्रतिशत) कक्षा एक के अध्यापकों ने नौकरी में रहते हुए कुछ प्रशिक्षण लिया हुआ है लेकिन यह प्रशिक्षण अत्यंत संक्षिप्त होता है। एक या दो बार दस दिन की अवधि के यह प्रशिक्षण होते हैं। ऐसे सुविचारित प्रशिक्षण कार्यक्रम, जिनमें पर्याप्त मानव संसाधनों की तथा बाद में भी निर्देशन की व्यवस्था रहती है, काफी सफल रहे हैं। सामान्यतः थोड़े समय के क्रैश कोर्सों का कक्षा में सिखाने–पढ़ाने की

प्रक्रियाओं पर कोई उल्लेखनीय प्रभाव होना कठिन होता है। अधिकांश प्रशिक्षित अध्यापकों ने इन पाठ्यक्रमों को ''उपयोगी'' माना है क्योंकि इनसे अध्यापकों को नई शिक्षण तकनीकों की जानकारी मिली है। लेकिन अनेक अध्यापकों ने कहा कि इन नए सिद्धांतों को व्यवहार में लाना कठिन है क्योंकि कक्षा में स्थितियां कठिन होती हैं और ढांचागत सुविधाओं का अभाव होता है। हमने भी यही देखा कि नौकरी के दौरान प्राप्त प्रशिक्षण का कक्षा में पढ़ाने की गतिविधियों पर प्रभाव न के बराबर था। अनेक अध्यापकों ने ''आपरेशन ब्लैक बोर्ड टीचिंग किट्स'' का उपयोग करने का प्रशिक्षण लिया था लेकिन कक्षाओं में टीचिंग ऐड्स (आपरेशन ब्लैक बोर्ड की या कोई दूसरी) शायद ही कभी दिखाई दीं। इसी तरह अनेक अध्यापकों को प्रथम कक्षा के छात्रों को पढ़ाने का विशेष प्रशिक्षण दिया गया था लेकिन प्रायः ही पढ़ाई के दौरान कक्षा एक के छात्रों को उनके अपने हाल पर छोड़ दिया जाता था या फिर उन्हें दूसरी बड़ी कक्षा के साथ बैठा दिया जाता था। कुछ मामलों में अध्यापकों ने अध्यापन के नए तरीकों को अवास्तविक आंका था। एक ने तो व्यंग्य से कहा, ''शब्द ज्ञान से अक्षर ज्ञान'' का नया तरीका उसे ऐसा लगता है जैसे कोई सीढ़ी पर ऊपर से चढ़ने का प्रयास कर रहा हो।

और, ये प्रशिक्षण कार्यक्रम अध्यापकों को उन बातों को व्यवहार में परखने का कोई अवसर या सुविधाएँ नहीं देते जिन्हें उनके साथी लोग बच्चों को पढ़ाई के दौरान प्राप्त अनुभवों के आधार पर बातें–समझाते हैं। देखा यह गया है कि सीमित औपचारिक शिक्षा प्राप्त अध्यापक भी अपने लंबे अनुभव के आधार पर शिक्षण के असाधारण तरीके विकसित कर लेते हैं। अगर अध्यापकों को आपस में मिलने, बताने और समझने–समझाने के अधिक अवसर मिलें तो अध्यापकों का ज्ञान बढ़ेगा, उन्हें प्रेरित करेगा, और ग्रामीण क्षेत्रों में पढ़ाने वाले अध्यापकों का अकेलापन भी कम होगा।

व्यवहार के नियम और प्रवृत्तियाँ

एक अध्यापिका गाँव में ही रहती है और उसने कहा कि वह माता–पिता, खासकर माताओं के साथ संबंध बनाए रखती है। वह उन्हें पोषण, रोजगार, कर्ज तथा दूसरे ऐसे ही मुद्दों पर सूचनाएँ देती रहती है। जब कोई नई सरकारी परियोजना आरंभ होती है तो वह तुरंत उसके बारे में गाँव वालों को सूचित करती है। इस मामले में अध्यापिका यह मानती है कि उसकी भूमिका सिर्फ स्कूल में बच्चों को पढ़ाने तक ही सीमित नहीं है, बल्कि उससे बाहर निकलकर वह लोगों के कल्याण से भी जुड़ी हुई है। निस्संदेह ग्रामीण क्षेत्रों में अध्यापक यह दिखाने में मुख्य भूमिका निभा सकते हैं कि शिक्षा किस तरह जीवन में सुधार लाती है।

लेकिन यह सार्थक प्रवृत्ति असामान्य है। इसके विपरीत अधिकांश अध्यापक स्थानीय समाज में शिक्षा को बढ़ावा देने के प्रति गहरी उदासीनता का भाव रखते हैं। यह बात सामाजिक दूरी के मुद्दे से संबंधित है वे लोग यह भी देखते हैं कि गरीब अभिभावक आम तौर पर आर्थिक व सामाजिक रूप से शाक्तिहीन होते हैं, यह बात भी अध्यापकों को इन लोगों की इच्छाओं की उपेक्षा करने के लिए प्रेरित करती है।

यहाँ एक मुख्य मुद्दा यह है कि अध्यापक अपनी भूमिका को किस रूप में देखता है (पढ़ाना, एक नौकरी या एक कर्तव्य) और एक दूसरा मुद्दा, प्रवृत्तियाँ जो छोटे बच्चों के लिए अनुकरणीय आदर्श व्यक्ति के मनोभावों के साथ उनके बीच काम करना। बहुत कम अध्यापक अपने काम को कर्तव्य के रूप में देखते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में अध्यापक के पद अच्छी नौकरियाँ माने जाते हैं जिनमें अच्छी तनख्वाहें, पक्की नौकरी और दूसरे काम करने का काफी समय रहता है। आवश्यक योग्यताओं वाले किसी भी व्यक्ति का मन उसे पाने के लिए ललचा सकता है। उनमें ऐसे लोग भी हो सकते हैं जिन्हें इस काम के प्रति कोई आकर्षण, बच्चों के लिए कोई सहानुभूति या शिक्षा प्रसार के लिए मन में कोई निष्ठा नहीं होती।

इससे भी आगे बढ़कर यह कहा जा सकता है कि ऐसे उत्साहहीन और प्रेरणाहीन लोगों को अध्यापक बनने के लिए आकर्षित करने के साथ ही यह स्थिति उन लोगों को दूर हटाने का भी काम कर रही है, जो इसे शिक्षा–शास्त्र का अथवा सामाजिक कार्य समझकर इसमें आना चाहते हैं। स्कूलों में जैसा वातावरण होता है उसमें ऐसी अच्छी भावनाएं वाले व्यक्ति भी यह महसूस करने लगते हैं कि ग्रामीण क्षेत्रों के सरकारी स्कूलों में उनकी योग्यताओं के फूलने–फलने के कोई अवसर नहीं हैं। ऐसे में प्राइवेट स्कूल तथा दूसरे व्यवसाय अधिक आकर्षक दिखाई देते हैं।

इस कथन के बावजूद यह भी एक तथ्य है कि अध्यापकों में आरंभिक प्रेरणा का अभाव मुख्य मुद्दा नहीं है, क्योंकि उनमें से अनेक ऐसे हैं जो इस क्षेत्र में काम करते हुए मन का उत्साह और प्रेरणा का भाव खो बैठते हैं। निस्संदेह हाल ही में नियुक्त अध्यापकों में हमें ऐसे लोग भी मिले जिनके मन में सच्चा उत्साह दिखाई दिया। लेकिन यह भाव बस थोड़े ही समय तक रहता है, नए आने वाले युवा अध्यापक का नैतिक बल धीरे–धीरे नष्ट होने लगता हैं।

कमजोर ढाँचा

ग्रामीण स्कूलों में काम करने की स्थितियाँ ऐसी हैं कि वे अधिकाँश अध्यापकों को कठिन लग सकती हैं और सर्वाधिक प्रतिबद्ध अध्यापक को भी अपना उत्साह नष्ट होता हुआ लग सकता है। दिलचस्प तथ्य यह है कि बहुसंख्य अध्यापकों ने अपनी तनख्वाहों तथा छुट्टियों के प्रावधानों को संतोषप्रद माना। वैसे अध्यापकों की अनेक दूसरी चिंताएँ हैं।

सबसे आम शिकायत है– स्कूल में साधनों, उपकरणों का अभाव, पैसे की कमी, अध्यापकों की कम संख्या और छात्रों की संख्या का अधिक होना। और निम्न स्तरीय ढाँचागत सुविधाओं के कारण उन्हें समस्याएँ होती हैं।

माँ–बाप की उदासीनता

अध्यापकों को प्रायः ही माता–पिता द्वारा अपने बच्चों की शिक्षा के प्रति ध्यान न देने की समस्या से जूझना पड़ता है। वे शिकायत करते हैं कि माँ–बाप अपने बच्चों को नियम से स्कूल नहीं भेजते या तुच्छ कारणों से उन्हें निकाल लेते हैं। और जब वे स्कूल आते भी हैं तब भी बात बनती नहीं। माँ–बाप उन्हें देर से भेजते हैं और वह भी फटे–पुराने कपड़ों में। वे फीस देने में बहाने करते हैं और अपने बच्चे की आवश्यकताओं और प्रगति की ओर ध्यान नहीं देते। अध्यापकों का मानना है कि स्कूल में बच्चों के प्रति वे जो कुछ करते हैं उसमें माँ–बाप की ओर से कोई योगदान नहीं होता।

बच्चे की पढ़ाई में माँ–बाप की कोई भूमिका न होने से अध्यापकों का उत्साह कम होता है। उदाहरण के लिए पी.टी.ए. (अभिभावक–अध्यापक परिषद) को संगठित करने के प्रयासों को इसलिए धक्का लगता है क्योंकि अभिभावक उसमें बहुत कम आते हैं। कुछ गाँवों में अध्यापक कहते हैं कि बच्चों के दाखिले के लिए खूब प्रयास करने पर भी कोई सहयोग नहीं मिलता। कभी–कभी तो अभिभावक स्कूल द्वारा रखी जाने वाली माँगों का खुल्लमखुल्ला विरोध करते हैं। शहरी निगम स्कूल के अध्यापक ने बताया कि एक अभिभावक ने क्या कहा था – ''आप बार–बार हमें बुलाते हैं जैसे आप प्राइम मिनिस्टर हों। हमें यह चिकचिकबाजी अच्छी नहीं लगती है।''

मुश्किल छात्र

माँ–बाप द्वारा बच्चों की पढ़ाई के प्रति उदासीनता की समस्या के साथ–साथ यह भी एक तथ्य है कि बच्चों को अनुशासित रखना कठिन होता है। अनेक परिवारों का वातावरण पढ़ने के लिए उत्साहित नहीं करता जिससे अध्यापकों की मुश्किलें और भी बढ़ जाती हैं। कुछ अध्यापकों ने कहा कि घर में बिलकुल भी न पढ़ने के कारण हर अवकाश के बाद उन्हें फिर से वही सब दोहराना पड़ता है जिसे वे पहले बता चुके होते हैं। अनेक बच्चे अशिक्षित परिवारों से होते हैं और उनके पास सिर्फ एक अक्षर ज्ञान की पुस्तक और स्लेट होती है। कुपोषण, खराब स्वास्थ्य, अनियमित हाजिरी और घरेलू काम के बोझ से बच्चों को सीखने में और भी कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है।

पंगु पाठ्यक्रम

अध्यापकों से स्कूल के जिस पाठ्यक्रम को पूरा करने की आशा की जाती है वह अधिकांश छोटे बच्चों के लिए बहुत भारी पड़ता है। जैसे ''सीखने के न्यूनतम स्तरों'' पर हाल में मिले दिशा सुझावों के अनुसार कक्षा 5 का हर एक छात्र न सिर्फ पढ़ने, लिखने और गणित में निपुणता प्राप्त करे बल्कि ऐसे विविध विषयों की भी जानकारी ले जैसे, ''आदिकाल से आज तक मनुष्य की प्रगति का इतिहास'', केंद्र, राज्य और स्थानीय प्रशासनों के बीच संबंध'' तथा '' वन का क्षेत्रफल बढ़ाने और उसमें सुधार करने, नदियों, तालाबों आदि की सफाई से संबंधित कुछ वर्तमान योजनाएं''। उलझाव को और बढ़ाने के लिए इन विषयों को पाठ्य पुस्तकों में इस ढंग से दिया जाता है जिन्हें बच्चे समझ नहीं पाते।

अत्यंत गरीब पृष्ठभूमि से आने वाले बच्चों के लिए स्कूली पाठ्यक्रम समझना और भी कठिन होता है क्योंकि उनके सीखने की क्षमता प्रायः कुपोषण, शारीरिक श्रम की थकान तथा घर में पढ़ने–लिखने का वातावरण न होने के कारण और भी कम हो जाती है। जिन अध्यापकों को यह अयथार्थवादी पाठ्यक्रम ऐसे बच्चों को सिखाना होता है, वे अगर यह महसूस करें कि बात शुरू से ही बिगड़ गई है तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। ऐसे में मन में यही आता है कि स्थिति को उसके हाल पर ही छोड़ दिया जाए न कि पढ़ाने की गति थोड़ी धीमी करके ऐसे छात्रों की सहायता की जाए।

प्रशासन का कोई सहयोग

स्कूल प्रबंधन का ढाँचा ऐसा नहीं है जो एक जिम्मेदार अध्यापक को उसके प्रयासों में सहायता दे। शुरूआत में यह अध्यापक के रास्ते में आने वाली साधारण बाधाओं को दूर करने में अक्सर असफल रहता है। पाठ्य पुस्तकों और टींचिंग एड्स की व्यवस्था अपर्याप्त और अव्यवस्थित होती है। अध्यापकों को प्रायः ही गलत पाठ्य पुस्तकें मिलती हैं (अगर मिलती है तो) या सत्र के एकदम अंत में मिलती हैं या फिर उन्हें छात्रों की संख्या के हिसाब से आधी ही पाठ्यपुस्तकें सुलभ होती हैं।

एक जिम्मेदार अध्यापक को अपने प्रयासों के लिए कोई प्रशंसा भी नहीं मिलती। जैसा कि अध्यापक महसूस करते हैं उनके बड़े लोग जिस बात की कम से कम चिंता करते हैं वह अध्यापन की गुणवत्ता ही है। मुख्य ध्यान स्कूल के रिकाड्र्स, दाखिले के आँकड़ों, प्रोत्साहन परियोजनाओं और अन्य प्रशासनिक योजनाओं पर केंद्रित रहता है। शिक्षण की गुणवत्ता की परवाह न करने के साथ ही प्रबंधन के ढाँचे ने अध्यापकों को जैसे बहुउद्देशीय एजेंट बना दिया है, जिन्हें अनेक क्षेत्रों से लामबंद किया जाता है। निरीक्षक उनसे उम्मीद करते हैं कि वे विभिन्न प्रशासनिक कार्य पूरे करें, इनमें अनेक रजिस्टरों की खानापूर्ति भी है। निष्ठापूर्ण अध्यापन की ओर सबसे कम ध्यान है ओर इसे अध्यापकों का सबसे महत्वहीन कार्य समझा जाता है।

जवाबदेही के मुद्दे

जवाबदेही की समस्या

जैसे अधिकारहीन परिवेश में वे काम करते हें, उसे देखते हुए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि अध्यापक अध्यापन के विशिष्ट स्तर बनाए रखने में असफल रहते हैं। सभी अच्छे अध्यापकों को शक्ति के अक्षय भंडार की आवश्यकता होती है और छोटे–छोटे बच्चों को संभालने में काफी शारीरिक ऊर्जा भी चाहिए। गाँव के जर्जर स्कूल में फँसे, असंतुष्ट अभिभावकों और अनियमित छात्रों से घिरे तथा निरीक्षकों की दादागिरी के शिकार अध्यापकों से यह आशा लगाना व्यर्थ है कि वे उत्साह की भावना के साथ काम कर सकेंगे।

वैसे इस तरह के सार्थक उदाहरण भी देखने को मिले जिनसे यह पता चलता है कि स्कूलों के मौजूदा परिवेश में भी अध्यापक यदि चाहें तो अध्यापन के स्तर को कुछ हद तक ऊँचा उठा सकते हैं। सेम और अंजलि जैसे प्रतिबद्ध अध्यापक, अध्यापिकाओं (ऐसे और भी बहुत है) की शानदार उपलब्धियाँ इस बात को अच्छी तरह प्रस्तुत करती है। यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि पहले समय में, जब हर दृष्टि से कार्य परिस्थितियाँ आज की तुलना में अधिक चुनौतीपूर्ण थीं, तब भी अध्यापन के स्तर ऊँचे हुआ करते थे। एक दूसरा प्रमाण प्राइवेट स्कूलों में, कामचलाऊ परिस्थिति में भी अध्यापन की अधिक सक्रिय गतिविधियों का होना है जबकि वहाँ की भी स्थितियाँ सरकारी स्कूलों से कुछ बेहतर नहीं होती है।

प्राइवेट स्कूलों की यह विशेषता शिक्षा प्रणाली में जवाबदेही को मुख्य भूमिका को उजागर करती है। प्राइवेट स्कूल में अध्यापक मैनेजरों के प्रति जवाबदेह होते हैं (जो उन्हें नौकरी से निकाल भी सकता है) और यह जवाबदेही उसके माध्यम से माता–पिता के प्रति भी होती है (जो असंतुष्ट हों तो अपने बच्चों को स्कूल से हटा भी सकते हैं)। सरकारी स्कूल में जवाबदेही की यह श्रृंखला बहुत कमजोर है। अध्यापकों की नौकरी पक्की होती है और उनकी तनख्वाहों और पदोन्नतियों का इस बात से कोई संबंध नहीं होता कि पढ़ाई के मामले में उनका प्रदर्शन कैसा है। प्राइवेट और सरकारी स्कूलों में जवाबदेही का यह अंतर अधिकांश माँ–बाप खूब समझते हैं।

यह कहकर हम प्राइवेट स्कूलों का समर्थन नहीं कर रहे हैं, जिनकी अपनी समस्याएँ हैं और न ही हम नौकरी की सुरक्षा वाले मुद्दे का विरोध कर रहे हैं जो अनेक देशों में अध्यापन के व्यवसाय की एक विशिष्टता है। हमारा कहना यही है कि अध्यापन के व्यवसाय में किसी न किसी तरह की जवाबदेही का होना इसकी कार्य संस्कृति को सुरक्षित रखने के लिए अनिवार्य है। इस नजरिए से देखें तो जवाबदेही का कोई अध्यापक विरोधी नहीं होना चाहिए। अपने व्यवसाय की एकनिष्ठता बनाए रखना स्वयं अध्यापकों की चिंता होनी चाहिए। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अधिकांश अध्यापकों की राय में ''निरीक्षण'' से लाभ होता है (उनकी शिकायतों पर कोई ध्यान न दिए जाने के बावजूद)। इसका लाभ ''अध्यापकों की उपस्थिति को नियमित व अनुशासित बनाने में नजर आता है।''

संक्षेप में अध्यापन के स्तरों में सुधार दो अनिवार्य स्थितियों पर निर्भर करता है – पहली, अधिक समर्थक कार्य परिवेश और दूसरी अधिक जवाबदेही। केवल जवाबदेही पर जोर देने का अर्थ अध्यापकीय निष्क्रियता के एक बड़े कारण पर ध्यान न देना होगा, जैसे कि मात्र कार्य परिवेश में सुधार से ही अध्यापन स्तरों में सुधार की आशा करना व्यर्थ होगा। ये दोनों ही बिंदु एक दूसरे के अनुपूरक तथा परस्पर शक्ति प्रदान करने वाले हैं।

जवाबदेही कहाँ ?

अध्यापकों की जवाबदेही को सुनिश्चित बनाना कोई आसान काम नहीं है। क्योंकि अध्यापक के प्रदर्शन को मापना कठिन है। उससे प्राप्त होने वाले ''परिणामों'' का कोई निर्धारित मानक नहीं है, हालाँकि स्कूलों में पढ़ाई के दौरान किए जाने वाले निरीक्षणों तथा बच्चों के परीक्षा परिणामों आदि से अध्यापन स्तरों के अच्छे या निम्न होने के कुछ संकेत अवश्य मिल सकते हैं। लेकिन अध्यापकों के कार्य प्रदर्शन (अगर उस पर नजर रखी जाए तो) को पुरस्कर और प्रतिबंध की उचित और प्रभावी व्यवस्था के साथ जोड़ पाने का कोई सहज तरीका नहीं है। ये विशिष्टताएँ केवल अध्यापन पेशे की ही नहीं हैं, हाँ लेकिन वे यहाँ प्रमुख जरूर है।

व्यवहार में होता यह है कि अध्यापकीय जवाबदेही अनेक प्रकार के औपचारिक और अनौचारिक प्रोत्साहनों पर आधारित होती है। यदि इन प्रोत्साहनों को अलग–अलग करके देखा जाए तो अपने आप में वे अधूरे नजर आते हैं लेकिन अगर वे एक साथ रखे जाएँ तो कार्य संस्कृति को सुरक्षित रखने में वे एक बड़ी भूमिका निभा सकते हैं। मिसाल के लिए यदि पदोन्नति के अवसर रहें तो उनसे अध्यापकों को अपना

सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन कर दिखाने की प्रेरणा मिल सकती है। इसी तरह अनुशासन लागू करने की दृष्टि से तबादले जैसे प्रतिरोधी कदमों से स्कूल से अनुपस्थित रहने तथा ऐसे ही दूसरे नकारात्मक क्रियाकलापों पर रोक लगाने में सफलता मिल सकती है। स्कूल के अंदर मुख्याध्यापक का अधिकार अनेक स्तरों पर इसी तरह की भूमिका निभाता है। यह बात मुख्याध्यापक/मुख्याध्यापिका की अपनी प्रतिबद्धता तथा अध्यापकों के साथ उसके संबंधों पर बहुत निर्भर करेगी। साथियों का दबाव स्कूल के अंदर एक अनौपचारिक प्रोत्साहन का रूप ले सकता है। हालाँकि अध्यापक स्वयं कुछ बहुत अधिक जोर नहीं देना चाहेंगे लेकिन दूसरे अध्यापकों को अपनी जिम्मेदारी से भागने से रोकने में उनका अपना हित होता है। (क्योंकि इससे उन पर काम का बोझ बढ़ता है)। दूसरा महत्वपूर्ण प्रोत्साहन अध्यापक/अध्यापिका के मन में ग्रामीण समाज में अपनी प्रतिष्ठा के प्रति सजग रहना है। वैसे यह प्रतिष्ठा प्रभाव इस पर निर्भर करेगा कि अध्यापक ग्रामीण समाज से स्वयं को कितना जोड़कर देखता है तथा माँ–बाप इस बात को कितना समझते हैं कि कक्षा में क्या कुछ हो रहा है। और अंत में जो बात कम महत्वपूर्ण नहीं है वह समाज की जवाबदेही की भी है। अध्यापक–अभिभावक परिषद, गाँव की पंचायत तथा परस्पर क्रिया के अन्य अनौपचारिक माध्यम अध्यापकों और समाज के संबंधों को जवाबदेही के स्तर पर बनाए रखते हैं।

जवाबदेही की इस प्रक्रिया के विवरणों को प्रोब सर्वे के द्वारा भी पहचानना कठिन है। यह एक ऐसा विषय है जिस पर आगे अनुसंधान सबसे अधिक उपयोगी होगा। वैसे जो बात स्पष्ट होकर उभरती है वह यह कि अधिकांश समर्थ प्रोत्साहनों ने अपनी धार खो दी है। इनके कारण हैं प्रबंधन की गैर जिम्मेदारी तथा अध्यापकों की ओर से होने वाला संगठित प्रतिरोध। मिसाल के तौर पर पदोन्नतियों का प्रश्न लें। अधिकांश राज्यों में पदोन्नति का क्रम पूरी तरह वरिष्ठता पर निर्भर करता है। इस प्रकार पदोन्नतियों ने प्रोत्साहन का माध्यम होने की उपयोगिता खो दी है। अध्यापकों के संगठन वरिष्ठता आधारित पदोन्नति व्यवस्था की माँग करते रहे हैं। उनकी इस माँग को इस परिप्रेक्ष्य में देखना होगा कि मनमानी पदोन्नति की प्रणाली किस तरह भ्रष्ट हो जाती है। अध्यापक की पदोन्नति (मान लिया जाए) का आधार उसका कार्य प्रदर्शन होता है तो जो व्यवहार में होता है वह यह कि इसका उपयोग राजनीतिक निष्ठा को पुरस्कृत करने और व्यक्तिगत फायदे की दृष्टि से होता है। यह समझ में आ सकता है कि अध्यापक स्वयं को इस तरह के मनमाने व्यवहार से बचाना चाहते हैं।

एक दूसरा महत्वपूर्ण मुद्दा परीक्षाओं का है। छात्रों का स्तर जाँचने की प्रणाली के रूप में उनकी कमियों के बावजूद स्कूली परीक्षाओं से माँ–बाप को अध्यापकों के प्रदर्शन स्तर के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। मिसाल के तौर पर यदि एक कक्षा के सारे छात्र पाँचवीं की बोर्ड परीक्षा में असफल हो जाएँ तो माँ–बाप यही पूछेंगे कि पढ़ाई सत्र के दौरान अध्यापक कक्षा में क्या कर रहे थे। यह बात अध्यापकों के लिए प्रोत्साहन का काम करती है कि छात्र परीक्षाओं में अच्छे अंक लाएँ। लेकिन आठवीं या दसवीं कक्षाओं तक बच्चों को अपने आप अगली कक्षा में भेजने की प्रक्रिया अनेक राज्यों में व्यवहार में लाई जाती है साथ ही परीक्षाओं के दौरान बड़े स्तर पर नकल भी कराई जाती है।

इसी तरह के विरोधाभासों ने जवाबदेही के अन्य माध्यमों को महत्वहीन कर दिया है। अध्यापकों की जवाबदेही में आए क्षय को रोकने के लिए अन्य बातों के साथ अध्यापक संगठनों और शिक्षा प्रबंधन के बीच इस बात पर परस्पर नए संबंध होने चाहिए कि 'सबके लिए प्रारंभिक शिक्षा' के प्रति दोनों की साझी प्रतिबद्धता हो। दूसरा महत्वपूर्ण कदम अध्यापक–अभिभावक अंतःक्रिया के ढांचे में सुधार लाना है जो स्कूली प्रणाल में जवाबदेही का सबसे सार्थक आधार बनकर उभर सकता है।

अध्यापक और गांव का समाज

पिछले अनुभागों में अध्यापकीय निष्क्रियता के दो कारणों की पहचान हमने की है–उत्साहहीन कर देने वाला कार्य परिवेश और जवाबदेही का न होना। दोनों ही मामलों में अध्यापकों और अभिभावकों (तथा गाँव के समाज में आम तौर पर) के बीच सहकार–सहयोग बहुत बड़ी भूमिका निभा सकता है। इससे आगे बढ़कर कहें तो बच्चों की शिक्षा माता–पिता और अध्यापकों की सम्मिलित जिम्मेदारी ही है क्योंकि एक बच्चा केवल स्कूल में ही नहीं, घर में भी शिक्षा पाता है। यहाँ यह बात महत्वपूर्ण है कि इस दिशा में अध्यापकों तथा अभिभावकों के प्रयास एक दूसरे के पूरक होने चाहिए, विरोधी नहीं।

अभिभावक–अध्यापक संबंधों के स्वरूप

स्कूली प्रणाली की असफलता का दोष अध्यापक और माता–पिता एक दूसरे पर मढ़ते हैं। यह बात तो अध्यापक–अभिभावक संबंधों को अंततः नष्ट ही कर देगी। वैसे, इस संदर्भ में थोड़ी बहुत परस्पर आलोचना स्वाभाविक ही है लेकिन इससे दोनों के बीच व्यावहारिक सहयोग की संभावना समाप्त नहीं हो जाती। वैसे वर्तमान स्थिति को देखते हुए अगर अध्यापक और अभिभावक एक दूसरे की प्रशंसा करते तो अवश्य चिंता होनी चाहिए थी। उनकी अपनी–अपनी मागें स्कूली शिक्षा प्रणाली में सुधार की दिशा में सार्थक भूमिकाएँ निभा सकती हैं। असली समस्या यह नहीं है कि लोग शिकायतें करते हैं बल्कि यह है कि निजी तौर पर महसूस होने वाली शिकायतें रचनात्मक कदमों का रूप नहीं ले पातीं।

अलग–अलग गाँवों में अध्यापक–अभिभावकों के संबंधों का स्वरूप अलग–अलग है। थोड़े ही गाँवों में दोनों के बीच सक्रिय संबंध हैं। उदाहरण के लिए खुर्द (धौलपुर, राज.) में अध्यापक को अपने समय पालन और कर्त्तव्य निष्ठा के लिए गाँव की प्रशंसा मिली है। इससे अलग अध्यापकों और अभिभावकों के बीच तनाव बने रहने के मामले हैं। यह बात बिसारिया (राँची, बिहार) पर लागू होती है जहाँ अभिभावकों को मजबूर होकर एक सेवानिवृत्त अध्यापक को स्थानीय स्कूल में मदद के लिए रखना पड़ा क्योंकि स्कूल का हेडमास्टर छोड़कर चला गया था। ठीक से न चलने वाले स्कूलों में तनातनी का माहौल रहता है, जो अध्यापक–अभिभावक संबंधों में आई टूटन को व्यक्त करता है। अध्यापक–अभिभावक संबंध का एक अन्य रूप (सहयोग और तनातनी के माहौल के बीच) जहाँ अध्यापक एक विशेष वर्ग के साथ अपना संबंध रखते हैं। यह बात उन गाँवों में विशेषकर देखने में आती है जहाँ जाति और वर्ग आधारित विभाजन बहुत तीखे हैं। गुटीय संपर्कों के पीछे अध्यापकों और सरपंच के संबंध भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

वैसे सबसे प्रचलित तो अभिभावकों और अध्यापकों के बीच बहुत मामूली सा आपसी संबंध का होता है। असंतुष्ट अभिभावकों को भी अध्यापक पर प्रभाव डालने का कोई तरीका नहीं दिखाई देता। अध्यापकों की रूचि अभिभावकों के साथ क्रियाशील संबंध रखने में कम ही होती है। या वे इसे अत्यंत सीमित स्तर पर रखना चाहते हैं। हमने जिन मुख्याध्यापकों से बात की उनमें से दो तिहाई का मानना था कि स्कूल के प्रति माता–पिता का रूख ''सहयोग'' का ही होता है। वैसे वे इसका मतलब अभिभावकों से कम सहयोग की आशा रखना ही मानते हैं। जब उनसे इस भाव को स्पष्ट करने को कहा गया तो उन्होंने इसका उदाहरण इस तरह दिया–माँ–बाप अपने बच्चों को नियमित रूप से स्कूल भेजकर सहयोग करते हैं। 30 प्रतिशत से कम ही मुख्याध्यापकों ने यह कहा कि पिछले 12 महीनों में उन्होंने माता–पिताओं से किसी विशेष सहायता की माँग की थी और उस पर उन्हें सार्थक प्रतिक्रिया मिली थी। दोनों ही ओर निष्क्रियता का भाव प्रमुख है।

सहयोग के औपचारिक संगठन

सामूहिक निष्क्रियता की समस्या को हल करने के लिए ही ऐसे औपचारिक संगठन बनाने प्रयास हुए हैं जो अध्यापकों और अभिभावकों के बीच अधिक सक्रिय अंतर्संबंधों को बढ़ावा दे सकें। पी.टी.ए. (शिक्षक–अभिभावक संघ) और ग्रा. शि. स. (ग्राम शिक्षा समिति) इसके दो उदाहरण हैं। लेकिन प्रोब सर्वे का कहना है कि ये दोनों ही संगठन लगभग निष्क्रिय हो चुके हैं। सर्वेक्षित स्कूलों के 20 प्रतिशत से भी कम में पी.टी.ए. थे। और जहाँ वे थे वहाँ भी औपचारिकताएँ पूरी करने से आगे नहीं बढ़े थे। कुछ की बैठकें केवल 15 अगस्त और 26 जनवरी को जलपान तथा संक्षिप्त मेल–मुलाकात के लिए ही हुई थीं। उन्होंने ऐसे अवसरों पर अभिभावकों को स्कूल में नियंत्रित करने की परंपरा का ही पालन किया था।

ग्राम शिक्षा समितियाँ कुछ ही बेहतर कर रही है। एक गाँव के आधे नमूना स्कूलों में कार्यशील ग्रा. शि.स. थी। यहाँ 'कार्यशील'' का अर्थ यह समझना चाहिए कि ग्रा.शि.स. की पिछले 12 महीनों में कम से कम एक बैठक हुई थी। हमने कुछ ही जगह सचमुच सक्रिय ग्रा.शि.स. भी देखीं। जैसे जामनगरी (बैतूल, म. प्र.) में जहाँ ग्राम शिक्षा समिति ने स्थानीय अध्यापकों को साक्षरता सर्वे करने में मदद की थी। कई अन्य गाँवों में भी ग्राम शिक्षा समिति ने कुछ उपयोगी निरीक्षण के कार्य किए थे। कई क्षेत्रों में जहाँ ग्राम शिक्षा समिति को स्कूली शिक्षा प्रणाली में सुधार लाने के व्यापक सुविचारित उद्‌देश्य से स्थापित किया जाता है, जैसे राजस्थान के कुछ भागों में लोक जुंबिश कार्यक्रम, वहाँ वे काम करती दिखाई देती हैं। लेकिन कुल मिला कर ग्राम शिक्षा समितियाँ केवल नाम के लिए ही हैं, जहाँ अध्यापकों और अभिभावकों में से किसी भी पक्ष को उनसे बहुत उम्मीदें नहीं है। पी.टी.ए. की तरह ग्राम शिक्षा समिति की बैठकें भी 26 जनवरी और 15 अगस्त को ही होती है जबकि उनसे यह आशा की जाती है कि वे नियमित रूप से बैठकें करेंगी। उत्साह की कमी का दोषी उन्हें संगठित करने का तरीका है जिसमें श्रेणीबद्ध तरीके का प्रयोग किया जाता है। उन्हें समाज की इच्छाओं के अनुरूप कार्यक्रम बनाने और उन पर चलने के स्थान पर ऊपर से आने वाले सरकारी आदेशों के आधार पर चलाया जाता है। जैसा कि एक अध्यापक ने साफ–साफ कहा – ''ग्राम शिक्षा समिति बोलो, पी.टी.ए, बोलो, जो सरकार का हुक्म है वह हम करते हैं।''

अनौपचारिक अंतःक्रिया

अध्यापक–अभिभावक के बीच सक्रिय अंतर्संबंध का अभाव वर्तमान में स्कूली शिक्षा प्रणाली की गंभीर कमी है। माँ–बाप की उदासीनता इसमें एक बड़ी भूमिका निभाती है जिससे अध्यापक की निष्क्रियता की समस्या और भी गंभीर हो जाती है जिसके बारे में हम पहले विचार कर चुके हैं। माँ–बाप व्यक्तिगत तौर पर बच्चों की शिक्षा में रूचि लेते हैं और उनकी अनेक निजी शिकायतें भी होती हैं लेकिन इन शिकायतों पर सामूहिक रूप से पहल करने की योग्यता कम दिखाई देती है। यद्यपि उनके पास स्वयं को शक्तिहीन मानने के कई कारण हो सकते हैं, लेकिन उनकी सामूहिक शक्ति का भी बहुत कम उपयोग होता है। जिसमें सबकी भागीदारी हो, ऐसी स्कूली शिक्षा प्रणाली के निर्माण के तरीकों की खोज में यह जानना महत्वपूर्ण है कि अध्यापक अभिभावक अंतक्रिया इसका एक आवश्यक अंग है। पी.टी.ए और ग्रा.शि.स. जैसे संस्थान महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं और इनमें से कुछ संस्थानों को प्रयासपूर्वक अच्छा रूप दिया जा सकता है जैसा अनेक क्षेत्रों में हुआ भी है। लेकिन अध्यापक–अभिभावक संबंधों के इन औपचारिक संगठनों के दायरे से बाहर भी बहुत कुछ हो सकता है। जिन क्षेत्रों में स्कूल सुव्यवस्थित ढंग से चलते हैं वहाँ अध्यापक–अभिभावकों के बीच अनौपचारिक अंतर्संबंध भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। एक अभिभावक और अध्यापक की आपस में आमने–सामने बातचीत इस प्रक्रिया का एक अच्छा उदाहरण है (कुछ शहरी स्कूलों में स्कूल के कार्यक्रम में इसके लिए स्पष्ट रूप से समय रखा जाता है)। जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है अगर किसी अध्यापक/अध्यापिका को ग्रामीण समाज के बीच अपनी प्रतिष्ठा की चिंता होती है तो माँ–बाप से व्यक्तिगत तौर पर मिले बिना भी वह उनके विचारों के प्रति संवेदनशील रह सकते हैं। प्रोब सर्वे में बताए गए अध्यापक अभिभावकों के बीच अनौपचारिक अंतर्क्रिया के अन्य उदाहरण हैं – कक्षाओं के लिए अतिरिक्त कमरे बनाने के लिए अभिभावकों की ओर से स्वतःस्फूर्त पहलकदमी या स्कूल के लिए धन जमा करना, राजनेताओं के माध्यम से अप्रत्यक्ष अंतर्क्रिया, महिला मंडल के प्रस्ताव, सरकारी कार्यालयों को दिए जाने वाले प्रतिवेदन और शिकायती पत्र, प्रतिद्वंदी प्राइवेट स्कूलों की स्थापना या फिर बच्चों द्वारा आकस्मिक हड़ताल करना जैसे कदम।

इसलिए एजेंडा सिर्फ ग्रा.शि.स., पी.टी.ए या पंचायतों को सक्रिय बनाना ही नहीं है। वैसे इस दिशा में काफी कुछ किया जा सकता है, असली चुनौती है शिक्षा के मसलों पर अधिकाधिक सामाजिक भागीदारी सुनिश्चित बनाना और इसके लिए समस्त उपलब्ध माध्यमों का उपयोग करना। सहभागिता की इस प्रक्रिया में सरकार सहयोग दे सकती है लेकिन यह अकेले उसी की जिम्मेदारी नहीं है। यह एक अपील है – जन संगठनों के लिए ओर आम जनता के लिए इस आशा के साथ कि बच्चों की शिक्षा के मामले में वे ज्यादा से ज्यादा सम्मिलित हों।

❁❁❁❄❁❁❁